तौ समेतौ महावीर्यौ कालमृत्युसमावुभौ ॥ ५८

श्रूयते ह्येष हृष्टानां पाण्डवानां महास्वनः ।
हस्तिनश्चैव सुमहान्भीतस्य रुवतो ध्वनिः ॥ ५९

तत्र गच्छाम भद्रं वो राजानं परिरक्षितुम् ।
अरक्ष्यमाणः समरे क्षिप्रं प्राणान्विमोक्ष्यते ॥ ६०

ते त्वरध्वं महावीर्याः किं चिरेण प्रयामहे ।
महान्हि वर्तते रौद्रः संग्रामो लोमहर्षणः ॥ ६१

भक्तश्च कुलपुत्रश्च शूरश्च पृतनापतिः ।
युक्तं तस्य परित्राणं कर्तुमस्माभिरच्युताः ॥ ६२

भीष्मस्य तद्वचः श्रुत्वा भारद्वाजपुरो
सहिताः सर्वराजानो भगदत्तपरीप्सः
उत्तमं जवमास्थाय प्रययुर्यत्र सोऽभ
तान्प्रयातान्समालोक्य युधिष्ठिरपुरो
पाञ्चालाः पाण्डवैः सार्धं पृष्ठतोऽनुय
तान्यनीकान्यथालोक्य राक्षसेन्द्रः
ननाद सुमहानादं विस्फोटमशनेरि
तस्य तं निनदं श्रुत्वा दृष्ट्वा नागांश्च
भीष्मः शांतनवो भूयो भारद्वाजम

---

58 D_8 missing —^{a}) D_1 राक्षसः स. K_2 $B_{1\ 4}$ Dn_2 $D_{4.6-8}$ G_1 M_2 महाकायः; M_4 महेष्वासः. —^{b}) G_8 माया° (for राजा°) —^{c}) K_4 B D (except $D_{1\ 2\ 6}$, D_8 missing) S ध्रुवं (B_8 एवं; S एतौ) समेतौ समरे. —^{d}) K_0 Da Dn_1 कालमृत्यू समा°; T_2 G_{1-8} M °त्यूप($M_{1\ 8}$ °त्युप)मावुभौ.

59 D_8 missing —^{a}) D_1 च सु (for ह्येष) D_7 घुष्टानां (for हृष्टानां) S एष श्रूयति (T_1 G_4 °षो श्रूयत) हृष्टानां —^{b}) D_2 महास्वनं — D_2 om. 59^{cd} —^{c}) G_{1-8} चैष (for चैव) —^{d}) K_8 $D_{5\ 6}$ S भीमस्य (for भीतस्य) K_{0-8} D_6 श्रूयते; K_4 B Da Dn $D_{1.4.5\ 7\ 8}$ रुदित-; S नदतो; M_8 (*inf lin*) रवतो (for रुवतो).

60 D_8 missing —^{a}) K_8 B_1 D_8 तत्र (K_8 °त्रा) गच्छाव; S गच्छामस्तत्र D_5 नो (for वो). —^{b}) $Ś_1$ (by corr) पर-; D_1 अभि- (for परि-). —^{c}) $Ś_1$ K_1 Da_1 अरक्ष°; G_2 अमृष्य° —^{d}) K_2 विमोक्षते; K_4 B Da Dn $D_{1\ 4\ 5.7\ 8}$ T G M_4 विमोक्ष्य(Da_1 Dn_1 °क्ष)ति; $D_{2.6}$ (*sup lin* as in text) °क्ष्यसे

61 D_8 missing. —^{a}) K_0 ते तरध्वं; K_2 Da_1 Dn_1 तत्तरध्वं; K_4 $B_{1.2.4}$ Da_2 $D_{4\ 5\ 7\ 8}$ तत्त्वरध्वं; B_3 तं रक्षध्वं. K_8 D_6 महावेगाः, T_2 °वीर्यं —^{b}) K_4 B Da Dn $D_{4.5\ 7.8}$ T G $M_{1\ 2\ 8}$ (*sup lin* as in text). 4 मा चि($B_{1\ 2\ 4}$ किं चि-, T_2 मा ह)रं कुरुतानघाः. — D_2 om. 61^{c}–62^{d} —^{c}) Da D_5 सुमहान् (for महान्हि) $Ś_1$ हि वर्तंतो; K_{0-2} विवर्तते —^{d}) K_4 S रोम° (for लोम°)

: missing. D_2 om 62 (cf v.1 61)
1 2 अनुरक्तश्च भक्तश्च युक्तश्च पृतनापतिः —^{c})
B_8 युक्तस् $M_{1.2}$ अस्य (for तस्य
B_1 D_6 अच्युत ($K_{0\ 2}$ °तः); B_3 आदृते; Da_2 आदृतैः; D_5 आवृतै; in text) उद्यतैः, M ऊर्जिता.

63 D_8 missing —^{a}) Da श्रुत्वा; $M_{1\ 2}$ भीष्मस्य वचनं श्रुत्वा (except $M_{3.5}$) सर्वं एव महारथाः — Dn_1 om (hapl) 63^{c}–64^{b} $M_{8\ 5}$ संयुक्ताः (for सहिताः) D_1 भीष्मौ पुरस्कृत्य —^{d}) T_2 °परीक्षया (for जवम्)

64 D_8 missing up to ष्ठि in 6 Dn_1 om 64^{ab} (cf v 1. 63) — — D_6 om (hapl.) 64^{b}–65^{a} — पंचालाः, K_2 पांचालः D_1 पांचालाः $Ś_1$ [ऽ]नुययौ, K_0 [ऽ]न्वययुः K D_8 पुरान्.

65 D_6 om. 65^{a} (cf. v 1 64) 65^{ab} —^{a}) D_8 °वेक्ष्य (for °लो राक्षस परवीरहा —^{c}) $K_{0\ 2}$ Da_2 M_4 ननाद नादं सुमहान्. —^{d}) K_8 अशनिर्; D_6 अवनेर् K_4 B Da यानो नभस्तलं; T_2 कंपयन्निव मेदिनी; as in text). 5 इंद्राशनिसमप्रभं

66 T_2 om. 66^{ab} —^{a}) K_0-Da Dn $D_{4\ 5\ 8}$ तस्यापि (for तस्य नागैश्च; T_1 G नागं च D_6 युध्यतां भीष्म-. S राजन् (for भूयो)

॥ ॐ श्रीपंचपरमेष्ठिभ्यो नमः ॥

विधिप्रपा-आचारदिनकर-प्रवचनसारोद्धार-आवश्यकबृहद्वृत्ति तथा साधुविधिप्रकाश आदिसे संगृहीत
संविज्ञ साधु-साध्वी योग्य 'आवश्यकीय-विचार-संग्रह' सहित

आवश्यकीय-विधि-संग्रह

संयोजक—

श्रीखरतरगच्छगगनांगणनभोमणि श्रीमन्मोहनमुनीश्वरांतेवासि श्रीमद्राजमुनिजी महाराजके शिष्यरत्न श्रीलब्धिमुनिजी महाराज तथा अनुयोगाचार्य पंन्यासप्रवर-श्रीमत्केशरमुनिजी गणिवरके सुशिष्य मुनिश्रीबुद्धिसागरजी महाराज.

मुद्रक और प्रकाशक—

श्री हिन्दी जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय जैन प्रेस, कोटा (राजपूताना).

वीरसंवत् २४६२. अमूल्य भेट. विक्रम संवत् १९९३.

प्रस्तावना—

इस संग्रहका संयोजन विक्रम संवत् १९८२ में हुआ था, परम पूज्य महोपाध्यायजी श्रीमत्क्षमाकल्याणजी गणि कृत 'साधुविधिप्रकाश' की तमाम विधियां इस संग्रहमें संगृहीतहैं, केवल 'साधुविधिप्रकाश' में वांदणे देनेका विचार, षाण्मासिक तपश्चिंतन-विचार आदि विशेष बातें विधिके साथही बतादी गईहैं, हमने उन विशेष बातोंको टिप्पनीमें या 'विचारसंग्रह' रूप जुदे विभागमें रखदी हैं, जिससे आधुनिक जमानेके लोगोंको विधि जाननेमें सुभिता रहे।

'साधुविधिप्रकाश' में केवल रातदिन काम में आनेवाली विधियां ही हैं, अतः लोचाविधि, सज्झाय निक्षेप तथा उत्क्षेप विधि आदि बारहों मास काममें आनेवाली कितनीक आवश्यकीय विधियां परम शासन प्रभावक खरतरगच्छ गगनांगण नभोमणि आचार्यवर्य श्रीजिनप्रभसूरिजी महाराज कृत 'विधिप्रपा' तथा श्रीमद्वर्द्धमानसूरिजी महाराज कृत 'आचारदिनकर' के आधार पर एवं दृश्यमान प्रणालिका अनुसार संगृहीत की गई हैं,

सबके अंतमें बारह व्रत तथा सर्व तपस्या उच्चरानेकी और पारणेकी विधि जो रखी गई है वह साक्षररत्न परम पूज्य मुनिवर्य श्रीमल्लब्धिमुनिजी महाराज ने संगृहीत करी है।

इस संग्रहमें से 'साधु साध्वियोंकी अंतिम आराधना विधि तथा अंतक्रिया विधि' करीब ३ वर्ष पहले प्रकाशित होचुकी थी और महोपाध्यायजी श्रीसुमतिसागरजी महाराज के उपदेश से 'हिंदी जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय' की तरफ से शेष बचे हुवे संपूर्ण संग्रहको अब प्रकाशित किया है यह उनका प्रयास बहुत ही प्रशसंनीय है अतः मैं उनको पुनः पुनः धन्यवाद देताहूं ।

अंतमें मेरी मतिमन्दता या बुद्धि विपर्यासके कारण कुछ भी विधि विपरीत लिखा गया हो अथवा प्रेसकी गफलतसे कोइ भूल रही हो उसके लिए विधिशास्त्रज्ञोंसे सुधारके पढनेकी प्रार्थना पूर्वक मैं मिथ्यादुष्कृत देता हुआ विरमता हूं ।

इस ग्रन्थ की विषयानुक्रमणिका ग्रन्थ के अन्त में दी गई है वहां से पढलेना ।

वि० सं० १९९३, श्रावण शु० ३. पायधुनि,
श्रीमहावीर स्वामी का मंदिर-उपाश्रय, मुंबई.

लि० अनुयोगाचार्य पंन्यास प्रवर श्रीमत्केशरमुनिजी गणि शरण किंकर
मुनि—बुद्धिसागर.

श्री हिन्दी जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय जैन प्रेस कोटा का

उद्देश

१—पन्द्रह हजार रुपये सहायता फण्ड में इकट्ठे करके सरल और सुन्दर हिन्दी भाषा में सूत्रों को तथा विशेष उपयोगी ग्रन्थों को प्रकाशित करवाकर हिन्दी भाषी साधु साध्वी ज्ञानभण्डार पुस्तकालय तथा श्री संघ को अल्प मूल्य में या बिल्कुल अमूल्य भेट स्वरूप देने के लिये भगवान् की वाणी का प्रचार करना।

२—दो चार लाख की या मासिक अच्छी आमदनी की बड़ी योजना करके उसके द्वारा हिंदी अंग्रेजी आदि भाषाओं में जैन सिद्धांतों के तत्त्व ज्ञान की तथा तमाम जैन उपदेशकों के सार गर्भित मर्मग्राही भाषणों की छोटी छोटी हज़ारों की संख्या में पुस्तकें प्रकाशित करवाकर भारत वर्ष के तमाम धर्मों की पब्लिक संस्थाओं में और विद्वान् समाज में उनका प्रचार करना जिससे जैनधर्म का प्रचार हो और लाखों जीवों को अभयदान मिले।

३—प्रेस की बचत ज्ञान प्रचार, स्वधर्मियों को सहायता और जीवदया आदि परोपकार में खर्च होगा। इसलिये सर्व संघ से प्रार्थना है कि—अपनी २ छपाई का काम यहां पर भेजने की कृपा करें।

श्री हिन्दी जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय,
जैन प्रेस, कोटा (राजपूताना)

॥ ॐ अर्हन्नमः ॥

श्रीखरतरगच्छनभोमणि-परमगुरु-श्रीमोहनमुनीश्वर-श्रीजिनयशःसूरि-श्रीकेशरमुनिपदपंकजेभ्यो नमः

विधिप्रपा आचारदिनकर तथा साधुविधि प्रकाशसे संग्रहीत-संवेगपाक्षिक सुविहित

साधु साध्विओंके करने योग्य—

आवश्यकीय-विधि-संग्रहः

१—राइय-पडिक्कमण विधिः—

स्थापनाचार्य अथवा गुरुके सामने खमासमण० देकर इरियावही (१) पडिक्कमे, एक लोगस्सका काउस्सग्ग करे, पार कर प्रगट लोगस्स कहे, खमा० (२) देकर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! कुसुमिण दुस्सुमिण

---

(१) जहां जहां इरियावही पडिक्कमने का होवे वहां वहां सर्वत्र १ लोगस्सका काउस्सग्ग तथा णमो अरिहंताणं कह कर पार कर प्रगट लोगस्स कहने तक समझना। (२) जहां जहां 'खमा' के आगे बिंदी होवे? वहां वहां पूरा खमासमणा समझना।

ओहडावणियं–राइय पायच्छित्त विसोहणऽत्थं काउस्सग्ग करूं ?, इच्छं कुसुमिण दुस्सुमिण ओहडावणियं राइय पायच्छित्त विसोहणऽत्थं करेमि काउस्सग्गं ' अन्नत्थ उस्ससिएणं० कह कर " सागरवर गंभीरा " तक चार लोगस्सका काउस्सग्ग करे, पार कर प्रगट लोगस्स कहे, खमा० देकर ' इच्छा० संदि० भगवन्! चैत्यवंदन करूं ? इच्छं ' कह कर " जयउ सामिय जयउ सामिय " इत्यादि चैत्यवंदन कहे, और जं किंचि० नमुत्थुणं० जावंति चेइयाइं० जावंत केवि साहू० नमोऽर्हत्० उवसग्गहरं० तथा जय वीयराय० कहे. बाद खमा० 'इच्छा० संदि० भग० ! सज्झाय संदिसाउं ?' इच्छं इच्छामि खमासमणो० 'इच्छा० संदि० भग० ! सज्झाय करूं ?, इच्छं' कह कर एक नवकार० धम्मो मंगलकी पांच गाथा और ऊपर एक नवकार कहे, बाद "अणुजाणह (१) इच्छकार सुहराइ०" कहकर(२) चार खमा० देवे, पहला खमा० देकर कहे–आचार्य मिश्रं, दूसरा खमा० देकर कहे–उपाध्याय-

(१) श्रीजिनपतिसूरिजीने अपनी समाचारीमें लिखा है कि–पडिक्कमणेमें तो केवल गुरुही "इच्छकार सुहराइ" कहे, अन्य साधु गुरुको वंदना करते हुए कहे। (२) इतने तक कर लेने बाद यदि पडिक्कमणेकी वेला न हुई होवे तो अरिहंतादिका स्मरण करता हुआ धर्म ध्यानमें वर्ते, पढे हुए पाठको मनमें संभाले, जब वेला होजावे तब आगे लिखे मुजब चार खमा० देकर पडिक्कमणा ठावे। दो

मिश्रं, तीसरा खमा० देकर कहे—वर्तमान गुरून्, चौथा खमा० देकर कहे—सर्व साधून्। बाद हाथ जोड कर मुख आगे मुहपत्ति रख कर शिर नमा कर "सव्वस्स वि राइय०" (१) कहे, बाद डावा गोडा ऊँचा करके नमुत्थुणं० कहे, बाद चारित्राचारकी शुद्धिके लिये करेमि भंते०! इच्छामि ठामि काउस्सग्गं० तस्स उत्तरि० अन्नत्थ उस्ससिएणं० कह कर एक लोगस्सका काउसग्ग करे, पार कर दर्शनाचारकी शुद्धिके वास्ते प्रगट लोगस्स० सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं० तथा अन्नत्थ उस्ससिएणं० कह कर फिर एक लोगस्सका काउस्सग्ग करे, पार कर ज्ञानाचारकी शुद्धिके वास्ते पुक्खवरदीवड्ढे० सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं० वंदणवत्तिआए० अन्नत्थ० कह कर काउ० करे, उसमें "सयणासणऽन्नपाणे, चेइ जइ सिज्ज काय उच्चारे. समिइ भावणा गुत्ति, वितहायऽऽरणे य अइयारो ॥१॥" इस गाथाको अर्थ सहित १ वार अथवा मूल ३ वार विचारे या ८ नवकार गिणे पार कर सिद्धाणं बुद्धाणं० कह कर संडासे (२) पूंजते हुए बैठ कर तीसरे आवश्यककी मुहपत्ति पडिलेहे और दो वार वांदणे देवे (३)।

घडी रात बाकी रहे तब राइय पडिक्कमणेकी वेला होती है। (१) 'इच्छा० संदि० भग० राइयपडिक्कमणे ठाउं? इच्छं' ऐसा कह कर डावे हाथसे मुखके आगे मुहपत्ति रखे और जीमणा हाथ ओघे ऊपर स्थापन कर "सवस्स वि" कहनेकी आजकल प्रवृत्ति है। (२) संडासे पूंजनेका वृत्तांत जाननेके लिये इसी पुस्तकके पीछे नंबर १० 'संडाशक प्रमार्जन विचार' देखो। (३) वांदणे देनेकी रीति जाननेके लिये

बाद खडे होकर कहे—'इच्छा० संदि० भग०! राइयं आलोउं?' गुरु कहे—'आलोएह' बाद 'इच्छं' आलोएमि जो मे राइओ० तथा संथारा उद्दणकी० कह कर "सव्वस्स वि राइय दुच्चिंतिय दुब्भासिय दुच्चिट्ठिय इच्छाकारेण संदिसह भग०!" इतने तक कहकर थोडासा ठहर जाय, जब कि 'पडिक्कमेह' ऐसा गुरु कह देवे, बाद शिष्य—"इच्छं तस्स मिच्छामि दुक्कडं" कह कर बैठ कर जीमणा गोडा ऊँचा करके जोडे हुए दोनों हाथोंसे ओघा तथा मुहपत्ति मुखके आगे रख कर कहे 'भगवन्! सूत्र कड्ढुं?' गुरु कहे—'कड्ढेह'। बाद १-१ अथवा ३-३ नवकार तथा करेमि भंते०! कह कर "चत्तारि मंगलं" इत्यादि तीनों आलावे और "इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे राइओ०" तथा "इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए०" कह कर पगामसिज्जाए० कहे, "तस्स धम्मस्स केवली पन्नत्तस्स" कहते हुए खडे होजाय "वंदामि जिणे चउव्वीस्सं" तक संपूर्ण कह कर दो वांदणे देवे और गुरुको अब्भुट्ठियो (१) खमावे, बाद दो वांदणे देकर श्रावक

नम्बर २ 'वांदणे देनेका विचार' देखो। (१) खडा हुआ आधा नमकर "इच्छा० संदि० भग०! अब्भुट्ठिओमि अब्भितर राइयं खामेउं?" इतना कहे बाद गुरु कहे 'खामेह' बादमें "इच्छं खामेमि राइयं" ऐसे कहते हुए संडासे पूंजके गोडों ऊपर बैठकर जीमणी तरफ खोले में ओघा रखे और डावे हाथ से मुखके आगे मुहपत्ति लगा कर जीमणा हाथ गुरुके चरणोंके लगावे, बाद "जं किंचि अपत्तियं" यहां से लगा कर "मिच्छामि दुक्कडं" तक संपूर्ण पाठ कहे।

साथमें हो ? तो "आयरिय उवज्झाय०" कह कर करेमि भंते०! इच्छामि ठामि० तस्स उत्तरि० अन्नत्थ उस्ससिएणं० कह कर तप चिंतवणी काउस्सग्ग करे, काउस्सग्गमें छम्मासी (१) तपका चिंतवन करे जो भगवान् श्रीमहावीर स्वामी ने छद्मस्थ (२) अवस्था में कियाथा, यदि तप चिंतवन नहीं आता हो ? तो ६ लोगस्स गिणे, पार कर प्रगट लोगस्स कह कर छठे आवश्यककी मुहपात्ति पडिलेहे और दो वांदणे देकर डावा गोडा ऊँचा करके "सद्भक्त्या देवलोके" इत्यादि अथवा "सकल तीर्थ वंदुं कर जोड" इत्यादि तीर्थ नमस्कार कहे, बाद 'इच्छकारी भग०! पसायकरी पच्चक्खाण करावो जी' ऐसा कह कर मनमें धारा हुआ पच्चक्खाण गुरु मुखसे करे, बाद, (३) 'इच्छामो अणुसट्ठिं नमो खमासमणाणं नमोऽर्हत्०' (४) कह कर "परसमय तिमिर तरणिं" (५) की तीन गाथा कहे और नमुत्थुणं० कह कर आगे लिखे मुजब चार थुइसे देववंदन करे—

---

(१) छम्मासी तप चिंतवन के लिये नंबर ३ 'छम्मासी तप चिंतवन विचार' देखो। (२) दीक्षा लिये बाद जब तक केवल ज्ञान नहीं होवे तब तक छद्मस्थ अवस्था कहाती है। (३) पहले गुरु बोल जाय बाद सब जणे बोले। (४) साध्विओं को नमोऽर्हत् किसी जगह नहीं कहना चाहिये। (५) इसकी एक गाथा पहले गुरु बोल देवे बाद सब जणे तीनों गाथा कहें।

खडे होकर अरिहंत चेइयाणं० अन्नत्थ उस्ससिएणं० कह कर १ नवकारका काउस्सग्ग करे, पार कर नमोऽर्हत्० कह कर पहली थुइ कहे, बाद् लोगस्स० सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं० अन्नत्थ० कह कर १ नवकारका काउसग्ग करे, पार कर दूसरी थुइ कहे, बाद् पुक्खर वर दीवड्ढे० सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं० वंदण वत्ति-आए० अन्नत्थ० कह कर १ नवकारका काउस्सग्ग करे, पार कर तीसरी थुइ कहे, बाद् सिद्धाणं बुद्धाणं० वेयाव-च्चगराणं० अन्नत्थ० कहकर १ नवकारका काउस्सग्ग करे, पार कर नमोऽर्हत्० कह कर चौथी थुइ कहे, बाद् बैठ कर नमुत्थुणं० कह कर पांच खमासमणे देवे—पहला खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! बहुवेल संदिसाउं ?*, इच्छं' दूसरा खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! बहुवेल करूं ?, इच्छं' तीसरा खमा० देकर 'आचार्य मिश्रं' चौथा खमा० देकर 'उपाध्याय मिश्रं' पांचवां खमा० देकर 'सर्व साधून्' इस तरहसे कहे।

॥ इति राइय पडिक्कमण विधिः ॥

---

* करने लायक स्वाध्याय (सज्झाय) ध्यान आदि कृत्य भी साधुओंको आचार्य (गुरु) की आज्ञासे करने कल्पते हैं, बिना आज्ञा नहीं, इस वास्ते छोटे कृत्योंकी एक साथ ही आज्ञा लेनेके लिये साधु लोग बहुवले करते हैं (पंचवस्तुक गाथा ५५८ पृ० ९१)

बाद उत्तर दिशा या ईशान कोणके सामने मुख करके खमा० देकर कहे—'इच्छा० संदि० भग० ! चैत्यवंदन करूं ?, इच्छं' कह कर श्रीसीमंधर स्वामीका चैत्यवंदन कहे नमुत्थुणं० कहते हुए "ठाणं संपत्ताणं" की जगह "ठाणं संपाविय कामस्स नमो जिणाणं० नमोऽर्हत्" कह कर श्रीसीमंधर स्वामी का स्तवन कहे, बाद जय वीयराय० अरिहंत चेइयाणं० अन्नत्थ० कह कर एक नवकारका काउस्सग्ग करे, पार कर नमोऽर्हत्० कह कर सीमंधर स्वामीकी १ थुइ कहे। इतना करलेनेके बाद भी यदि पडिलेहणका वख्त न हुआ हो ? तो सिद्धाचलजीका चैत्यवंदन कह कर "जं किंचि नाम तित्थं० नमुत्थुणं० जावंति चेइयाइं० जावंत केवि साहू० नमोऽर्हत्०" कह कर सिद्धाचलजीका स्तवन कहे, बाद जय वीयराय० अरिहंत चेइयाणं० अन्नत्थ० कह कर एक नवकारका काउस्सग्ग करे, पार कर नमोऽर्हत्० कह कर सिद्धाचलजीकी एक थुइ कहे। इन दोनों चैत्यवंदनोंके करने का नियम नहीं है, यदि समय हो ? तो कर लेवे और समय न हो ? तो नहीं भी करें।

२—प्रातः (१) पडिलेहण विधिः—

स्थापनाचार्यजी खोल कर इरियावही पडिक्कमे, खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! पडिलेहण संदिसाउं? इच्छं' इच्छामि खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! पडिलेहण करूं? इच्छं' कहकर मुहपत्ति पडिलेहे, बाद मुखपर मुहपत्ति अथवा कपडेका पल्ला लागा कर ओघा खोले, पहले पाठा, पीछ दशियां २५-२५ बोल से ❀ पडिलेह कर १० बोल बोलते हुए दशियोंसे दंडीको पडिलेहे, बाद सूतकी निषद्या (निशीथिया) तथा उनकी निषद्या (ओघारिया) २५-२५ बोलसे पडिलेहे उसके बाद डोरा चोवडा करके १० बोल बोलते हुए ओघेकी दशियोंसे पडिलेह कर कानमें रखे. और खडे गोडोंसे बैठ कर ओघा बांद लेवे। बाद खमा० देकर

---

[१] सूर्य उदय होनेके पहले झोली-पडले आदि गोचरीके उपकरणोंको छोड कर ओढने बिछानेके कपडे तथा दंडा आदि सब उपकरणोंकी पाडिलेहण कर चुके. और काजा लेते समय सूर्य उदय होजाय. वैसे अवसरमें पडिलेहण शुरू करना चाहिये, ऐसा 'प्रवचन सारोद्धार' टीका (पत्र १६६) मे लिखा है। * हरएक उपकरण पडिलेहनेमें जहां २५ बोल लिखे होवे वहां "सूत्र अर्थ" से लगाके "काय दंड परिहरूँ" तक और जहां १० बोल लिखे होवे वहां पर "सूत्र अर्थ" से लेकर "सुधर्म आदरूं" तक, तथा जहां १३ बोल लिखे हो वहां पर "सूत्र अर्थ" से लेकर "कुधर्म परिहरूँ" तक, मुहपत्ति पडिलेहण के २५ बोलोंमें से सब जगह यथोचित समझलेना।

'इच्छा० संदि० भग० ! (१) अंगपडिलेहण सांदिसाउं ?' इच्छं इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि० भग० ! अंग-पडिलेहण करूं ?, इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेहे, बाद कंदोरा हो ? तो खोल कर चोवडा करके १० बोलसे पडिलेह कर कानमें रखे. और चोलपट्टा पडिलेह कर पहर कर कंदोरा बांध लेवे। बाद गुरु अथवा अन्य कोईभी साधु खमा० देकर 'इच्छकारी भगवन् ! पसाय करी पडिलेहणा पडिलेहावोजी' कह कर गोडों ऊपर बैठ कर कंबली पडिलेहे और पूंज कर जमीन ऊपर रखे, उस पर आगे लिखे मुजब स्थापनाचार्यजीकी पडिलेहण करे—

स्थापमाचार्यजी खोल कर उनके ऊपर ढांकनेकी मुहपत्ति पडिलेह कर जीमणे हाथमें रखे और डावे हाथमें स्थापनाचार्यजी लेकर १३ बोलसे (२) पडिलेह कर कंबल पर रखे, बाद समेटी हुई नीचली दो मुहपत्तियां तथा विछाई हुई सूतकी और ऊनकी मुहपत्तियां (३) पडिलेहे, बाद नीचे ऊनी और ऊपर सूतु मुहपत्ति विछावे, उसमें समेटी हुई दो मुहपत्तियां रख कर ऊपर स्थापनाजी रखे, उनके ऊपर समेटी हुई तीसरी मुहपत्ति

---

(१) अंग शब्दका अर्थ-शरीर पर रहे हुए चोलपट्टा कंदोरा समझना, पांगरणी आदि नहीं। (२) "शुद्ध स्वरूप धारक १ ज्ञान २ दर्शन ३ चारित्र ४ सहित, सद्दहणा शुद्धि ५ प्ररूपणा शुद्धि ६ दर्शन शुद्धि ७ सहित; पांच आचार पाले ८ पलावे ९ अनुमोदे १० मनो गुप्ति ११ वचन गुप्ति १२ काय गुप्ति १३ आदरे" ये १३ बोल स्थापनाचार्य पडिलेहनेके हैं। (३) २५-२५-बोल से।

ढांक कर सूतु तथा ऊनी मुहपत्तिसे बांध देवे और झोलीमें रख कर ठवणी ऊपर रख देवे, बादमें शेष रहे अन्य साधु खमा० देकर कहें 'इच्छकारी भगवन्! पसाय करी पडिलेहणा पडिलेहवोजी'।

बाद सब साधु एक खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग०! मुहपत्ति पडिलेहुं?' इच्छं इच्छामि खमा० देके मुहपत्ति पडिलेहें, खमा० देकर 'इच्छा०संदि० भग! ओहिपडिलेहण संदिसाउं?' इच्छं इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि० भग०! ओहिपडिलेहण करूं?, इच्छं' कह कर खडे पगोंसे बैठ कर गुरु तथा अपने बडे साधुओंकी शेष उपाधि पडिलेह क़र अपनी तमाम उपाधि पडिलेहे, उनमें पहले कंबल बाद अनुक्रमसे चद्दर–पांगरणी–उत्तरपट्टा–संथारिया–आसन आदि कपडे तथा पाट वगेरह २५-२५ बोलसे. दंडा तथा दंडासण १०-१० बोलसे पडिलेहे बाद एक साधु उपाश्रयमें काजा निकाल कर एक जगह इकट्ठा कर उसको जुदा जुदा करके अच्छी-तरह देख लेवे, यदि जूं वगेरह कोई जीव हो? तो लेकर एकांत किसी वस्त्रादिकमें रख देवे, बाद काजा सूपडी-में लेकर एकांत भूमिमें "अणुजाणह जस्स गो" कह कर छूटा छूटा परठ कर "वोसिरे ३" कहे, बाद उपाश्रय के आस पास सौ सौ (१००) हाथ भूमिमें वसति संशोधन करे, यानी भूमिको नजरसे देखे, यदि कोई

हड्डी या कलेवर आदि देखनेमें आवे तो उनको दूर करा कर 'निसीहि ३ मत्थएण वंदामि, भगवन्! सुद्धा वसहि' कहता हुआ उपाश्रयमें आवे।

बाद स्थापनाचार्य के आगे इरियावही पडिक्कमे, जो काजा परठने तथा वसति संशोधन करनेको गया हो? वह खमा० देकर कहे—'इच्छा० संदि० भग०! वसति पवेउं?' गुरु कहे 'पवेयह' इच्छं इच्छामि खमा० देकर कहे—'भगवन्! सुद्धावसहि' गुरु कहे 'तहत्ति' बाद खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग०! सज्झाय संदिसाउं!' इच्छं इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि० भग०! सज्झाय करूं?' इच्छं, कह कर १ नवकार तथा धमो मंगलकी १७ गाथा और ऊपर १ नवकार कहे, खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग०! उपयोग संदिसाउं?' इच्छं इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि० भग०! उपयोग करूं?' इच्छं इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि० भग० उपयोग करण निमित्तं काउस्सग्ग करूं?' खडे होकर 'इच्छं उपयोग करण निमित्तं करोमि काउस्सग्गं अन्नथ० कह कर एक नवकारका काउस्सग्ग करे, पार कर प्रगट नवकार गिणे।

बाद गुरुके आगे आधा नमकर हाथ जोड कर शिष्य कहे—'इच्छा० संदिसह भगवन्?' गुरु कहे—'लाभ'

शिष्य कहे—'कहं लेसहं' गुरु कहे—'जह गहियं पुव्व साहुहिं' शिष्य कहे—'इच्छं आवस्सियाए' गुरु कहे—'जस्स य जोगो' शिष्य कहे—'सिज्जातर ?' गुरु कहे—'अमुकका घर'। यानी जिसका घर सिज्जातर (१) किया हो ? उसका नाम कहे, बादमें गुरुको अभ्युत्थान वंदना तथा आचार्यादि पदस्थको द्वादशावर्त्त वंदना करे—

३—अभ्युत्थान गुरु वंदना विधिः।

दो खमा० देकर "इच्छकार सुहराइ" कहे, खमा० देकर अब्भुट्ठिया खमावे, फिर खमा० देकर 'इच्छकारी भगवन्! पसाय करी पच्चक्खाणनी आस' कह कर पच्चक्खाण करे, बाद खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग०! बहुवेल संदिसाउं ?, इच्छं इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि० भग०! बहुवेल करूं ?, इच्छं' कह कर फिर खमा० देवे। अपनेसे बडे साधुओंको इसी विधिसे वंदना करनी, केवल पच्चक्खाण तथा पिछले तीन खमा० देकर दो आदेश मांगना. यह न करे, क्योंकि जो सबसे बडे (मोटे) हो ? उनके पास

(१) सिज्जातर किसको कहते हैं? और उसके घरसे कितनी देर बाद कितनी देर तक क्या क्या चीज न लेना? इसकी हकीकत जाननेके वास्ते नम्बर ४ "सिज्जातर विचार" देखो।

ही पच्चक्खाण आदि किया जाताहै।

४—चैत्यवंदन-विधिः—

'निसिही ३' कहते हुए मंदिरमें जातेही भगवान्‌को नमस्कार करके तीन प्रदक्षिणा देवे, इरियावही पडिक्कमके तीन खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! चैत्यवंदन करूं ?; इच्छं' कहकर चैत्यवंदन कहे, बाद जं किंचि० नमुत्थुणं० जावंति चेइयाइं० जावंत केवि साहू० नमोऽर्हत्० कहकर स्तवन कहे, बादमें "आभवमखंडा" तक जय वीयराय ! कहकर खडे होकर अरिहंत चेइयाणं० अन्नत्थ० कहकर एक नवकारका काउस्सग्गकरे, पारकर नमोऽर्हत्० कहकर एक थुइ कहे, बाद खमा० देकर पच्चक्खाण करना।

५—उग्घाडा-पेरिसी-विधिः—

छः घडी दिन चढे बाद गुरुके आगे "उग्घाडा पोरिसी" कहकर इरियावही पडिक्कमे, बाद खमा० देकर एक साधु कहे– 'इच्छा० संदि० भग० ! उग्घाडा पोरिसी' गुरु कहे– 'तहत्ति' फिर खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! पडिलेहण करूं ?, इच्छं' इस तरह आदेश मांगकर गुरु मुहपत्ति पडिलेहे बाद सब

जणे खमा० देकर ऊपर मुजब आदेश मांगकर २५ बोलसे मुहपात्ति पडिलेहें।

६—गौचरी–जानेकी तथा आलोचनेकी विधिः—

गौचरीका समय हो जाने पर कंबली बिछाके उस पर पात्रें आदि सब उपकरण छूटे छूटे रखे, बाद झोली पडिलेह कर छेडों के गांठें लगावे, बाद १० बोलसे पूंजणी पडिलेहे, उससे पात्रे-तरपणी-चेतना-डाबडिया आदि २५-२५ बोलसे पडिलेहे, और पडले–रजस्त्राण आदिभी सब उपकरण २५-२५ बोलसे तथा तरपणीका डोरा १३ बोल बोलते हुए पूंजणीसे पडिलेहे, (१) बाद झोली में पात्रे रखकर डाबे हाथमें झोली लेकर ऊपर पडले ढांक देवे और तरपणीभी उसी हाथमें लेकर चद्दरके छेडेसे ढांक लेवे, बाद दंडा हाथमें लेकर 'आवस्सही ३' कहते हुए उपाश्रयसे निकलकर गौचरी जावे।

दंडा भूमि ऊपर टिकाते हुए किसीके साथ बात चीत करते हुए या हँसते हुए रास्तेमें न चले, उतावल

(१) उपवासके दिनभी उग्घाडा पोरिसी भणानेके बाद इसी मुजब पात्रे आदिकी पडिलेहणा जरूर करनी चाहिये।

रहित चलते हुए ४२ दोष (१) रहित गौचरी लेकर "निसिही ३ नमो खमासमणाणं" कहते हुए उपाश्रयमें गुरुके पास आकर यदि शक्ति हो ? तो गौचरी हाथमें ही रखे. और शक्ति न हो ? तो गौचरी ठिकाने रख कर आगे लिखे मुजब गौचरी आलोवे—

खमा० देकर इरियावही पडिक्कमे, जितने घरोंसे जिस प्रकार गौचरी ली हो ? वह सब काउस्सग्गमें याद करे अथवा एक लोगस्स का काउस्सग्ग करे, पारकर प्रगट लोगस्स कहकर बोले—'इच्छा० संदि० भग० ! भात पाणि आलोऊँ ?' गुरु कहे—'आलोएह' बाद 'इच्छं' कहकर स्त्री या पुरुषके हाथसे. वाटकी या कुडछीसे जिस तरह गौचरी ली हो ? वह सब हकीकत गुरुके आगे कह सुनावे, बाद "इच्छामि पडिक्कमिउं गोयरचरियाए०" यह आलावा कहकर तस्स उत्तरि० अन्नत्थ० कहकर काउस्सग्गमें—

"अहो !! जिणेहिं असावज्जा, वित्ति साहूण देसिया। मुक्ख साहण हेउस्स, साहुदेहस्स धारणा १" (दश० ५ अ०, १ उ०)

यह गाथा चिंतवें, पार कर प्रगट लोगस्स कहे, बाद चौमासे में पाटको और शेषाकालमें भूमिको पूंज

(१) नम्बर पांच 'आहार-दोष-विचार' देखो।

कर गौचरीके पात्रे रख कर ऊपर झोली या लुहणा ढांक देवे, बाद उपाश्रयमें काजा निकाल कर निर्जीव भूमि में परठ कर पच्चक्खाण पारे ।

७—पच्चक्खाण–पारण–विधिः—

स्थापनाके सामने अथवा गुरु आदि अपनेसे बडेके सामने खमा० देकर इरियावही पडिक्कमे, बाद खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! चैत्यवंदन करूं ?, इच्छं' कहकर "जयउ सामिय" जंकिंचि० नमुत्थुणं० जावंति चेइयाइं० जावंत केवि साहू० नमोऽर्हत्०और उवसग्गहरं० कहकर "आभवमखडा" तक जय वीयराय ! कहे, बाद खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! सज्झाय संदि साउं ?, इच्छं' इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि० भग० ! सज्झाय करूं ?, इच्छं' कहकर १ नवकार धम्मो मंगलकी १७ गाथा तथा ऊपर १ नवकार कहे, बाद खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! पच्चक्खाण पारवा मुहपत्ति पडिलेहुं ?, इच्छं' कहकर मुहपत्ति पडिलेहे, बाद खमा० देकर कहे—'इच्छा० संदि० भग० ! पच्चक्खाण पारावह' गुरु कहे—'पुणो वि कायव्वो' बाद 'यथा शक्ति' कहकर फिर खमा० देकर कहे—'इच्छा० संदि० भग० ! पच्चक्खाण पारूं ?'

गुरु कहे—'आयारो न मोत्तव्वो' बाद 'तहत्ति' कहकर जीमणी मुट्ठि ओघे ऊपर स्थापन कर १ नवकार गिणे. बाद आगे लिखे हुए पच्चक्खाण पारनेके पाठ बोलकर १ नवकार गिणे।

नमुक्कारसहि आदि पच्चक्खाण पारनेका पाठ—

उग्गए सूरे नमुक्कार सहियं पोरसि० साढ पोरसि (सूरे उग्गए पुरिमऽड्ढं-अवड्ढं) मुट्ठि सहियं पच्चक्खाण कर्युं चउव्विहार, आयंबिल एकासणुं, निवि एकासणुं, एकासणुं, बियासणुं पच्चक्खाण कर्युं तिविहार, पच्चक्खाण फासियं, पालियं, सोहियं, तीरियं, किट्टियं, आराहियं, जं च न आराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥

इनमें नमुक्कार सहियंसे लगा कर साढपोरसी तकमें जो पच्चक्खाण किया हो ? वहां तकके सब नाम बोलने, आगे के नहीं और यदि पुरिमऽड्ढ या अवड्ढ हो ? तो "सूरे उग्गए—पुरिमऽड्ढं" या "अवड्ढं" जो होवे ? सो बोलना, पहले के नहीं, यदि आयंबिल हो ? तो "आयंबिल एकासणुं पच्चक्खाण कर्युं तिविहार" तथा निवि हो ? तो "निवि एकासणुं पच्चक्खाण कर्युं तिविहार" कहना, इसी तरह एकासणेमें "एकासणुं

पच्चक्खाण कयुं तिविहार" तथा बियासणेमें "बियासणुं पच्चक्खाण कयुं तिविहार" कहना।

तिविहार उपवासका पच्चक्खाण पारनेका पाठ—

"सूरे उग्गए पच्चक्खाण कयुं तिविहार, पोरिसी–साढपोरिसी–पुरिमड्ढं–अवड्ढं मुट्ठिसहियं पच्चक्खाण कयुं पाणाहार, पच्चक्खाण फासियं०" इत्यादि पहलेकी तरह कहना।

बादमें बडे छोटे सब साधुओंको आहार देकर रागद्वेष रहित मंडली के पांच (१) दोष टालकर सुर सुर अथवा चब चब शब्द नहीं करता हुआ, उतावल रहित, देरी नहीं लगाता हुआ, तथा नीचे नहीं विखेरता हुआ आहार पाणी करे. आहार पाणी कर चुकने पर पात्रे तीन चार वार पाणीसे धोकर पाणी पी लेवे. पात्रे दो लूहणोंसे लूस लेवे, लूहणा पाणी में धोकर सुका देवे, बाद पात्रे चौमासा हो ? तो पाट ऊपर रखे. और शेषाकाल हो ? तो शायद अकस्मात् विहारही करना पड़े ? वास्ते बांधकर गुच्छे चढाकर रखे. यदि एकासणा हो ? तो उसी जगह तिविहार पच्चक्खाण कर लेवे।

(१) नाम वगैरह इनका स्वरूप जानना हो ? तो नम्बर ५ 'आहार-दोष-विचार' देखो।

बाद जिस जगह आहार पाणी किया हो ? उसी जगह बैठा हुआ स्थापनाजी के सामने इरियावही पडिक्कमे, खमा० देकर—'इच्छा० संदि० भग ! चैत्यवंदन करूं ?, इच्छं' कहकर "जयउ सामिय" चैत्यवंदन कहे, बाद जं किंचि० नमुत्थुणं० जावंति चेइयाइं० जावंत केवि साहू० नमोऽर्हत्० उवसग्गहरं० तथा "आभवम खंडा" तक जय वीयराय ! कहे।

अष्टमी चउदस आदि उपवास के दिन दुपहरको पांच शक्रस्तवसे देववंदन अवश्य करने चाहिये।

८—स्थंडिल जाने की विधिः—

'आवस्सही ३' कहते हुए उपाश्रयसे निकलकर उतावल रहित बात चीत नहीं करते हुए आगे आगे भूमि देखते हुए गांमके बाहर जाकर पवित्र भूमिसे ईंटके टुकड़े आदि पूंज कर लेवे, या उपाश्रयसे ही वस्त्रखण्ड लेजावे बाद दूर जाते हुवे वनस्पति या अन्य (कीड़ी तथा उद्देही आदि) जीवजंतु रहित जगहमें जाकर ऊंचे नीचे और तिरछे चारों तरफ देख लेवे कि—कोई मनुष्य वगैरह आता जाता तो नहीं है, बाद "अणुजाणह जस्सुग्गहो" ऐसा कहकर ठल्ले बैठे, जिसके फल फूल आते हो ? उस वृक्ष (झाड़) के

नीचे न बैठना, पूर्व तथा उत्तर दिशाके सामने और जिस तरफका पवन चलता हो ? उस तरफ, सूर्य और गांवके सामने पीठ नहीं करनी, बैठते समय दंडा डावी साथलमें रखे, पाणी की तरपणी जीमणे हाथमें तथा ईंटके टुकड़े या वस्त्रखण्ड डाबे हाथमें रखे, जब कि शंका दूर होजाय ? तब दूर हटकर ईंटके टुकड़ों से या वस्त्रखंडसे शरीर लूस लेवे, बाद् पाणीसे शुद्धि करके उठकर दूर आकर 'वोसिरे ३' कहे। बाद् 'निस्सिही ३' कहते हुए उपाश्रयमें आकर इरियावही पडिक्कमे और तरपणी लूसकर रख देवे।

९—संध्या–पडिलेहण–विधिः—

पिछले प्रहरमें गुरुके आगे खमा० देकर कहे—'इच्छा० संदि० भग० ! बहुपडिपुन्नापोरिसी' ? गुरु कहे—'तहत्ति'। बाद् हमेश (रोज) वापरनेके उपकरण लेकर पासमें रखकर खमा० पूर्वक इरियावही पडिक्कमे, खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! पडिलेहण करूं ?, इच्छं' इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि० भग० ! वसति प्रमार्जूं ?, इच्छं' कहकर मुहपत्ति पडिलेहे, फिर खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! अंग पडिलेहण संदिसाउं ?, इच्छं' इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि० भग ! अंग पडिलेहण करुं ?, इच्छं' कहकर

मुहपत्ति पडिलेहे, बाद कंदोरा (१) तथा चोलपट्टा (२) पडिलेहकर काजा निकाले, काजा परठकर सौ सौ (१००) हाथ तककी भूमिमें सवेरेकी तरहँ वसति संशोधन करे, जो कोई हड्डी या कलेवर हो ? उसको दूर हटवा कर 'निसिही ३ मत्थएण वंदामि भगवन् ! सुद्धावसही' कहते हुए उपाश्रयमें आकर गुरुके सामने ⊛खमा० देकर इरियावही पडिक्कमे, खमा० देकर कहे—'इच्छा० संदि० भग० ! वसति पवेउं ?' गुरु कहे 'पवेयह' फिर इच्छं इच्छामि खमा० देकर कहे—'भगवन् ! सुद्धावसही' गुरु कहे—'तहत्ति' × बाद स्थापनाचार्यके सामने खमा० देकर 'इच्छकारी भगवन् ! पसायकरी पडिलेहणा पडिलेहावोजी' कहकर स्थापनाचार्य पडिलेहे—

कंवली पडिलेहकर समेटके बिछादेवे, उसपर स्थापनाचार्यजी खोलकर जुदे रखे, बाद समेटी हुई तथा बिछाई हुई मुहपत्तियां जुदी जुदी करके पहले ऊनकी और पीछे सूतकी मुहपत्ति पडिलेहकर

(१) उपवासके दिन ओघा पडिलेहनेके बाद कंदोरा तथा चोलपट्टा पडिलेहे। (२) साध्वियां चौलपट्टेकी जगह पहरने का साडला पडिलेहे ॥ * इस निशानी से लगाकर × इस निशानी तककी विधि जिसने काजा निकाल कर वसति संशोधन कियाहो ? उसीको करना चाहिये, अन्यको नहीं, सब उपकरण पडिलेहनेके बाद यदि काजा निकाले ? तो यह विधिभी पीछेसेही करे।

उपरा उपरी बिछादेवे, बाद समेटी हुई नीचेवाली मुहपत्ति पडिलेहकर समेटके बिछाई हुई मुहपत्तिमें रखे बाद ऊपरवाली समेटी हुई मुहपत्ति पडिलेहे, उससे सवेरेकी तरह १३ बोलसे स्थापनाचार्य पडिलेहकर पहलेकी समेटी हुई मुहपत्ति पर रखदेवे, ऊपरसे वह दूसरी मुहपत्तिभी समेटकर ढांक देवे, बाद सूतू तथा ऊनी दोनों मुहपत्तियोंसे स्थापनाचार्य बांधकर झोलीमें रखकर ठवणी ऊपर रख देवे ।

बाकी रहे सबजणे खमा० देकर 'इच्छकारी भगवन् ! पसायकरी पडिलेहणा पडिलेहावोजी' ऐसे कहें ।

बाद सबजणे खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग०! मुहपत्ति पडिलेहुं ?, इच्छं' कहकर मुहपत्ति पडिलेहें, फिर खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग०! सज्झाय संदिसाऊं ?, इच्छं' इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि०भग०! सज्झाय करूं ?, इच्छं' कहकर १ नवकार धम्मो मंगलकी ५ गाथा और ऊपर १ नवकार गिणे, दो (१) वांदणे देकर मुट्ठिसहि पचक्खाण करे. खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! ओहिपडिलेहण संदिसाऊं ?, इच्छं इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि० भग० ! ओहिपडिलेहण करूं ?, इच्छं' कहकर चद्दर कंबली आदि सब

(१) उपवास के दिन वांदणे नहीं देने ।

उपकरण सवेरेकी तरह पडिलेहे। बाद् ओघा खोलकर पहले डोरा १० बोलसे पडिलेहे, बाद् ऊनकी निषद्या (ओघारिया) सूतकी निषद्या (निशिथिया) पाठा तथा ओघेकी दशियां अनुक्रमसे २५-२५ बोलसे पडिलेहे, बाद् डंडी १० बोलसे पडिलेह कर ओघा पीछा बांध लेवे, बाद् दंडे पडिलेह कर जिस जगह पर कपडे आदि की पडिलेहण करी हो? उस जगहसे काजा निकालकर एकांतमें परठे, बाद् इरियावही पडिक्कमकर मुट्ठि भीडकर १ नवकार गिणे अथवा आगे लिखा पाठ बोलकर मुट्ठिसहि पच्चक्खाण पारे–"मुट्ठिसहि पच्चक्खाण फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं आराहियं जं च न आराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं" ॥

१०–देवसिय–पडिक्कमण–विधिः—

संध्याको पडिक्कमणेका टाइम होनेपर मातरे जाना हो? तो जाकर इरियावही पडिक्कमे, बाद् गुरुको अथवा सबसे वडेको वंदना करके पच्चक्खाण करे, खमा० देकर कहे–इच्छा० संदि० भग०! थंडिल पडिलेहुं?' गुरु कहे–'पडिलेहेह' बाद् 'इच्छं' कहकर "आगाढे आसन्ने०" इत्यादि पाठ बोलते हुए ओघेसे २४ मांडले करे. खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग०! गोचरी आदि पडिक्कमुं?, इच्छं' इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि०

भग०! गोचरी आदि पडिक्कमणऽत्थं काउस्सग्ग करूं ?, इच्छं गोचरी आदि पडिक्कमणत्थं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ०' कहकर १ नवकारका काउस्सग्ग करे, पारकर प्रगट नवकार १ कहकर आगे लिखी गाथा बोलनी—

"कालो गोयरचरिया, थंडिल्ला वत्थ पत्त पडिलेहा। संभरउ सो साहू, जस्स वि जं किंचिऽणुवउत्तं ।१।"

बाद अपनेसे बडोंको सबको वंदना करके इरियावही पडिक्कमे, खमा० देकर कहे—'इच्छा० संदि० भग० ! चैत्यवंदन करूं ?' गुरु कहे—'करेह' सब जणे कहें—'इच्छं'। बाद गुरु आज्ञासे कोईभी साधु या श्रावक जय तिहुअणकी पहलेकी ५ गाथा और अंतकी २ गाथा कहे, पीछे गुरु "जय महायस !" इत्यादि २ गाथा कहें, अथवा जय तिहुअणकी गाथायें तथा जय महायस ! ये दोनों गुरु ही कहें, बाद नमुत्थुणं कहकर सवेरे (राइय पडिक्कमणेके अंतमें जैसे ४ थुइसे देववंदन करनेका कहा है उस) की तरह ४ थुइसे देववंदन करे, जिसमें गुरु काउस्सग्ग पारलेवे बाद जिस साधु या श्रावक ने आदेश लिया हो ? वह काउस्सग्ग पारकर पहले तथा छेल्ले नमोऽर्हत्० कहे, और बीचकी दो थुइयों में नमोऽर्हत्० न कहते हुए ४ थुइयां कहे, बाद दूसरे सब साधु—श्रावक काउस्सग्ग पारें। देववंदन कर चुके बाद बैठकर नमुत्थुणं कहकर ४ खमा०

देवे—पहला खमा० देकर 'आचार्य मिश्रं' १। दूसरा खमा० देकर उपाध्याय मिश्रं २। तीसरा खमा० देकर 'वर्तमान गुरून्' ३। चौथा खमा० देकर 'सर्व साधून्' ४। कहे। बाद् मस्तक नमाकर दोनों हाथोंसे मुंहपत्ति मुख आगे लगाकर गोडों से बैठा हुआ "सव्वस्स वि देवसिय दुच्चिंतिय दुब्भासिय दुच्चिट्ठिय मिच्छामि दुक्कडं" कहे। बाद खडे होकर चारित्राचारकी शुद्धिके लिये करेमि भंते०! इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जो मे देवसिओ० तस्स उत्तरि० अन्नत्थ० कहकर काउस्सग्ग करे, उसमें "सयणासणऽन्नपाणे०" इस गाथाको अर्थ सहित १ वार अथवा मूल ३ वार चिंतवे, पारकर प्रगट लोगस्स कहे, बैठकर तीसरे आवश्यककी मुंहपत्ति पडिलेहकर २ वांदणे देवे, बादमें कहे—'इच्छा० संदि० भग०! देवसियं आलोउं?' गुरु कहे—'आलोएह' वाद—"इच्छं आलोएमि जो मे देवसिओ०" तथा "ठाणे कमणे चंकमणे०" कहे, बाद गुरु "सव्वस्स वि०" बोलदेवे पीछे शिष्यभी "सव्वस्स वि०" इत्यादि बोलता हुआ "इच्छा० संदिसह" तक कहे, वाद गुरु कहे— "पडिक्कमह" शिष्य कहे "मिच्छामि दुक्कडं"। बाद जीमणा गोडा ऊंचा करके बैठकर ओघा तथा मुहपत्ति दोनों हाथोंसे पकडकर मुंहपत्ति मुखपर लगाकर शिष्य कहे 'भगवन्! सूत्र कड्ढं?'

गुरु कहे 'कड्ढेह' शिष्य 'इच्छं' कहकर १-१ अथवा ३-३ नवकार तथा करेमि भंते० ! कहकर "चत्तारि-मंगलं" आदि तीन आलावे कहे, बाद "इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसिओ०" तथा "इच्छामि पडिक्क-मिउं इरियावहियाए०" कहकर राइय पडिक्कमणेकी तरह पगामसिज्जाए कहे, तीन जगह देवसीका पाठ उपयोग रख कर बोले और २ बार वांदणे देकर अब्भुट्ठिया खमाकर फिर २ वांदणा देवे।

यदि श्रावकभी साथ हो ? तो "आयरिय उवज्झाए" कहे अन्यथा न कहे बाद चारित्राचारकी शुद्धि के लिये करेमि भंते० ! इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जो मे देवसिओ० तस्स उत्तरि० अन्नत्थ० कहकर दो लोगस्स का काउस्सग्ग करे, पारकर दर्शनाचारकी शुद्धिके लिये प्रगट लोगस्स० सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं० अन्नत्थ० कहकर १ लोगस्सका काउस्सग्ग करे, पारकर ज्ञानाचारकी शुद्धिके वास्ते पुख्खरवरदीवड्ढे० सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं० वंदणवत्तिआए० अन्नत्थ० कहकर फिर १ लोगस्सका काउस्सग्ग करे, पारकर सिद्धाणं बुद्धाणं० कहकर 'सुयदेवयाए करेमि काउस्सग्गं' अन्नत्थ० कहकर १ नवकारका काउसग्ग करे, गुरु पारकर नमोऽर्हत्० कहकर "सुवर्णशालिनी देयात्, द्वादशांगी जिनोद्भवा। श्रुतदेवी सदामह्य,–मशेषः श्रुतसम्पदम् ॥ १ ॥

यह अथवा "सुयदेवयाए भगवई०" यह थुइ कहे, बाकीके सबजणे थुइ सुणकर काउस्सग्ग पारें, बाद 'खित्त देवयाए करेमि काउस्सग्गं' अन्नथ० कहकर १ नवकारका काउस्सग्ग करे, पारकर नमोऽर्हत्० कहकर— "यासां क्षेत्रगताः संति, साधवः श्रावकादयः। जिनाज्ञां साधयंतस्ता, रक्षंतु क्षेत्रदेवता ॥१॥" यह थुइ अथवा "जीसेखित्ते साहु०" यह थुइ कहे, बाद सबजणे पारकर प्रगट १ नवकार कहें, बैठकर छट्ठे आवश्यककी मुहपत्ति पडिलेहकर २ वांदणे देवे, गुरु 'इच्छामो अणुसट्ठिं' कहकर गोडों से बैठकर अथवा डावा गोडा ऊंचा करके आसन उपर बैठकर नमोर्हत्० कहकर "नमोऽस्तु वर्द्धमानाय" (१) की एक गाथा कह देवे बाद सबजणे 'नमो खमासमणाणं नमोऽर्हत्०' कहकर "नमोऽस्तु वर्द्धमानाय" की ३ गाथा कहें। बाद गुरु खमा० देकर यदि स्तवन खुदही बोलें? तो 'इच्छा० संदि० भग० स्तवन भणुं?, कहें और यदि अन्य साधु या श्रावकको आदेश देवें? तो 'इच्छा० संदि० भग० स्तवन सांभलुं' कहें, बाद सब जणे खमा० देकर स्तवन बोलने

(१) "नमोऽस्तु वर्द्धमानाय" के बदले साध्वियां "संसार दावा" कहतीहैं, उसकी भी १ गाथा पहले गुरुणी बोल देवे बाद दूसरी साध्वियां तीनों गाथा कहें।

वाला तो—'इच्छा० संदि० भग० स्तवन भणुं ?' कहे और दूसरे सबजणे 'इच्छा० संदि० भग० स्तवन साभलुं ?' कहें। यदि दूसरेको आदेश दिया हो ? तो गुरु 'भणेह सुणेह' कहें और यदि दूसरेको आदेश न दिया हो ? तो केवल 'सुणेह' ऐसाही कहें. बाद स्तवन बोलनेवाला नमोऽर्हत्० कहकर ११ गाथासे लगाकर एक सो आठ गाथा तकका कोईभी भगवानका स्तवन (२) कहे, कितनेएक "वर कनक शंख विद्रुम" यह गाथा भी पीछेसे कहते हैं, बाद पहला खमा० देकर 'आचार्य मिश्रं'। दूसरा खमा० देकर 'उपाध्याय मिश्रं' तीसरा खमा० देकर 'सर्व साधून्' कहे।

विशेष-विधिः—

बाद चौथा खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! देवसिय पायच्छित्त विसोहणत्थं काउस्सग्ग करूं,? इच्छं देवसिय पायच्छित्त विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०' कहकर ४ लोगस्सका काउस्सग्ग करे, पारकर प्रगट लोगस्स कहे। बाद खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग०! 'खुद्दोवद्दव ओहडावणत्थं काउस्सग्ग करूं ? इच्छं

(२) विहारके दिन तथा पख्खी चौमासी और संवच्छरीके पहले दिन स्तवनकी जगह "उल्लासिक्कम" स्तोत्र कहनेकी आज कल प्रवृत्ति है।

खुद्दोवद्दव ओहडावणत्थं करेमि काउस्सग्गं' अन्नत्थ० कहकर ४ लोगस्सका काउस्सग्ग करे, पारकर प्रगट लोगस्स कहे। फिर खमा० देकर सज्झायके २ आदेश बोले, बाद गुरु अथवा गुरुने जिसको आदेश दिया हो ? वह साधु सज्झाय (१) कहे। बाद खमा० देकर इच्छा० संदि० भगवन् चैत्यवंदन करूं ? इच्छं कहकर 'श्रीसेढी तटिनी तटे" यह चैत्यवंदन कहकर नमुत्थुणं० जावंति चेइयाइं० जावंत केवि साहू० नमोऽर्हत्० कहकर "उवसग्गहरं०" अथवा पार्श्वनाथस्वामीका छोटा स्तवन कहे और जय वीयराय! कहे, बाद " सिरिथं-भणयट्ठिय पास" इत्यादि २ गाथा कहकर वंदणवत्तिआए० अन्नत्थ० कहकर ४ लोगस्सका काउस्सग्ग करे, पारकर प्रगट लोगस्स कहे। खमा० देकर 'श्रीचतुरशीति गच्छ शृंगारहार जंगम जुगप्रधान भट्टारक दादाजी श्रीजिनदत्तसूरिजी चारित्र चूडामणि आराधना निमित्तं करेमि काउस्सग्गं, अन्नथ०' कहकर १ लोगस्सका

(१) जिस दिन विहार करके दूसरी जगहमें जाय ? उस दिन तथा पख्खी, चौमासी और संवच्छरीके पहिले दिनतो धम्मो मंगल की १७ गाथा कहे और पख्खी, चौमासी तथा संवच्छरीके दिन ५ गाथा कहे, अन्य दिन खुशी आवे सो सज्झाय कहे।

काउसग्ग करे, पारकर प्रगट लोगस्स कहे फिर खमा ० देकर 'श्रीचतुरशीति गच्छ श्रृंगारहार जंगम जुगप्रधान भट्टारक दादाजी श्रीजिनकुशलसूरिजी चारित्र चूडामणि आराधना निमित्तं करोमि काउसग्गं' अन्नत्थ ० कहकर १ लोगस्सका काउसग्ग करे, पारकर, प्रगट लोगस्स कहे। फिर खमा ० देकर 'अविधि आशातना हुई होय ते सवि हुं मने वचने कायाए करी मिच्छामि दुक्कडं' कहे ॥

११–राइय–संथारा–पोरिसी–विधिः—

एक साधु खमा० देकर कहे– 'इच्छा० संदि ० भग० ! बहुपडिपुन्ना पोरिसी' गुरु कहे 'तहत्ति'। बाद सब जणे खमा ० देके इरियावही पमिक्कमे, खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग०! राइय संथारा मुहपत्ति पडिलेहुं ?, इच्छं' कहकर मुहपत्ति पडिलेहें, बाद खमा० देकर 'इच्छा ० संदि० भग० ! राइय संथारा संदिसाउं ?' 'इच्छं' इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि० भग ! राइय संथारा ठाउं' ? इच्छं इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि० भग०! चैत्यवंदन करूं ? इच्छं' कहकर " चउक्कसाय " तथा– "अर्हंतो भगवंत इंद्रमहिता " यह श्लोक बोलकर नमुत्थुणं ० जावंति चेइया- इं० जावंत केवि साहू० नमोऽर्हत्० उवसग्गहरं० तथा जय वीयराय ! कहे, बाद "निसिही ३ नमो खमासमणाणं

गोयमाइणं महामुणिणं" इस तरह कहकर ३ नवकार तथा ३ करेमि भंते ! कहे, बाद "अणुजाणह जिट्ठिज्जा, अणुजाणह परमगुरु !" इत्यादि पोरिसीकी गाथायें कहकर ३ नवकार गिणें॥

१२—पाक्षिकादि—प्रतिक्रमण—विधिः—

पक्खी, चौमासी और संवच्छरी तीनोंमें चैत्यवंदनके समय जय तिहुअणकी तीसों [३०] गाथा कहनी, और थुइयोंकी जगह "द्रंद्रंकि" ये थुइयां कहनी, बाकी पगामसिज्जाए कहने तक सब देवसीय पमिक्कमणेका विधि करना, पगामसिज्जाए कह चुके बाद खमा०देकर 'देवासियं आलोइयं पडिक्कंतं इच्छा० संदि० भग० ! (१) पक्खी+ मुहपत्ति पडिलेहुं ?, इच्छं' कहकर मुहपत्ति पडिलेहकर दो वांदणे देवे, बाद वृद्ध साधु कहे 'पुन्यवंतो वद्वेसीने स्थानके पक्खी+ भणजो, छींक जयणा करजो, मधुर स्वरे पडिक्कमजो' दूसरे सब जणे कहें 'तहत्ति' बाद दो वांदणे (२) देकर खडे होकर इच्छा ० संदि० भग० ! संबुद्धा खामणेणं अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर पक्खिय

(१) जहां जहां + ऐसी चोकडिकी निशानी है वहां वहां सब जगह चौमासी हो ?, तो चौमासीका और संवच्छरी हो ? तो संवच्छरी का नाम लेना। (२) दो वांदणे देते समय पक्खीमें – "पक्खो वइक्कंतो – पक्खियं वइक्कमं – पक्खियाए आसायणाए"। चौमासीमें – "चोमासी

खामेउं ? इच्छं खामेमि पक्खियं (१) "एगस्स पक्खस्स; पनरसण्हं दिवसाणं, पनरसण्हं राईणं, जं किंचि अप्पत्तियं" इत्यादि पहले गुरु खमा लेवे बाद शिष्यभी पक्खी चौमासी और संवच्छरीमें अनुक्रमसे गुरु आदि तीन पांच और सात साधुओंको इसी तरह खमावे, इसमें यह खयाल रखना कि—पक्खी चौमासी और संवच्छरी तीनोंमें अनुक्रमसे तीन पांच और सात साधुओंको खमाते हुए अंतमें कमसे कम दो साधु बाकी रखने।

वइक्कंता—चोमासियं वइक्कमं चोमासियाए आसायणाए"। संवच्छरीमें—"संवच्छरो वइक्कंतो—संवच्छरियं वइक्कमं—संवच्छरियाए आसायणाए"। इस तरह तीनों जगह पर उपयोग रख कर पक्खी, चौमासी वा संवच्छरी जो होवे ? उसका नाम बोलना।

(१) चौमासीमें —"चोमासियं खामेउं ? इच्छं खामेमि चोमासियं" कहकर यदि चार [४] महिनों का चौमासा होवे ? तो "चउण्हं मासाणं, अट्ठण्हं पक्खाणं वीसुत्तरसय [१२०] राइंदियाणं" कहकर "जं किंचि अपत्तियं" आदि कहे, और यदि पांच [५] महीनोंका चौमासा हो ? तो "पंचण्हं मासाणं, दसण्हं पक्खाणं, पन्नासुत्तरसय [१५०] राइंदियाणं" कहकर "जं किंचि अपत्तियं" आदि कहे, संवच्छरीमें—"संवच्छरियं खामेउं ? इच्छं खामेमि संवच्छरियं" कहकर जिस वर्षमें १२ महिने हुए होवे ? उस वर्षमें "बारसण्हं मासाणं, चउवीसण्हं पक्खाणं, तिन्निसय सट्ठि [३६०] राइंदियाणं" कहकर "जं किंचि अपत्तियं" आदि कहे और जिस वर्षमें १३ महिने हुए हो ? उस वर्षमें "तेरसण्हं मासाणं, छव्वीसण्हं पक्खाणं, तिन्निसयनउई (३९०) राइंदियाणं" कहकर "जं किंचि अप्पत्तियं" कहे। पत्तेय खामणेणं और समाप्त खामणेणंमेंभी इसी मुजब समझना—

बाद खडे होकर आसनके पिछले भागमें जाकर 'इच्छा० संदि० भग०! पक्खियं (१) आलोउं ? इच्छं आलोएमि जो मे पक्खिओ०' इत्यादि 'मिच्छामि दुक्कडं' तक कहकर 'इच्छा० संदि० भग०! पक्खि (२) अतिचार आलोउं ?' ऐसा कहकर अतिचार कहे, बाद श्रावकोंके अतिचार श्रावक कहें, बाद में गुरु कहें—

एवं कारे साधुतणे धर्मं एकविध असंजम तेत्रीश आशातना प्रमादपद पर्यंत मूलगुण उत्तरगुण एकसो चालीस अतिचार [श्रावक (३) तणे धर्मं समकीत मूल बारे व्रत एकसो चौवीस अतिचार] मांहिं जे कोइ अतिचार पक्ष (४) दिवस माहिं सूक्ष्म बादर जाणतां अजाणतां हुओ होय ते सवि हु मनें वचनें कायाए करी मिच्छामि (५) दुक्कडं।"

(१) चौमासी में 'चोमासियं आलोउं ? इच्छं आलोएमि जो मे चोमासिओ' इत्यादि कहे, और संवच्छरी में 'संवच्छरियं आलोउं ! इच्छं आलोएमि जो मे संवच्छरिओ' इत्यादि कहे। (२) चौमासी में चौमासी का और संवच्छरी में संवच्छरी का नाम बोलना। (३) श्रावक साथमें होवे ? तो यह ब्राकिटमें का पाठ बोलना, अन्यथा नहीं। (४) चौमासी हो ? तो "चौमासी दिवस माहिं" और संवच्छरी हो ? तो "संवच्छरी दिवस माहिं" कहना। (५) साधु श्रावक सब जणे "मिच्छामि दुक्कडं" कहें।

बाद् गुरु "सव्वस्स वि (१) पक्खिय" इत्यादि कह देवे पीछेसे शिष्य "सव्वस्स वि पाक्खिय" इत्यादि बोलता हुआ "इच्छा० संदिसह" तक कहे, बाद् गुरु 'चउत्थेण (२) पडिक्कमह' कह देवे पीछे शिष्य कहे 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं' बाद् दो बांदणे देवे और 'इच्छा० संदि० भग०! देवासियं आलोइयं पडिक्कंतं पत्तेय खामणेणं अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर पक्खियं खामेउं ?, इच्छं खामेमि पक्खियं इत्यादि संबुद्धा खामणेणंकी तरह पहले गुरु खमा लेवे बाद् शिष्यभी अपनेसे बडे सब साधुओंको इसी मुजब अब्भुट्ठिया खमावे, श्रावकोंके साथभी मुह जबानीसे क्षमत क्षामणे करे, दो वांदणे देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! देवसियं आलोइयं पाडिक्कंतं पक्खियं (३) पडिक्कमावेह' गुरु कहे 'सम्मं पडिक्कमह' शिष्य कहे– 'इच्छं'। बादमें जिसने पक्खिसूत्र बोलने का आदेश लिया हो ? वह साधु करेमि भंते ! तथा 'इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे पक्खिओ (४)' इत्यादि

(१) चौमासी में "चोमासिय" और संवच्छरी में "संवच्छरिय" कहना (२) चौमासी में "छट्ठेण०" और संवच्छरी में "अट्ठमेण" कहना. (३) चौमासी में "चोमासियं पडिक्कमावेह" और संवच्छरी में "संवच्छरियं पडिक्कमावेह कहना। (४) चौमासी में "चोमासिओ" और संवच्छरी में "संवच्छरीओ" कहना।

कहे, बाद खमा० देकर ' इच्छा ० संदि ० भग ० ! पक्खी (१) सूत्र संदिसाउं ? इच्छं इच्छामि खमा ० ' इच्छा० संदि० भग० ! पक्खी सूत्र कड्ढुं ? इच्छं' कहकर ३ नवकार गिण कर पक्खी सूत्र कहे, जो सुनने वाले होवे ? वे तस्सउत्तरि०तथा अन्नत्थ० कहकर काउसग्गमें खड़े खड़े सुणे, यदि खडे रहने की शक्ति न हो ? तो बेठकर सुणें, पक्खी सूत्र बोल जाने के बाद " सुयदेवया भगवइ " यह गाथा बोलने के समय सब जणे खड़े होकर काउसग्ग पारकर ३ नवकार गिणें, बादमें बैठकर ३ नवकार ३ करेमि भंते ! तथा " चत्तारि मंगलं० " आदि कह कर " इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे पक्खिओ " तथा " इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए " कहकर पगामसिज्जाए (२) कहे। खमा ० देकर कहे– 'इच्छा० संदि० भग० ! मूलगुण उत्तर गुण अतिचार विशुद्धि निमित्तं काउस्सग्ग करूं?' गुरु कहे–'करेह' बाद 'इच्छं' कहकर करेमि भंते ! इच्छामि ठामि

(१) चौमासी में " चौमासी सूत्र " और संवच्छरी में " संवच्छरी सूत्र " बोलना। (२) पहले और तीसरे आलावेके अंतमें " जो मे पक्खिओ, जो मे चोमासिओ, जो मे संवच्छरिओ०" इत्यादि तथा "तस्स धम्मस्स" कहकर खडे हुए बाद "तस्स सव्वस्स पक्खियस्स, तस्स सव्वस्स चोमासियस्स, तस्स सव्वस्स संवच्छरियस्स " इत्यादिमें पक्खी, चौमासी या संवच्छरी जो होवे ? उसका नाम बोलना।

काउस्सग्गं जो मे पक्खिओ० तस्स उत्तरि० अन्नत्थ० कहकर १२ लोगस्सका (१) काउसग्ग करे, पारकर प्रगट लोगस्स कह कर पक्खी समाप्त मुहपत्ति पडिलेहे, दो वांदणे देवे, बाद 'इच्छा ० संदि ० भग ० ! समाप्त खामणेणं अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर पक्खियं खामेउं ? इच्छं खामेमि पक्खियं ' इत्यादि पहलेकी तरह गुरु खमा लेवे बाद शिष्यभी पक्खी, चौमासी और संवच्छरीमें अनुक्रम से गुरु आदि तीन पांच तथा सात साधुओंको खमावे । बाद 'इच्छा० संदि० भग० ! पक्खी समाप्त खामणा खामुं ?' ऐसा पहले गुरु बोल जाय पीछे शिष्य भी इसी मुजब कहे, बाद गुरु कहे – 'खामेह ' शिष्य 'इच्छं ' कहकर आगे लिखे मुजब ४ खामणे खमावे.

खमा० देकर गोडोंसे बैठा हुआ डाबे हाथसे मुहपत्ति मुखपर लगाकर जीमणा हाथ गुरुके सामने ओघेके उपर स्थापन कर "इच्छामि खमासमणो पियं च मे जं भे" इत्यादि पहला खामणा पूरा कहे, बाद गुरु कहें– "तुब्भेहिं समं" दूसरा खमा० देकर "इच्छामि खमासमणो पुव्विं चेइयाइं वंदित्ता" इत्यादि दूसरा

(१) चौमासी में २० लोगस्स का और संवच्छरीमें ४० लोगस्स तथा ऊपर एक नवकारका काउसग्ग करना ।

खामणा कहे, वाद गुरु कहे– "अहमवि वंदामि चेइयाइं"। तीसरा खमा० देकर "इच्छामि खमासमणो अब्भुट्ठिओमि तुब्भण्हं संतियं" इत्यादि तीसरा खामणा कहे, वाद गुरु कहे– "आयरियं संतियं"। चौथा खमा० देकर "इच्छामि खमासमणो अहमवि पुव्वाइं" इत्यादि चौथा खामणा कहे, वाद गुरु कहे "नित्थारग पारगा होह" वाद खड़े होकर कहे– 'इच्छकारी भगवन्! पसाय करी पक्खी तप (१) प्रसाद करावोजी' गुरु कहे 'पुन्यवंतो! पक्खीने (२) लेखे १ उपवास, २ आयंबिल, ३ निवी, ४ एकासणा, ८ बियासणा, 'वे हजार सज्झाय करी १ उपवासनी पयठ पूरजो'। जिन्होंने उपवास किया हो? वे तो कहें–'पयट्ठिओ' अन्य सव जणे कहें– 'तहत्ति'। वाद गुरु कहे– 'पक्खियं (३) समत्तं, देवसियं भणिज्जाहि' सब जणे कहें– 'इच्छामो अणुसट्ठिं'।

(१)–चौमासी अथवा संवच्छरी हो? तो उनका नाम लेना। (२) चौमासी में– "चौमासी ने लेखे २ उपवास, ४ आयंबिल, ६ निवि, ८ एकासणे, १६ बियासणे चार हजार सज्झाय करी वे उपवासनी पयठ पूरजो" ऐसा कहे। संवच्छरी में–"संवच्छरी ने लेखे ३ उपवास, ६ आयंबिल, ९ निवी, १२ एकासणे, २४ बियासणे छ हजार सज्झाय करी तीन उपवासनी पयठ पूरजो ऐसा कहे। (३) चौमासी में "चौमासियं समत्तं" और संवच्छरीमें "संवच्छरियं समत्तं" कहना।

आषाढ चौमासीमें खमा ० देकर ' इच्छा ० संदि ० भग ० ! पीठफलग संदिसाउं ? इच्छं इच्छामि खमा ०, इच्छा ० संदि ० भग ० ! पीठ फलग पडिग्गहुं, ? इच्छं' ऐसा कहना , और कार्त्तिक चौमासीमें खमा ० देकर कहे 'इच्छा० संदि ० भग ० ! पीठफलग विसर्जूं ?' गुरु कहे– ' विसर्जेह ' बाद ' इच्छं ' कहना, पक्खी तथा फागण चौमासी और संवच्छरीमें ये आदेश नहीं कहने ।

बाद दो बांदणे देकर अम्भुट्ठिया खमाना आदि हमेशां की तरह देवसिय पडिक्कमणेका सब विधि करना, इतना विशेष है कि–सुयदेवी और क्षेत्रदेवी के काउसग्गके बीचमें 'भवण देवयाए करोमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ'० कहकर नवकारका (१) काउसग्ग करे, गुरु पार कर नमोऽर्हत् ० कहकर " ज्ञानादिगुण युतानां" यह थुई कहे, ऐसे ' प्रतिक्रमण हेतु गर्भ ' आदिकमें कहा है। सुयदेवी की थुइ " कमलदल विपुलनयना, कमल मुखी कमलगर्भसमगौरी । कमले स्थिता भगवती, ददातु श्रुतदेवता सौख्यम् " १ । और क्षेत्र देवीकी थुइ

(१) – विहार के दिन भी सुयदेवी और क्षेत्र देवीके बीच में भवण देवी का काउसग्ग करे, परंतु थुई " चतुवर्णाय संघाय, देवी भवनवासिनी । निहत्य दुरितान्येषा, करोतु सुखमक्षतम् १ ।" यह कहे।

"यस्याः क्षेत्रं समाश्रित्य" यह कहना, "नमोऽस्तु वर्द्धमानाय" के तीनों श्लोक गुरु बोल जाये बाद सब जणे बोलें। स्तवन की जगह पर अजिसंता कहें। खुद्दोवद्दव० काउस्सग्ग करे बादे खमा० देकर इच्छा० संदि० भग० ! असज्झाइय (१) अणाउत्त ओहडावणऽत्थं काउस्सग्गं करूं ?, इच्छं असज्झाइय अणाउत्त ओहऽडावणऽत्थं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ० कहकर ४ लोगस्सका काउस्सग्ग करे, पार के प्रगट लोगस्स कहे, बाद सज्झाय करे, सज्झाय में धम्मो मंगल की ५ गाथा कहें, पार्श्वनाथ स्वामी का चैत्यवंदन करते हुए स्तवन के बदले उवसग्गहरंही कहना॥

१३— छींकदोष निवारण विधिः—

पक्खी–चौमासी अथवा संवच्छरी मुहपत्ती पडिलेहणेसे लगाकर अंतमें ४ खामणे खामे वहांतक

(१) संवच्छरीमें तो असज्झायका काउस्सग्ग करना ही नहीं "पक्खी तथा चौमासी में यदि असज्झाय न होवे ? तो असज्झाय का काउसग्ग करना चाहिये," ऐसा समाचारी शतकमें कहा है, इससे यह समझा जाता है कि आषाढ और कार्तिक चौमासी में तो हमेशां १६ पहोरका असज्झाय होता है वास्ते असज्झायका काउसग्ग नहीं करना और फागण चौमासींमें–चौमासीके दिनही लोकमें यदि होली सलगाइ जाय ? तो उस दिन काउस्सग्ग नहीं करना, परन्तु चौमासी के दूसरे दिन यदि होली सलगाइ जाय ? तो चौमासीके दिन असज्झायका काउस्सग्ग जरूर कर लेना. अन्य पक्खी के दिन यदि किसी तरहका असज्झाय न होवे ? तो करना, अन्यथा नहीं करना।

एक मंडलीके साधु–साध्वी–श्रावक-श्राविकाओंमें से यदि किसी को छींक होवे ? तो पडिक्कम्मणा पूरा होने के बाद आगे लिखे मुजब तीन काउस्सग्ग करने–खमा० देकर ' इच्छा ० संदि ० भग ० ! अपशकुन दुर्निमित्तादि ओहडावण निमित्तं काउस्सग्गं करूं ?, इच्छं अपशकुन दुर्निमित्तादि ओहडावण निमित्तं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ०' कहकर १ नवकार का काउस्सग्ग करे, पारकर प्रगट १ नवकार कहे । दूसरा खमा० देकर फिर इसी मुजब २ नवकार का काउस्सग्ग करके प्रगट २ नवकार कहे । तीसरा खमा० देकर ऊपर लिखे मुजब ही ३ नवकारका काउस्सग्ग करके प्रगट ३ नवकार कहे ।

इस प्रकार ये तीन काउसग्गतो पडिक्कमणा करने वाले सब जणे करें, और जिसको छींक हुई हो ? उसके वास्ते यह है कि–छींक यदि पक्खी में होवे ? तो १५ दिन तक, चौमासीमें होवे ? तो ४ महिने तक और संवच्छरी में होवे ? तो १ वर्ष तक अपनी शक्ति के अनुसार कुछ विशेष तपस्या भी करनी चाहिये ॥

१४– मार्जारी मंडली प्रवेश दोष निवारण विधिः–

पांचों पडिक्कमणोंमेंसे कोईभी पडिकमणा करते हुए स्थापनाचार्य और पडिकक्कमणा करने वालों के

बीचमेंसे यदि बिल्ली निकले ? तो उसी समय आगे लिखा हुआ विधि करना—

"जा सा काली कब्बडी, अख्खिहि कक्कडियारी। मंडल माहे संचरी हय पडिहय मजारी ॥ १ ॥"

यह संपूर्ण गाथा १ वार कहे और इसीका चौथा पद ३ वार कहे, बाद खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! खुद्दोवद्दव ओहडावणत्थं काउस्सग्ग करूं ?, इच्छं, खुद्दोवद्दव ओहडावणत्थं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ० कहकर ४ लोगस्सका काउस्सग्ग करे, पारकर प्रगट लोगस्स कहकर शांति कहे। अथवा पडिक्कमणा पूरा होजाने के बाद छींकके विधिमें कहे अनुसार अपशकुनादि निमित्त तीन (३) काउस्सग्ग करे, बाद उपर लिखी गाथा तीन (३) वार पूरी कहे और डाबे पैरसे जमीन को दबावे ॥

१५–द्वादशावर्त्त वंदना विधिः—

गुरुके आगे आधा नमकर "इच्छाकारेण संदिसह भगवन् !, ((१) लाभ), कह लेसहं ?, (जह गहियं पुव्व साहूहिं), आवस्सियाए, (जस्स य जोगो), सिज्जातर ?, (अमुक)" इतना कहे बाद खमा० देकर

(१) ये ब्राकीट ( ) में के शब्द तो गुरुके बोलनेके हैं और ब्राकीट से बाहर के शब्द शिष्यके बोलनेके हैं।

राइमुहपत्ति पडिलेहे और दो वांदणे देवे, बाद 'इच्छा०संदि०भग० ! राइयं आलोउं ?' इच्छं आलोएमि जो मे राइओ० कहकर "सव्वस्स वि राइय" इत्यादि कहे, बाद दो वांदणे देकर दो खमासमण देवे और "इच्छकार सुहराइ" कहकर खमा० देकर अब्भुट्ठिया खमाकर दो वांदणे देकर पच्चखाण करे, बाद खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! बहुवेल संदिसाउं ?' इच्छं इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि० भग० ! बहुवेल करूं ?' इच्छं, कहकर खमा० देवे ।

१६–पाक्षिकादि गुरुवंदना विधिः—

जिन साधुओंने पक्खी, चौमासी अथवा संवच्छरी पडिक्कमणा गुरुसे जुदा किया हो ? वे साधु दूसरे दिन सवेरे गुरुके सामने इरियावही पडिक्कमकर खमा० देकर राइ मुहपत्ति पडिलेहें, दो वांदणे देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! राइयं आलोउं ?' इच्छं आलोएमि जो मे राइओ० कहकर "सव्वस्स वि राइय" इत्यादि कहें । खमा० देकर पक्खी, चौमासी अथवा संवच्छरी मुहपत्ति पडिलेहकर दो वांदणे देकर 'संबुद्धाखामणेणं

अब्भुट्ठिया खमावें, बाद 'इच्छा० संदि० भग० ! पक्खियं आलोउं ?' इच्छं आलोएमि जो मे पक्खिओ कहकर "सव्वस्स वि पक्खिय" इत्यादि कहें। फिर दो वांदणे देकर 'इच्छा० संदि० भग० !' राइयं आलोइयं पडिक्कंतं पत्तेयखामणेणं अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर पक्खियं खामेउं' ? इत्यादि जिसतरह पक्खी आदि पडिक्कमणों में खमाते हैं उसी तरह पत्तेयखामणेणं अब्भुट्ठिया खमावे, दो वांदणे देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! राइयं आलोइयं पडिक्कंतं पक्खियं पडिक्कमावेह' कहे, गुरु कहे—'पडिक्कमेह' बाद 'इच्छं' कहकर करेमि भंते० ! तथा "इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे पक्खिओ०" कहे, बाद पक्खी, चौमासी अथवा संवच्छरी समाप्त मुहपत्ति पडिलेहकर दो वांदणे देवें और समाप्त खामणेणं अब्भुट्ठिया खमावें, बाद खमा० देकर "पियं च मे जं भे" इत्यादि ४ खामणे खमावें, बाद 'इच्छकारी भगवन् ! पसायकरी पक्खी, चौमासी या संवच्छरी तप प्रसाद करावोजी' ऐसा कहें, बाद गुरु 'पक्खी, चौमासी, संवच्छरीके लेखे-१—२—३ उपवास' इत्यादि कहें। राइ वांदणे देकर दो खमा० देवे और "इच्छकार सुहराइ" कहें, खमा० देकर राइ अब्भुट्ठिया खमावें, वांदणे देकर पच्चक्खाण करें, बाद दो खमा० देकर 'बहुवेल संदिसाउं ? बहुवेलकरूं ?' ऐसा कहें ॥

१७-सचित्त-आचित्त रज ओहडावण विधिः—

देवसी पडिक्कमणा होजानेके बाद् खमा० देकर 'इच्छा०संदि० भग० ! साचित्त आचित्त रज ओहडावणऽत्थं काउस्सग्ग करू ?, इच्छं सचित्त अचित्त रज ओहडावणऽत्थं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ०' कहकर ४ लोगस्स का काउस्सग्ग करके, पार कर प्रगट लोगस्स कहे । वर्ष भरमें एक बार चैत्र सुदी ग्यारस, बारस और तेरस अथवा बारस, तेरस और चौद्स अथवा तेरस, चौद्स और पूनमके दिन यह काउस्सग्ग करना चाहिये। कदाचित् ग्यारस और बारसके दिन भूल जावे ? तो भी तेरस, चौद्स और पूनमके दिन तो जरूर ही करना चाहिये, यदि तेरसके दिन भी भूलजाय ? तो दूसरे वर्षकी चैत्री पूनम तक जब रजोवृष्टि होवे तब सूत्र पढना, सज्झाय करना नहीं कल्पता, ऐसा आवश्यक बृहद्वृत्ति वगेरहमें लिखा है

१८-सज्झाय- निक्षेप-विधिः—

साल भरमें दो वार चैत्र सुदी तथा आसोज सुदी पांचम के दिन दुपहर बाद् इरियावही पडिक्कमके खमा० द्ेकर 'इच्छा० संदि० भग० ! सज्झाय निक्खिवणऽत्थं मुहपत्ति पडिलेहुं ?' इच्छं, कहकर मुहपत्ति

पडिलेहे और वांदणे देवे, खमा० देकर कहे– 'इच्छा० संदि० भग० ! सज्झाय निक्खिवुं ?' गुरु कहे 'निक्खिवह' बाद 'इच्छं' कह कर खमा० देकर केह– 'इच्छा० संदि० भग० ! सज्झाय निक्खिवणऽत्थं काउसग्ग करूं ?' गुरु कहे– 'करेह' बाद 'इच्छं सज्झाय निक्खिवणऽथं करोमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ०' कहकर १ नवकारका काउस्सग्ग करे, पारकर प्रगट नवकार १ कहे, फिर खमा० देकर अविधि आशातना खमावे ॥

१९–सज्झाय–उत्क्षेप-विधिः–

कार्तिक वदी तथा वैशाख वदी एकम के बाद जिस दिन अश्विनी, भरणी, रोहिणी, आर्द्रा, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, हस्त, स्वाति, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढा, श्रवण, शतभिषक्, उत्तरा भाद्रपद तथा रेवती इनमें से कोई भी नक्षत्र होवे ?, और गुरुवार या सोमवार होवे ? उस दिन, अथवा मंगलवार और शनि-वार को छोड कर चाहे जिस वार के दिन कपडे धाकर उपासरेमें से काजा निकालकर परठे और वसति संशोधन करे, जो कोई हाडका या कलेवर होवे ? उसको दूर हटवाकर उपासरेमें आकर सब जणे इरिया-वही पडिक्कमें, बादमें वसति संशोधन करने वाला खमा० देकर कहे 'इच्छा० संदि० भग० ! वसति पवेउं ?'

गुरु कहे – ' पवेयह ' इच्छं इच्छामि खमा० देकर कहे – ' भगवन् ! सुद्धावसहि ' गुरु कहे – ' तहत्ति '। सब जणे खमा० देकर ' इच्छा० संदि० भग० ! मुहपत्ति पडिलेहुं ? ' इच्छं, कहकर मुहपत्ति पडिलेहकर वांदणे देवे, फिर खमा० देकर ' इच्छा० संदि० भग० ! छम्मासिय कप्प संदिसाउं ? ' इच्छं इच्छामि खमा० ' इच्छा० संदि० भग० ! छम्मासिय कप्प पडिग्गहुं ? ' इच्छं इच्छामि खमा० ' इच्छा० संदि० भग० ! सज्झाय उक्खिवणऽत्थं मुहपत्ति पडिलेहुं ?, इच्छं ' कह कर मुहपत्ति पडिलेह कर वांदणे देवे, खमा० देकर कहे– ' इच्छा० संदि० भग० ! सज्झाय उक्खिवुं ? ' गुरु कहे– ' उक्खिवह '। ' इच्छं ' कहके फिर खमा० देकर कहे – ' इच्छा० संदि० भग० ! सज्झाय उक्खिवणऽत्थं काउसग्ग करूं ? ' गुरु कहे ' करेह '। बाद ' इच्छं सज्झाय उक्खिवणऽत्थं करेमि काउसग्गं, अन्नत्थ० कहकर १ नवकार अथवा १ लोगस्सका * काउस्सग्ग करे, पारकर प्रगट १ नवकार अथवा १ लोगस्स कहे, खमा० देकर ' इच्छा० संदि० भग० ! असज्झाइय अणाउत्त ओहडावणऽत्थं काउसग्गकरुं ? ' इच्छं असज्झाइय अणाउत्त ओहडावणऽत्थं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ० कहके

* यदि काउस्सग्ग नवकार का करे तो पारके नवकार प्रगट कहे और लोगस्सका काउस्सग्ग करे तो पारके प्रगट लोगस्स कहे.

४ लोगस्सका काउस्सग्ग करे, पारके प्रगट लोगस्स कहे । फिर खमा० देकर इसी तरह 'खुद्दोवद्दव ओहडावणऽत्थं' काउस्सग्ग ४ लोग्गस्स का करे, पारकर प्रगट लोगस्स कहे । फिर खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! सक्काइ वेयावच्चगर आराहणऽत्थं काउसग्ग करूं ?, इच्छं सक्काइ वेयावच्चगर आराहणऽत्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०' कहकर ४ लोगस्सका काउसग्ग करे, पार कर प्रगट लोगस्स कहे, खमा० देकर इच्छा० संदि० भग० ! सज्झाय संदिसाउं' ? इच्छं इच्छामि खमा० 'इच्छा० संदि० भग० ! सज्झाय करुं ?, इच्छं' कहकर गोडोंसे बैठकर १ नवकार तथा दशवैकालिक के "धम्मो मंगल" आदि तीन अध्ययन कहकर ऊपर एक नवकार गिणे, खमा० देके अविधि आशातना खमावे ।

२० लोच करने व कराने का विधिः—

गुरु के आगे इरियावही पडिक्कमकर खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! लोच मुहपात्ति पडिलेहुं ?' इच्छं, कहकर मुहपात्ति पडिलेहे और वांदणे देवे, खमा० देकर कहे– 'इच्छा० संदि० भग० ! लोच संदिसाउं ?' गुरु कहे– 'संदिसावेह'। 'इच्छं इच्छामि खमा०' देकर कहे– 'इच्छा० संदि० भग० ! लोच कराउं ?'

(१)— खुद अपने हाथसेही यदि लोच करे ? तो 'करूं ?' कहे. और गुरुभी उत्तरमें 'करेह अणुन्नायं मए' कहे ।

गुरु कहे– ' करावेह अणुन्नायं मए '। बाद ' इच्छं ' कहकर खमा० देवे।

लोच करने वाला कराने वाले से यदि छोटा हो ? तो लोच करने वाला कराने वाले के आगे खमा० देकर कहे– 'इच्छा० संदि० भग० ! उच्चासण संदिसाउं ?, इच्छं इच्छामि खमा०, इच्छा० संदि० भग० ! उच्चासण ठाउं ?, इच्छं' कहकर खमा० देवे। लोच कराने वाला करने वाले से यदि छोटा होवे ? तो लोच कराने वाला करने वाले के आगे खमा० देकर कहे– ' इच्छकारी भगवन् लोयं करेह '। ' इच्छं ' कहके खमा० देवे।

जिस दिन बुध, गुरु, शुक्र, या सोमवार होवे ? तथा पुनर्वसु, पुष्य, रेवती, चित्रा, श्रवण, धनिष्ठा, मृगशिरा, अश्विनि, हस्त, इनमेंसे कोई भी नक्षत्र होवे ? अथवा कृत्तिका, विशाखा, मघा और भरणी इन चार [४] नक्षत्रों को छोडकर चाहे जो नक्षत्र होवे ? उस दिन लोच कराना, योगिनी [जोगिणी] को पूंठ में अथवा दावी बाजु रखकर लोच कराने बैठना। एकम और नवमी को पूर्वमें, तीज और इग्यारस को अग्नि कोणमें, पाँचम और तेरसको दक्षिणमें, चौथ और बारस को नैऋत्य कोणमें, छठ और चउदसको पश्चिममें, सातम और पूनमको वायव्य कोणमें, दूज और दशमीको उत्तर में, आठम और

(१)—लोच करानेवाले को पाटले उपर बैठाके लोच करने की प्रथा पहले थी इस वास्ते विधिप्रपा में ये दो आदेश लोच कराने वाले के लिये लिखे हैं, परंतु आज कल की प्रथासे लोच करने वाला पाटले इपर बैठता है, इस वास्ते लोच करने वाले को ये दो आदेश लेने चाहिये।

अमावसको ईशान कोणमें योगिनी रहती है। लोच करा चुके बाद लोच करने वाले के हाथ दबावे और स्थापनाचार्य के आगे इरियावही पडिक्कमे, खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! चैत्यवंदन करूं ?' इच्छं, कहकर "जयउ सामिय" चैत्यवंदन तथा जंकिंचि० नमुत्थुणं० जावंति चेइयाइं० जावंत केवि साहू० नमोऽर्हत्० उवसग्ग हरं० तथा जय वीयराय०! कहकर गुरुके पास आकर मुहपत्ति पडिलेहकर दो वांदणे देवे और आगे लिखे मुजब सात खमासमणे देवे—

१– खमा० देकर कहे–'इच्छा० संदि० भग० ! लोच पवेउं ?' गुरु कहे– 'पवेयह'।

२– इच्छं इच्छामि खमा० देकर कहे– 'संदिसह किंभणामो ?' गुरु कहे– 'वंदित्ता पवेयह'।

३– इच्छं इच्छामि खमा० देकर कहे– 'केसा मे पज्जुवासिया' गुरु कहे 'दुक्करं कयं, इंगिणी साहिया' बाद 'इच्छामो अणुसट्ठिं' कहे।

४– खमा० देकर कहे– 'तुह्माणं पवेइयं संदिसह साहूणं पवेएमि' गुरु कहे– 'पवेयह'।

५– इच्छं इच्छामि खमा० देकर तीन नवकार गिणे।

६– खमा० देकर कहे– 'तुम्हाणं पवेइयं, साहूणं पवेइयं, संदिसह काउसग्गं करेमि' गुरु कहे– 'करेह'।

७– इच्छं इच्छामि खमा० देकर 'केसेसु पज्जुवासिज्जमाणेसु सम्मं जन्न अहियासिअं कुइअं कक्कराइअं छिअं, जंभाइअं तस्स ओहडावणिअं करेमि काउस्सग्गं' अन्नत्थ० कहकर "सागरवरगंभीरा" तक १ लोगस्स का काउस्सग्ग करे, पारकर प्रगट लोगस्स कहे, बाद गुरु को तथा सबी बडे साधुओं को वंदना करे।

अपने हाथ से ही यदि लोच करे? तो लोच कर चुके बाद इरियावही पडिक्कम कर "जयउ सामिय" चैत्यंवदन कहकर जंकिंचि० नमुत्थुणं० आदि कहते हुए जय वीयराय ०! तक कहे। बाद गुरु आदि सबी बडे साधुओंको वंदना करे, बाकी मुहपत्ति पडिलेहण तथा सात खमासमणे देने आदि क्रिया न करे॥

२२ पंचशक्रस्तव देव वंदन विधिः—

पहले दोनों गोडे भूमि उपर लगा कर बैठा हुआ योगमुद्रा (१) से नमुत्थुण (२) कहे; बाद इरियावही

(१)–दोनों खुणी पेटउपर लगाके अंगुलियों के बीचमें अंगुलियां डालकर दोनों हाथ जोडना और पद्म (कमलफूल) के आकार से हाथों को रखना उसका नाम योगमुद्रा है। (२) – चैत्यवंदन बृहद्भाष्य में लिखा है कि– "खमा० देकर 'इच्छा० संदि० भग० ! चैत्यवंदन करूं, ? इच्छं' कहकर चैत्यवंदन कहे बाद नमुत्थुणं कहे"।

पडिक्कमकर खमा० देकर ' इच्छा० संदि० भग० ! चैत्यवंदन करूं ?, इच्छं ' कहकर चैत्यवंदन कहे और जंकिंचि० तथा नमुत्थुणं० अरिहंत चेइयाणं० आदि कहकर पडिक्कमणे की तरह चार थुइसे देववंदन करे, फिर नमुथुणं० तथा अरिहंत चेइयाणं० आदि कहकर चार थुइसे देववंदन करे, बाद नमुत्थुणं० जावंति चेइयाइं (१) जावंत केविसाहू० नमोऽर्हत्० कहकर स्तवन कहे, बाद जय वीयराय० ! कहकर फिर नमुत्थुणं कहकर खमा० देकर अविधिआशातना खमावे ॥

२२ –मंडली–रचना–विधिः—

पूर्व या उत्तर दिशा के सामने मुख करके मंडलीबद्ध बैठकर पडिक्कमणा वगेरह करना चाहिये, मंडलीकी रचना श्रीवत्स के आकारकी होती है–

"आयरिया इह पुरओ, दो पच्छा तिन्नि तयणु दो तत्तो। तेहिं पि पुणो इक्को, नव गणमाणा इमा रयणा ॥ १ ॥

---

(१) "खमा० देकर जावंत केविसाहू० नमोऽर्हत्० कहकर स्तवन कहे, बाद फिर नमुत्थुणं आदि जय वीयराय ! तक कहे" यहभी चैत्यवंदन बृहद्भाष्य में लिखा है।

अर्थ—इस मंडली रचनामें आगे आचार्य बैठें, उनके पीछे दो जणे, दो के पीछे तीन जणे, तीनके पीछे दो जणे और दोके पीछे एक जणा बैठे, यह मंडली रचना नव साधुओं के समुदायकी है। सूत्रकी वाचना लेते समय १, सूत्रके अर्थकी वाचना लेते समय २, भोजन करते वखत ३, कालग्रहण लेने में ४, आवश्यक (पडिक्कमणा) करते समय ५, सज्झाय पट्ठवते या करते वखत ६, तथा संथारा पोरिसी भणानेके समय ७, इस रीतिसे मंडली- रचना करनी चाहिये। ॰॰॰॰॰

सूचनाः— पर्यंत आराधना विधि, महापारिट्ठावणिया विधि, अंतिम देववंदन विधि और श्रावक कर्तव्य इनका संग्रह "साधु साध्वी आराधना विधि तथा अंतक्रिया विधि" नामक प्रकरण अलग छपा है, उसको श्रीमती पुण्यश्रीजी स्मारक ग्रन्थमाला ठिः— इमली वाली जैन धर्मशाला- कुन्दीगर भैंरो जी की गली मुः— जयपुर से मंगवा लेना.

॥ इति साधु-साध्वी योग्य आवश्यकीय विधि संग्रहः समाप्तः ॥

आवश्यकीय-विचार संग्रहः

१–काउस्सग्ग–दोष–विचार—

काउस्सग्ग के उगणीस (१९) दोष इस मुजब हैं–घोडेकी तरह आगे पीछे पैर रखकर खडा रहे वह 'घोटक' दोष १, पवन (वायरे)से हिलती हुइ लता (वेलडी) की तरह शरीर हिलावे वह 'लता' दोष २, थंभेके या भींतके सहारे से (ओठा लेकर) खडा रहे वह 'स्तंभ कुड्य' दोष ३, उपर छत वगैरह के मस्तक अडाकर खडा रहे वह 'माल' दोष ४, जैसे कपडे रहित शबरि (भीलडी) दोनों हाथों से अपने लज्जनीय अंगको ढांकती है वैसे गुह्य (नाभि से नीचेके) स्थान पर हाथ रखकर खडा रहे वह 'शबरि' दोष ५, कुलवान स्त्री की तरह मस्तक को अत्यंत नीचा नमा कर खडा रहे वह 'वधू' दोष (१) ६, दोनों पैर चौडे रखकर या तो भेले करके खडा रहे वह 'निगड' दोष ७, नाभिसे उपर और गोडों से नीचा चोल-

१—पगों के अंगूठे का अगला भाग देखसके वैसे नाक उपर नजर लगाकर काउस्सग्ग में खडा रहे।

पट्टा पहर कर खडा रहे वह 'लंबोत्तर' दोष ८, स्तनोंको चोलपट्टेसे ढांक दे. यानि स्तनों से उपर चोलपट्टा पहिरकर खडा रहे वह 'स्तन' दोष ९, गाडीकी ऊधीके मुताबिक पगकी दोनों एडियां मिलाकर अँगूठे जुदे जुदे रखकर अथवा दोनों अँगूठे मिलाकर एडियां जुदि जुदि रखकर खडा रहे वह 'शकटोर्ध्विका' दोष १०, साध्वीकी तरह दोनों खंधोंके उपर कपडा ओढकर खडा रहे वह 'संयति' दोष ११, लगामकी तरह ओघा आगे रखकर खडा रहे अथवा लगाम सहित घोडेकी तरह शिर (मस्तक) ऊंचा नीचा करे वह 'खलिन' दोष १२, कागडे की तरह आंख इधर उधर हिलावे वह 'वायस' दोष १३, जूं आदिके भयसे कोठके फलकी तरह गोल आकारसे शरीर के कपडे लपेट कर जंघा आदिके बीच में दबाकर खडा रहे वह 'कपित्थ' दोष १४, भूत लगे हुए मनुष्यकी तरह शिर घूमाता हुआ खडा रहे वह 'शीर्षोत्कंपित' दोष १५, दूसरे को किसी कामकी मना करनेके लिये मूंगेकी तरह 'हुं हुं' ऐसा शब्द करे वह 'मूक' दोष १६, लोगस्स अथवा नवकारकी गिणतीके लिये अंगुलि अथवा भ्रु (भोंपण) हिलावे वह 'अंगुलिका-भ्रु' दोष १७, भट्ठी उपर पकते हुए शराब की तरह 'बुड बुड' शब्द करे अथवा शराब पीये हुए मनुष्यकी तरह

इधर उधर घूमता हुआ खडा रहे वह 'वारुणी' दोष १८, नक्कार आदि चिंतवता हुआ बंदरकी तरह होठ फरकावे वह 'प्रेक्षा' दोष १९ है, इन उगणीस दोषों में से कोइभी दोष काउस्सग्ग में नहीं लगाना चाहिये ।

२—वांदणे देनेका विचार—

आसनके पिछले भाग पर खडे रहकर आधे नमे हुए 'इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए अणुजाणह मे मिउग्गहं' इतना कहकर 'निसीहि' कहते हुए आसनके अगले भागमें आकर संडासे पूजता हुआ जीमणे पगतरफ ओघेकी दंडी रखकर खडे पगोंसे बैठे, बाद डावे गोडे ऊपर मुहपत्ति रखकर ओघेकी दशियों के उपर गुरुके दोनों चरणोंकी कल्पना करे, बादमें हाथ जोड कर 'अहो' का 'अ' धीरे से बोलते हुए जोड़े हुए दोनों हाथ ओघेकी दशिओं पर लगाकर जोरसे 'हो' बोलते हुए दोनों हाथ अपने ललाट (निलाड) के लगावे, यह एक आवर्त हुआ, इसी प्रकार दूसरे और तीसरे आवर्तमें भी 'काय' तथा 'काय' का 'का' धीरेसे बोलते हुए दोनों हाथ ओघेकी दशिओं पर लगाकर 'यं' तथा 'य' ऊंचे स्वरसे बोलते हुए अपने ललाट को लगावे, बाद हाथ जोड़े हुए गुरुके मुखपर नजर लगाकर 'खमणिज्जो भे किलामो

अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो (१) वइक्कंतो' इतने तक कहे, बाद 'जत्ता भे' का 'ज' धीरे स्वरसे बोलते हुए दोनों हाथ ओघेकी दशिओं पर लगाकर अपने ललाट की तरफ हाथ लेजाते हुए बीचमें मध्यम (नहीं धीरा और नहीं ऊंचा, ऐसे) स्वरसे 'ता' बोलकर 'भे' ऊंचे स्वरसे बोलते हुए दोनों हाथ ललाटके लगावे, यह चौथा आवर्त हुआ, इसी तरह पांच में और छट्ठे आवर्त में भी 'जवणि' और 'जं च भे' का 'ज' तथा 'ज' धीरे स्वरसे बोलते हुए ओघेकी दशिओंके हाथ लगाकर अपने ललाट की तरफ हाथ लेजाते हुए बीचमें 'व' तथा 'च' मध्यम स्वरसे बोलकर 'णि' तथा 'भे' ऊंचे स्वरसे बोलते हुए दोनों हाथ अपने ललाटके लगावे, बाद 'खामेमि खमासमणो देवसियं (२) वइक्कमं' कहकर खडा होजावे और आसनके पिछली तरफ जाकर खडा हुआही 'अवस्सियाए पडिक्कमामि खमासमणाणं देवसिआए (३) आसायणाए' से लगाकर 'वोसिरामि' तक संपूर्ण सूत्र कहे। फिर दूसरी वार 'इच्छामि खमा-

(१)—राइमें 'राइवइक्कंता' पक्खीमें 'पक्खो वइक्कंतो' 'चौमासीमें चोमासी वइक्कंता' संवच्छरीमें 'संवच्छरो वइक्कंतो' कहे।
(२)—राइमें- 'राइयं' पक्खीमें 'पक्खियं' चौमासी में 'चोमासीयं' और संवच्छरीमें 'संवच्छेरीयं' कहना।
(३)—राइमें 'राइयाए' पक्खीमें 'पक्खियाए' चौमासीमें 'चोमासियाए' और संवच्छरीमें 'संवच्छरियाए' कहना।

समणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए अणुजाणह मे मिउग्गहं' तक कहते हुए आसन के आगेकी तरफ आकर 'निसीहि' बोलते हुए संडासे पूंज कर बैठके पहलेकी तरह ही सब विधि करते हुए संपूर्ण सूत्र कहे, परंतु खड़े होकर आसनके पिछली तरफ न जावे, उसी जगह खडा रहे और 'आवस्सियाए' यह पद न कहे।

३—छम्मासी तप चिंतन–विचार—

काउस्सग में रहा हुआ विचार करे कि–जैसे भगवान् श्रीमहावीर स्वामीने छ महीने के उपवास किये थे वैसे हे जीव ! तूं भी क्या करसकता है ?, नहीं, यदि पूरे छ महीने के उपवास नहीं कर सकता है तो क्या एक दिन कम छ महीने करसकता है ?, नहीं, इसी तरह २ दिन कम ३ दिन कम यावत् २९ दिन कम छ महीने कर सकता है ?, नहीं, यदि इतने दिनतक उपवास नहीं कर सकता है तो क्या पांच महीने करसकता है ?, नहीं, इसी तरह अपने जीवको पूछते जाना और जो न करसके उसका अपने आप मनही से मना करते जाना, ऐसे एक एक दिन कमती करते हुए ४ महीने, ३ महीने, २ महीने, यावत् एक महीने तक विचार करलेना, वाद एक महीने में भी एक एक दिन कमती करते हुए १३ दिन कमती करदेना अर्थात्

अपने आत्माको पूछे कि– १३ दिन कम एक महीना यानि १७ उपवास तू करसकता है?, नहीं, यदि इतना भी नहीं कर सकता है तो क्या चौतीस भक्त (१६ उपवास) करसकता है?, नहीं, इसी प्रकार बत्तीस भक्त (१५ उ०), तीस भक्त (१४ उ०), अट्ठाइस भक्त (१३ उ०), छव्वीस भक्त (१२ उ०), चौवीस भक्त (११ उ०), बाईस भक्त (१० उ०), वीस भक्त (९ उ०), अट्ठारे भक्त–अट्ठाही (८ उ०), सोले भक्त (७ उ०), चौदह भक्त (६ उ०), बारे भक्त (५ उ०), दशम भक्त (४ उ०), अट्ठम (३ उ०) छट्ठ (२ उ०), चउत्थ भक्त (१ उ०), आयंबिल–निवी–एकलठाणा–एकासणा–बियासणा–अवऽड्ढ–पुरिमऽड्ढ –साढपोरिसी–पोरिसी–नमुक्कारसहि करसकता है?, इसी तरह अपने जीवको पूछकर शक्ति मुजब जो पच्चक्खाण करना हो वह मनमें धारकर काउस्सग्ग पारलेवे।

इस छम्मासी तपचिंतनके विचारमें यह खयाल रखना कि–जो पच्चक्खाण अपने से न बन सके उसके लिये तो यह उत्तर विचारना कि–" यह पच्चक्खाण मेरेसे नहीं बन सकता "। और जो पच्चक्खाण कर तो सकता है परन्तु उस दिन वह पच्चक्खाण करनेका भाव न हो तो ऐसा विचारना कि–" यह पच्चक्खाण

कर तो सकता हूं परन्तु आज भाव नहीं है"। और जो करने की इच्छा हो उसके वास्ते यह विचारना कि—"अमुक पच्चक्खाण करने की मेरी इच्छा है"।

४—सिज्जातर-विचार—

साधु या साध्वी जिस मकानमें उतरे उस मकानका स्वामी सिज्जातर कहाता है, घर धणीने यदि किसी दूसरेको भाडे देदिया हो अथवा किसी कारणसे दूसरेके नामपर चढा दिया हो तो भाडे वालेका अथवा जिसके नामपर चढाया हो उसका घर सिज्जातर करना चाहिये। रातमें संथारा पोरिसी भणाकर निद्रा (उँघ) लेनेके वाद तथा राइ पडिक्कमणा करनेके वाद सिज्जातर होता है सो उस मकानको छोडकर जिस वक्त विहार करे? दूसरे दिनके उस वक्त तक चारों प्रकारका आहार ओघा—चद्दरादिक कपडे—पात्रे—कंवल आदि चीजें सिज्जातर के घरसे न लेनी, परन्तु राख-कुंडी-घास-पाट पाटले अथवा लेप करने की कोइ चीज चाहिये तो सिज्जातरके घरसे भी ले सकते हैं।

यदि एक मकानमें निद्रा लेवे और राइ पडिक्कमणा किसी दूसरे मकानमें जाकर करे? तो दोनों

मकान वाले सिज्जातर होते हैं। एक समुदाय के ही साधु या साध्वी अधिकहों और मकान उतरनेका छोटाहो जिस से दो चार मकानों में जुदे जुदे ठहरे हों तो गुरु या गुरुणीने जिसमें निद्रा ली हो तथा राइ पडिक्कमणा किया हो उसी मकानका मालिक सिज्जातर होता है अन्य नहीं होता। यदि कोइ भूलसे सिज्जातरके घरका आहार पाणी आदि लाकर खावे पीवे अथवा वापरे तो उसको एक (१) उपवास की आलोयणा आवें।

९—आहार-दोष-विचार—

गृहस्थ के घर गौचरी लेते हुए ४२ बेतालीस दोष और उपासरे में आकर आहार करते हुए मंडली के पांच दोष सब मिलकर ४७ दोष साधु साध्वियों को त्यागने चाहियें, वे इस मुजब हैं—

"सोलस उग्गम दोसा, सोलस उप्पायणाए दोसा य। दस एसणाए दोसा, गासेसण मिलिय सगयाला १"

अर्थ— उद्गमनके १६ दोष जो कि आहार (रसोइ) बनाते हुए केवल गृहस्थोंसेही लगते हैं, उत्पा-दन के १६ दोष. जो गौचरी जाते हुए साधु-साध्वियोंसे ही लगते हैं, ग्रहणषैणा नाम ग्रहण करते

(१) "सिज्जातरपिंडे आं० मयंतरे पु०" विधिप्रपा। "शय्यातरीयापिंडस्य खादने धर्मं (उप०) मादिशेत्" आचार दिनकर पत्र २५२।

(वहोरते) हुए आहारके शुद्धताकी तलाशी करना उसके १० दोष, जो गृहस्थ तथा साधु. दोनोंसे लगतेहैं, और ग्रासैषणा (मंडली) के ५ दोष, जो आहार–पाणी करते समय लगतेहैं, इस प्रकार सब मिलकर ४७ दोप आहार संबंधी होतेहैं। इनमेंसे पहले उद्‌गम के १६ दोष बतातेहैं—

"आहाकम्मुद्देसिय, पूइंकम्मे य मीसजाए य । ठवणा पाहुडियाए, पाओयर कीअ पामिच्चे ॥ २ ॥"

"परिअट्टिए अभिहडु,-ब्भिन्ने मालोहडे य अच्छिज्जे । अणिसिट्ठंज्झोयए, सोलसपिंडुग्गमे दोसा ॥ ३ ॥"

अर्थः— साधु या साध्वी के वास्ते सचित्त वस्तुको अचित्त करे, अथवा अचित्त वस्तुको साधुके निमित्त रांधकर तय्यार करना वह 'आधाकर्म' दोष १, गृहस्थने अपने वास्ते बनाए हुए आहारको साधु के वास्ते दही–गुड (गोल–सक्कर) आदिके मिलानसे अथवा फिरसे दूसरी वार छमका–वघार आदि देकर स्वादिष्ट वनाना वह 'उद्देशिक' दोष २, आधाकर्म आदि दोष रहित शुद्धमान आहारमें किंचित् मात्रभी आधाकर्मी आहार मिलाकर वहरावे, अथवा शुद्धमान आहार भी आधाकर्मी आहारसे खरडी हुई

कुछि आदिसे वहरावे वह 'पूतिकर्म' दोष ३, शुरुसे ही साधु और गृहस्थ दोनोंके वास्ते जो आहार बनावे वह 'मिश्रजात' दोष ४, साधुको वहराने की अभिलाषासे जो आहार अपने बरतनमेंसे थोडी या ज्यादा देरतक जुदा स्थापन करके रखे वह 'स्थापना' दोष ५, अपने पुत्रादिकके विवाह आदिमें बने हुए उत्तम आहारादिक साधुको बहरानेसे विशेष लाभ होनेकी अभिलाषासे विवाह आदि उत्सव आगे पीछे करे, अर्थात् गाममें जिस समय साधुका योग होवे उस समय विवाह आदि करे और उस विवाह आदि उत्सव संबंधी आहारादि साधुको बहरावे वह 'प्राभृतिका' दोष ६, अंधेरे में रही हुई वस्तु दीवे आदिसे शोधकर लाके बहरावे, अथवा अंधेरेमें साधु बहरते नहींहैं इससे प्रकाश होनेके वास्ते भींत तोडाकर बारी वगैरह करावे, अथवा अंधेरे में बनाया हुआ आहार साधुको बहरानेके वास्ते प्रकाशमें लाकर रखे वह 'प्रादुष्करण' दोष ७, साधुके वास्ते वेचाती लाकर बहरावे वह 'क्रीत' दोष ८, साधु के वास्ते उधारा लाकर बहरावे वह 'प्रामित्य' दोष ९, अपनी वस्तु दूसरेको देकर बदलेमें दूसरेकी वस्तु लाकर साधुको वहरावे वह 'परावर्तित' दोष १०, अपने घरसे अथवा अन्य गामसे साधुके सामने

लाकर वहरावे वह ‘ अभ्याहृत ’ दोष ११, घृतादिकके कूडले आदिके मुखपर लगी हुई मट्टी वगैरह उखेड कर वहरावे, अथवा जो हमेशां नहीं खोले जाते वैसे मजबूत बंध किये हुए कमाड खोलकर वहरावे वह ‘ उद्भिन्न ’ दोष १२, जिसके पगाथिये न हों वैसी मेडी उपरसे उतार कर वहरावे, अथवा भूमिघरमें से निकाल कर और दोनों एडियां ऊंची करके अगूठों पर खडे रहकर अथवा पाटला वगैरह लगाकर जिस मेंसे चीज उतारसके वैसे शिक्के उपरसे उतार कर अथवा बडी पेटी तथा कोठे आदिमेंसे बाहर निकाल कर और जहां पर नजर न पहुंचे तथा जहां रही हुई चीज भी बडी मुश्किलसे लेसके वैसे ऊंचे आले अथवा वारीमेंसे लेकर वहरावे वह ‘ मालापहृत ’ दोष १३, मालिककी इच्छा बिना दूसरा (गाम आदिका स्वामी–घरका मालिक तथा चोर आदि) कोई जबरदास्तिसे खोसकर वहरावे वह ‘ आच्छेद्य ’ दोष १४, जिसके बहुत मालिक हों अथवा एक मालिकने अपने बहुत नौकर–चाकरोंके वास्ते खेत आदिमें जो आहार भेजा हो अथवा जो हाथीके लिये बनाया हो वैसा आहार सब मालिकोंकी इच्छा बिना और उनकी गेर हाजरीमें वैसेही सब नोकर चाकरोंकी तथा महावत और हाथीके मालिक राजा आदिकी

रजा बिना यदि कोई अकेला अथवा अन्य आदमी साधुको वहरावे तो वह 'आनिसृष्ट' दोष १५, अपने घर निमित्त रसोई करना शुरु कर देनेके बाद गाममें साधुओंके आनेकी खबर मिलने पर अपने वास्ते रंधाते हुए अन्नमें साधुके निमित्तसे दूसरा अन्न मिला कर अधिक रसोई करे वह 'अध्यवपूरक' दोष १६, ये उद्गमके १६ दोष हैं, जो कि आहार बनाते हुए गृहस्थोंसे ही लगते हैं, इन से बचनेके वास्ते गोचरी जाने वाले साधु-साध्विओंको चाहिये कि-वे आहार लेते समय पूरी सावधानी रखें, गृहस्थोंके इंगित, आकार तथा चेष्टा वगैरहसे जिस आहारमें किसीभी दोषकी संभावना हो वह आहार न लेवें ॥

अब केवल साधुसे लगने वाले उत्पादनाके १६ दोष बताते हैं:—

"धाई दूइ निमित्ते, आजीव वणीवगे तिगिच्छा य। कोहे माणे माया, लोभे य हवंति दस एए ॥ ४॥"

"पुव्विं पच्छा संथव, विज्जा मंते य चूण्ण जोगे य। उप्पायणाइ दोसा, सोलसमे मूलकम्मे य ॥ ५॥"

अर्थः— बालकको धवाने (धवराने) वाली, स्नानादि कराने वाली, अलंकार (दागिना) पहराने वाली, रमाने वाली और उपाडने (तेडने) वाली ये पांच प्रकार की धात्री (धामाता) कहातीहैं, इनमें

से कोइभी काम खुद करके अथवा दूसरेसे कराके गृहस्थको खुश करता हुआ गौचरी लेवे वह 'धात्रीपिंड' दोष १, एक दूसरेकी कही हुई वात एक दूसरेके पास जाकर परस्परमें कहने वाली दूती कहातीहै, ऐसे दूतीपणा करके जो गौचरी लेवे वह 'दूतीपिंड' दोष २, शुभ अशुभ चेष्टा तथा ज्योतिष आदि आठ प्रकारके निमित्तसे भूत–भविष्यत्–वर्तमान कालमें होने वाले सुख–दुःख–लाभ–अलाभ–जीवित–मृत्यु आदि बताना वह निमित्त कहाता है, इस तरह करके जो गौचरी लेवे वह 'निमित्तपिंड' दोष ३, साधु साध्वी गृहस्थके जाति–कुल–गण–(१) कला और व्यापार की प्रशंसा करते हुए मोगम पणेसे अपनेको उस गृहस्थके तुल्य जाति कुलादि वाला बताकर, अथवा 'मैं अमुक जाति या कुलका हूं' ऐसे साफ साफ कहकर जो गौचरी लेवे वह 'आजीवपिंड' दोष ४, ब्राह्मण आदिके भक्तोंके आगे उनके माने हुए गुरु ब्राह्मण आदिकी प्रशंसा करके और 'मैं भी उनका ही भक्त हूं' ऐसा बताकर जो गौचरी लेवे वह 'वनीपक पिंड' दोष ५, खुद अपने आप किसी रोगी को दवाई देकर, अथवा दूसरेसे दिलाकर अथवा

(१) "मल्लसारस्वतादिर्गणो लोक प्रतीतः" इति पिंडविशुद्ध्यवचूरिः।

दवाई या वैद्यक बताकर जो गौचरी लेवे वह 'चिकित्सा पिंड' दोष ६, आहार न मिलनेसे क्रोधमें आकर प्रयुक्त किये हुए मारण–उच्चाटन आदि विद्या चमत्कारको देखाकर अथवा साप देना आदिसे डरे हुए गृहस्थसे जो आहार लेवे वह 'क्रोधपिंड' दोष ७, दूसरे साधुओंके चढानेसे अथवा अपमान करनेसे या अपनी लब्धिकी प्रशंसा सुनकर अभिमानमें आया हुआ 'तुम देखो तो सही मैं अमुकके घरसे अमुक आहार अभी लाकर तुमको देता हूं' इस तरह प्रतिज्ञा पूर्वक बोलता हुआ गृहस्थके घर जाकर अनेक तरहके चाटु वचनों से उस गृहस्थको अभिमानमें चढाकर, अथवा धमकाकर फैल फितूर करके, स्त्री आदि शेष परिवारवालों की इच्छा विना घरके मालिकसे जो गौचरी लेवे वह 'मानपिंड' दोष ८, माया (कपट) से नवे नवे वेष करके और नवी नवी भाषा बोलनेसे गृहस्थको खुश करके, अथवा विद्याके जोरसे जुदे जुदे रूप बना कर जो आहार लेवे वह 'मायापिंड' दोष ९, अधिक लोभसे बहुत घरोंमें फिर फिरकर अच्छा स्वादिष्ट आहार लावे अथवा गौचरी फिरते हुए किसीके घरपर अच्छा आहार मिलने पर बहुत ज्यादा लेलेवे वह 'लोभ पिंड' दोष १०, आहार लेनेके पहले देने वालेकी प्रशंसा करे वह 'पूर्वसंस्तव' दोष और

आहार लेनेके पीछे देने वालेकी प्रशंसा करे वह ' पश्चात्संस्तव ' दोष कहाता है, अथवा देने वालेकी और अपनी अवस्था मुजब उसके साथ अपना संबंध घड़ लेवे, जैसे कि–देने वाले स्त्री या पुरुष की अवस्था अपनेसे अधिक होवे तो तुम्हारे जैसे मेरे माता या पिता थे, इसी तरह यदि समान अवस्था हो तो बहिन या भाई का और यदि छोटी अवस्था हो तो पुत्री या पुत्र का संबंध कह बतावे वह ' पूर्वसंस्तव ' दोष, और इसी मुजब अपने से, वड़े (मोटे) के साथ जो सासु या ससुरे आदिका संबंध कहे वह ' पश्चात्संस्तव ' दोष कहाता है ११, गृहस्थ को विद्या (१) अथवा मंत्रसे (२) मंत्रित करदेवे बाद उसके पाससे गौचरी लेवे अथवा विद्या तथा मंत्रके चमत्कार बताकर जो गौचरी लेवे वह अनुक्रमसे ' विद्यापिंड ' दोष १२, और ' मंत्रपिंड ' दोष कहाताहै १३, अदृश्य होना आदि जिससे होसके वैसा चूर्ण (अंजन–सुरमा) आदि अपने नेत्रोंमें आंज कर लोगोंको खुश करके, अथवा ऐसा चूर्ण बनानेकी रीति दूसरोंको बता

(१)--जिसकी अधिष्ठायिका देवी हो और जाप होम आदि क्रिया करनेसे सिद्ध होवे वह विद्या कहाताहै । (२)–जिसके अधिष्ठायक पुरुष रूपवाले देवता हो और जाप होम आदि क्रिया किये विना पाठ मात्रसे जो सिद्ध होवे वह मंत्र कहाता है ।

कर जो गौचरी लेवे वह ' चूर्ण पिंड ' दोष १४, दो चार अथवा दश वीस चीजें भेली मिला कर सौभाग्य दौर्भाग्य आदि करने वाला पग आदिमें लगानेका लेप आदि बनाना उसको योग कहते हैं, ऐसी योगवाली चीजों का लेप पग आदिके करके जमीन की तरह पानी उपर चलना आदि चमत्कार बताकर अथवा ' अमुक अमुक चीजें भेली करके पानी आदिके साथ खाने–पीने से अमुक नफा या नुकसान होता हैं ' इत्यादि बताके गौचरी लेवे वह ' योग पिंड ' दोष १५, विद्या–मंत्र तथा औषधी आदिके बलसे गर्भधारण–गर्भपात अथवा गर्भस्तंभन करके नपुंसक को पुरुषादिक और पुरुष आदिक को नपुंसक आदि बनाके जो गौचरी लेवे वह ' मूल कर्म पिंड ' दोष १६, ये १६ दोष उत्पादना के और पहले कहे हुए उद्गम के १६ दोष मिला कर ३२ दोष गवेषण एषणा के नाम से कहाते हैं, ' गौचरीमें ही ये दोष टालने के हैं ' ऐसा नहीं है, किन्तु कपड़े पात्रे आदिमें भी टालने चाहिये ।

अब साधु और गृहस्थ दोनोंसे लगने वाले ग्रहण एषणाके १० दोष बताते हैं:—

" संकिअ मक्खिय निक्खित्त,-पिहिय साहरिय दायगुमीसे । अपरिणय लित्त छड्डिय एसण दोसा दस हवंति ६ "

अर्थ— गृहस्थके घरपर रसोइ आदि अधिक देखकर उस आहारमें आधाकर्म—उद्देशिक आदि किसी दोपकी शंका होने परभी पूछ ताछ करके शुद्धताका निश्चय किये विना वहरलेवे, इसीतरह उपासरेमें आये बाद आहार करते समय दूसरे साधुके गौचरीमें आयाहुआ अपने समान आहार देखकर दिलमें आधाकर्म आदि दोपकी शंका होते हुएभी निश्चय किये विना जो आहार खावे वह 'शंकित' दोष १, जो बरतन अथवा कुर्छी आदि सूखी अथवा भींजीहुई मट्टीसे खरडे हुए हो तथा जिसमें सचित्त पाणीके छांटे लगे हो तथा जो सचित्त पाणीसे भींजे हुए हो और जिसमें कापकूप किये हुए आंबे आदि वनस्पतिके छोटे छोटे टुकडे लगे हों वैसे बरतन वा कुर्छी या हाथोंसे गृहस्थ वहरावे और साधु लेवे वह 'मृक्षित' दोष कहाताहै, और वहरानेके पहले हाथ तथा बरतन धोकर अथवा मांजकर वहरावे वह 'पूर्वकर्म' दोष कहाताहै, इसीतरह वहरानेके पीछे वहराने वाला अपने हाथ तथा जिससे वहराया हो वह बरतन धोवे या मांजे वह 'पश्चात्कर्म' दोष कहाताहै, येभी दोनों दोष 'मृक्षित' दोषमेंही गिणे जातेहैं २, जो आहार सचित्त मट्टी—पाणी—अग्नि तथा वनस्पतिके उपर पडा हो, अथवा आहारवाला बरतन (कटोरदान आदि). उपर रही हुई सचित्त मट्टी आदि चीजोंपर

पडा हो, तथा जो पापड आदि पवनसे उडते हुए आकाशमें अधर रहे हो, अथवा जो आहार पवनसे भरीहुई मशक (दीवडी) आदिके उपर पडा हो और जो आहार बैल (बलद) आदि चलने फिरनेवाले जानवरोंकी पीठपर लदा (रखा) हुआ हो वैसा आहार लेवे वह ' निक्षिप्त ' दोष ३, कटोरी (वाटकी) आदि जिससे वहरानेका विचार हो उसमें पहलेका जो कोई सचित्त—अचित्त या मिश्र अन्नादि जो पडा हो उसको दूसरे किसी सचित्तादिके भेला डालकर उसी बरतनसे गृहस्थ वहरावे और साधु लेवे वह ' संहृत ' दोष ४, वहरानेवाला स्त्री या पुरुष जो ६०—७० वर्षसे अधिक वृद्ध उमरका होजानेसे कमजोरीके कारण आहारका बरतन आदि हाथमें अच्छीतरह पकड नहीं सकता हो और जिसके हाथमेंसे चीज पडजाती हो १, जो घरका मालिक न हो यानी अतिवृद्ध होजानेके कारण घरमें देने लेनेका जिसको अधिकार न हो २, जो नपुंसक हो ३, जिसका शरीर थर थर कांपता हो ४, जिसको बुखार (ताव) चढा हो ५, जो अंधा हो ६, जो आठवर्षसे कम उमरका बालक हो ७, जो मदिरा—भांग—गांजा आदिके नशेमें बेभान हो ८, जो पागल हो ९, जिसको भूत वगैरह लगा हो १०, जिसके हाथ अथवा पग कटे हुए हो ११, जिसके पगोंमें लकडीकी पावडियां पहरी हुई हो १२, जिसके

गलत्कुष्ट (झरता हुआ कोढ) हो १३, जिसके हाथपगोंमें बेडियां पहराई हुई हो १४, जो उखलमें धान्या-
दिको मुशलसे कूटती हो १५, घट्टीसे गहुं आदि अथवा शिला उपर कोई सचित्त वस्तु पीसती हो अथवा दल-
ती हो १६, चणें आदि भूंजती (सेकती) हो १७, अराटिया कातती हो १८, चरखीसे रू पीलती हो १९,
हाथोंसे रू छूटा छूटा करती हो २०, रू पींजती हो २१, विलोवणा (जलका) करती हो २२, भोजन करती
हो २३, जिसके आठ महीनेसे (१) अधिक दिनका गर्भ हो २४, जो आहार नहीं खानेवाले बिल्कुल छोटे बाल-
कको उठाये हुए हो अथवा बच्चेको स्तनपान कराती (धवराती) हो २५, जिसके हाथमें सचित्त लूण अथवा
मट्टी—पाणी—अग्नि—पवनसे भरीहुई मशक (दीवडी)—वनस्पति तथा चलता फिरता जानवर हो अथवा फूलोंकी
माला वगेरह पहरे हुए हो २६, जो छ कायका विनाश करती हो २७, ऐसे ऐसे मनुष्योंसे जो आहार लेवे
वह ' दायक ' दोष ६, देनेकी चीज थोडी होनेके कारण लज्जासे अथवा जुदी जुदी वहरानेमें देर लगेगी इस-

(१)—आठ महिनेसे अधिक दिनके गर्भवालीभी साधुके निमित्त उठना वैठना या नीचा नमना आदि परिश्रम न करती हुई जैसे जिस जगह वैठीहो वैसे उसी जगह वैठी हुई यदि वहरावे तो वहरना कल्पताहै, अन्यथा नहीं।

वास्ते सब चीजें एक साथ वहरादूं इस उत्कंठासे अथवा इनको सचित्त भक्षणका दोष लगाउं ऐसी द्वेष बुद्धिसे अथवा विना खयालसे कल्पनीय और अकल्पनीय वस्तुओंको भेल सेल करके जो आहार गृहस्थ वहरावे और ऐसा भेल सेलवाला आहार साधु लेवे वह 'उन्मिश्र' दोष ७, जो फल–रस आदि अचित्त न हुए हों अथवा जिसके अनेक मालिक हो उनमेंसे एक दो के परिणाम वहरानेके हुए हों लेकिन सबके परिणाम वहरानेके नहीं होवे तोभी उन सबके सामने वहरानेके परिणाम वाले वहरावे, अथवा जो दो चार साधु साथमें गौचरी गये हो उनके सबके मनमें 'ये फलादिक अचित्त होगयेहैं' ऐसा जचे विना जो फल–रस आदि लेवे वह 'अपरिणत' दोष ८, साधुके वास्ते दूध–दही–घी–शाक आदिमें हाथ तथा बरतन खरडे तथा शाक आदिका बरतन बिल्कुल खाली करके सब वस्तु साधुको वहरा देवे और साधु वहरलेवे वह 'लिप्त' दोष ९, घी–दूध–दही आदिके छांटे डालते हुए अथवा कोईभी आहार भूमि उर गिराते हुए वहरावे और साधु लेवे वह 'छर्दित' दोष १०, इसतरह ये दश दोष ग्रहणएषणाके होतेहैं, यानि साधुके वहरते हुए और गृहस्थके वहाराते हुए ये १० दोष लगते हैं।

अब ग्रासैषणा (मंडली) के पांच दोष. जो कि आहार–पाणी करते समय लगतेहैं. वे बतातेहैं—

" संजोयणाऽपमाणे, इंगाले धूमाऽकारणे पढमा। वसहि बहिरंतरे वा, रसहेऊ दव्व संजोगा ॥ १ ॥"

अर्थः—उपासरेके बाहर, यानि गृहस्थके घरपर वहरते समय अथवा उपासरेमें आये बाद आहार–पाणी करते सयम अच्छा स्वाद बनानेके वास्ते एक वस्तुमें दूसरी वस्तु मिलावे वह पहला ' संयोजना ' दोष १, जितना आहार करनेपर मन–वचन–कायासे आलस आदि प्रमाद रहित स्वाध्याय–ध्यान–तप–संजमादिक की आराधना सुखसे हो सके उतना आहार साधु-साध्विओंको करना चाहिये, इससे अधिक आहार करे वह 'अप्रमाण' दोष २, रागरूपी अग्नि चारित्ररूपी बावनाचंदनको बालकर अंगारे (कोयले) के समान करदेताहै, वास्ते आहार–पाणी करते हुए अच्छे स्वादिष्ट आहारकी अथवा वैसा अच्छा आहार देनेवालेकी प्रशंसा करे वह ' अंगार ' दोष ३, जैसे अच्छा मकान धूंएसे मैला होजाताहै वैसेही द्वेषरूप धूंएसे चारित्ररूप सुंदर मकान मैला होजाताहै, वास्ते आहार–पाणी करते हुए स्वादरहित–लूखे–सूखे खराब आहार की अथवा वैसा आहार

देनेवालेकी निंदा करे वह 'धूम्र' दोष ४, विना कारण (१) आहार–पाणी करे वह 'अकारण' दोष ५, ये मंडलीके पांच दोषहैं, इनको टालकर अच्छी क्रियामें वर्तनेवाले साधु–साध्विओंको आहार करना चाहिये।

६—मुहपत्ति–पडिलेहण–विचार—

उत्कटिक आसन (खडे पगों) से बैठकर मुहपत्ति खुल्ली करके " सूत्र अर्थ साचो सद्दहुं १ " ऐसा बोलता हुआ अपने सामनेका पसवाडा देखे १, बाद मुहपत्ति पलटके " सम्यक्त्वमोहनीय–मिथ्यात्वमोहनीय–मिश्रमोहनीय परिहरुं ३-४ " ऐसा बोलताहुआ दूसरा पसवाडा देखकर तीन पुरिम करे, यानि मुहपत्तिको तीन वेर

(१)— भूख मिटानेके वास्ते १, आचार्य–उपाध्याय–बालक–वृद्ध–तपस्वी–बीमार आदिकी वेयावच्च (सेवा-भक्ति) करनेके लिये २ इरियासमितिकी शुद्धिके वास्ते ३, संजम पालनेके वास्ते ४, जीवितव्य (आयुष) की रक्षाके वास्ते ५, सूत्र तथा अर्थ चिंतनरूप धर्मध्यानको स्थिर करनेके लिये ६, इन छः कारणोंसे साधु-साध्वी आहार-पाणी करें। इसी तरह आहार न करनेकेभी छः कारणहैं, वे इस मुजबहैं– बुखार (ताव) आदि कोईभी रोग होने पर १, देवता–मनुष्य तथा तिर्यंचोंके किये हुए उपसर्ग होने पर २, भूख सहन करनेके वास्ते ३ विषय विकारको दवाकर ब्रह्मचर्य (शीलव्रत) की रक्षाके लिये ४, वर्षा वरसती हो, धूंअर पडती हो, रस्तेमें देडके अलसिये आदि त्रस जीव अधिक उत्पन्न हुए हों तो उनकी विराधना न होनेके वास्ते ५, आयुषका अंतिम समय नजीक मालूम होनेपर अनशन आदि करनेके लिये ६ आहार पाणी न करें।

उंची नीची करके खंखेरे ३—४, फिर दूसरी वेर पलटके " कामराग—स्नेहराग—दृष्टिराग परिहरुं ३-७," ऐसा बोलता हुआ उस पसवाडेको देखकर तीन पुरिम करे ३—७, बाद मुहपत्ति दुप्पट करके दो अथवा तीन वधूटक करके (सल पाडके) जीमणे हाथकी अंगुलियोंमें पकडकर " सुदेव—सुगुरु—सुधर्म आदरुं ३—१० " बोलते हुए दोनों जंघाओंके वीचमें लंवा किये हुए डावे हाथकी हथेली उपर तीन अक्खोडे (१) करके ३—१० " कुदेव—कुगुरु—कुधर्म परिहरुं ३—१३ " कहते हुए तीन पक्खोडे (२) करे ३—१३, फिर " ज्ञान—दर्शन—चारित्र आदरुं ३—१६ " कहते हुए तीन अक्खोडे (३) करके " ज्ञानविराधना—दर्शनविराधना—चारित्रविराधना परिहरुं ३—१९ " बोलते हुए तीन पक्खोडे करे, इसी तरह तीसरी वारभी " मनोगुप्ति—वचनगुप्ति—

(१)—हथेलीके मुहपत्तिका स्पर्श न होवे उस तरह ऊंची नीची खंखेरते हुए अंगुलियोंकी तरफसे पंजेकी तरफ मुहपत्ति लेजाना उसको 'अक्खोडे' कहतेहैं। (२)—हथेलीके मुहपत्तिका स्पर्श होवे वैसे पूंजते हुए पंजेकी तरफसे अंगुलियोंकी तरफ मुहपत्ति लेजाना, उसको पक्खोडे' कहतेहैं। (३)—डावे हाथकी अंगुलियोंमें जीमणे हाथकी तरफ पकडी हुई मुहपत्तिसे दोनों जंघाओंके वीचमें लंबे किये हुए जीमणे हाथकी हथेलीमें " ज्ञानविराधना " आदि ९ बोल बोलते हुए ६ पक्खोडे और तीन अक्खोडे करने, ऐसा पांच पडिक्कमणेकी पुस्तकमें तथा रत्नसागर आदिमें लिखाहै, परंतु प्रवचनसारोद्धारकी टीका तथा महोपाध्याय-श्रीमत्क्षमाकल्याणजी गणि रचित 'साधुविधिप्रकाश' आदिमें नव अक्खोडे और नव पक्खोडे एकली डावी हथेली परही करनेका लिखाहै इस वास्ते हमनेभी मुख्यपणेसे वह ही बात लिखीहै।

कायगुप्ति आदरुं ३–२२ ” कहते हुए तीन अक्खोडे करके “ मनोदंड–वचनदंड–कायदंड परिहरुं ३–२५ ” कहते हुए तीन पक्खोडे करे । इसतरह तीन वार तीन तीन (३–३) करनेपर नव तो अक्खोडे और नव पक्खोडे छ पुरिम तथा एक देखनेरूप दृष्टिपडिलेहण. इन सबको मिलाने पर २५ बोल सहित २५ पडिलेहण मुहपत्तिकी (१) होतीहैं । बाद पहले लिखे मुजबही वधूटक करके जीमणे हाथमें रखी हुई मुहपत्तिसे “(२) हास्य-रति-अरति परिहरुं ३ ” बोलते हुए डाबी भुजा (खंधेसे कुणीतक) के बीचमें-जीमणी बाजु तथा डाबी बाजु प्रमार्जन करे, बाद “ भय–शोक–दुगंछा परिहरुं ३–६ ” कहते हुए उसी तरह डाबे हाथमें रखी हुइ मुहपत्तिसे जीमणी भुजाके बीचमें–डाबी बाजु और जीमणी बाजु प्रमार्जन करे । बाद मुहपत्तिके दोनों छेडे दोनों हाथोंसे पकडकर “ कृष्णलेश्या–नीललेश्या–कापोतलेश्या परिहरुं ३–९ ” कहते हुए ललाटके तथा “ ऋद्धिगारव–रसगारव–सातागारव परिहरुं ३–१२ ” बोलते हुए मुखके और “ मायाशल्य–नियाणा-

(१)—कपडोंकीभी येही पच्चीस (२५) पडिलेहणहैं, यानि मुहपत्तिकी तरहही पच्चीस (२५) बोल बोलते हुए कपडेभी पडिलेहणे चाहियें । (२)–प्रतिक्रणकी पुस्तकोंमें 'कृष्ण लेश्या' आदि बोल यद्यपि पहले लिखेहैं, परंतु साधुविधि प्रकाश–प्रवचनसारोद्धारकी टीका'–मुहपत्ति पडिलेहणकी सज्झाय तथा स्तवनादिमें 'हास्य' आदि बोल पहले होनेसे हमनेभी इसी तरह लिखेहैं ।

शल्य–मिच्छादंसण शल्य परिहरुं ३–१५ ” बोलते हुए हृदय (छाती) के बीचमें जीमणी वाजु तथा डावी
वाजु प्रमार्जन करे, बाद जीमणे हाथमें मुहपत्ति लेकर “ क्रोध–मान परिहरुं २–१७ ” बोलते हुए डावे खंधे (१)
उपर तथा डावी कक्षा (कांख) के नीचली तरफसे डावी पीठ उपर प्रमार्जन करे, बाद डावे हाथमें मुहपत्ति
लेकर “ माया–लोभ परिहरुं २–१९ ” बोलते हुए जीमणे खंधे उपर तथा कक्षा (कांख) के नीचली वाजुसे
जीमणी पीठ उपर प्रमार्जन करे, बाद “ पृथ्वीकाय–अप्पकाय–तेउकाय रक्षा करुं ३–२२ ” बोलते हुए जीमणे
हाथमें लिये हुए ओघेसे जीमणे पगके और “ वाउकाय–वनस्पत्तिकाय–त्रसकाय रक्षाकरुं ३–२५ ” बोलते
हुए डावे पगके बीचमें जीमणी तरफ तथा डावी तरफ प्रमार्जन करे, इस तरह अंगकी २५ पडिलेहण होती हैं,

(१)—यद्यपि ‘साधुविधिप्रकाश’ तथा ‘प्रवचनसारोद्धार’ की टीकामें लिखाहै कि–जीमणेहाथमें रखी हुई मुहपत्तिसे जीमणा खंधा और डाये हाथमें रखी हुई मुहपत्तिसे डावा खंधा प्रमार्जन करे, बाद डावे हाथमें रही हुई मुहपत्तिसे जीमणी कांखके नीचेसे जीमणी पीठ प्रमार्जे, बाद जीमणे हाथमें रही हुई मुहपत्तिसे डावी कांखके नीचेसे डावी पीठ प्रमार्जे, परंतु पडिक्कमणे आदिकी पुस्तकोंमें (जैसे हमने बतायाहै) ऐसेही लिखाहै और बोलभी २–२ साथहीहै, इससे कुछ [illegible]) भीहै, इस वास्ते हमने यहही क्रम रखाहै।

ये पुरुषोंके लियेहैं, स्त्रियोंके तो दो हाथोंकी ३–३, मुखकी ३, और दो पगोंकी ३–३, मिलाकर १५ पडिलेहणे अंगकी होतीहैं ।

७—उपकरण विचार (साधुके १४ उपकरण)—

१–पात्रे (पातरे)–जिस पात्रेके गोलाइकी परिधि तीन (३) वेंत और चार (४) अंगुल होवे वह मध्यम पात्रा, जिसकी परिधि इससे कमती होवे वह जघन्य और जिसकी परिधि इससे अधिक होवे वह उत्कृष्ट पात्रा कहाताहै, जो बराबर गोल होवे टेढामेढा न होवे एवं जिसमें छिद्र (फांडा) या गांठ अथवा खरदराश न होवे वैसा पात्रा रखना चाहिये, क्योंकि ओघनिर्युक्ति आदि ग्रंथोंमें ऐसे अपलक्षण वाला पात्रा नुकसान दायी कहाहै । २ पात्रबंधन (झोली)–पात्रोंके प्रमाणसे होतीहै, यानि पात्र छोटे या मोटे जो होवे उनको झोलीमें बांधके गांठ लगाने पर चार अंगुल छेडे बाकी रहें उतनी बडी करनी चाहिये । ३ पात्रस्थापन–वह कहाताहै जो विहारादिके समय झोलीमें बांधे बाद पात्रोंके नीचली तरफ ऊनी वस्त्रका टुकडा बांधा जाताहै, जिसके चारों खुणे डोरी लगी रहतीहै, यह लंबा चौडा (समचोरस) १६ अंगुल होताहै । ४ गुच्छा–वह

कहाताहै जो १६ अंगुल समचोरस ऊनी कपडा होताहै, उसके बीचमें एक छिद्र (फांडा) होताहै जिससे वह झोलीके छेडोंमें डालकर पात्रोंपर बांधा जाताहै। ५ पात्रकेसरिका (पूंजणी)—यहभी १६ अंगुल लंबी होतीहै। ६ पडले—जो गौचरीके समय पात्रोंकी झोली हाथमें लिये बाद उपरसे ढांके जाते हैं जिससे संपातिम (उडते हुए) जीव आदिकोंकी रक्षा होसके, क्योंकि पात्रोंकी (१) झोली खुली रखनेसे उडते हुए छोटे छोटे जीव अथवा पवनसे कंपते हुए वृक्षोंके पत्र (पांन)—पुष्प—फलादिक तथा सचित्त रज—पाणी वगेरह एवं आकाशमें फिरनेवाले पक्षियोंकी विष्टा (वीठ) अथवा पवनसे उडता हुआ धूलका समुदाय आदि पात्रोंमें पडजाताहो उनकी रक्षाके वास्ते पडले रखे जातेहैं, इससे यह साफ माल्रूम हुआकि—गौचरी जाते समय हाथमें लीहुई पात्रोंकी झोली उपर पडले जरूर ढांकने चाहियें, जिससे उपर कही चीजें पात्रोंमें पडकर आहार अकल्पनीय न होवे। पडलोंका कपडा यदि जाडा (गडवार) होवे तो चौमासेमें पांच, सीयालेमें चार, उन्हालेमें

(१)—“ मस्थगिते पात्रके सम्पातिमाः सत्त्वाः पतन्ति, पवन प्रकम्पित पादपादेः पत्र-पुष्प-फलादीनि सचित्तरज-सलिलादयो-व्योमवर्त्ति विहङ्गम पुरीष-वात्याहृत-पांशु प्रकरादयश्च निपतन्ति, ततस्तत्संरक्षणार्थं पटलानि ध्रियन्ते” प्रवचनसारोद्धार वृत्तिः पत्र १२०।

तीन रखने, यदि कुच्छ थोडासा बारीक व छिद्रा कपडा होवेतो चौमासेमें छः सीयालमें पांच उन्हालेमें चार रखने, और यदि ज्यादा बारीक व छिद्रा कपडा होवेतो चौमासेमें सात, सीयालेमें छः, उन्हालेमें पांच पडले रखने चाहिये, तीन तरहके बतानेका मतलब यहहै कि–सब पडलोंके पट मिलाने पर उतनी जाडाइ होनी चाहिये कि जिनको आंखों पर लगानेसे सूर्यकी किरणेंभी देखनेमें न आवें। एक एक पडलेकी लंबाई अढाई अढाई हाथ और चौडाई ३६–३६ अंगुल यानी डेढ डेढ हाथ होनी चाहिये। ७ रजस्त्राण–पात्रके चारों तरफ विटोलने पर चारों तरफसे चार चार अंगुल पात्रके भीतर कपडा चलाजाय उतना बडा होना चाहिये, इससे यह मालूम होताहै कि–पहले एक एक पात्रका रजस्त्राण जुदा होताथा, परंतु आज कलतो रजस्त्राणके वास्ते एक कपडा रखाजाताहे, जिसका एक एक पट एक एक पात्रके बीचमें डाला जाताहे, वहभी लंबाई व चोडाइमें आखी जोडके सज जावे उतना बडा होना चाहिये, ये सात उपकरणतो पात्रों के हैं, इनके सिवाय शरीर संबंधी सात उपकारण इस प्रकारहैं:—

८–९–१० तीन कल्प (ओढनेके कपडे)–दो तो सूतु चद्दर और एक ऊनी कंबल अथवा दो कंबल

ओर एक चद्दर लंबाइमें साढेतीन हाथ और चौडाईमें अढाई हाथ होतीहै, ऐसे प्रवचनसोराद्धार तथा ओघ-निर्युक्ति ओर उनकी टीकामें लिखाहै, परंतु श्रीजिनपतिसूरिजीमहाराजने पंचलिंगीकी टीकामें लिखाहै कि-गीतार्थोंकी आचरणासे आजकल इतने प्रमाणके चद्दर कंबल आदि कल्प नहीं रखे जाते, क्योंकि ऐसे कल्पोंसे शरीर बराबर न ढंकनेके कारण अच्छी तरह निर्वाह नहीं हो सकता (१), इस वास्ते संख्या (गिनती) में और लंबाई--चौडाईमें अधिक भी रख सकतेहैं। ११ रजोहरण (ओघा)--चोवीस अंगुलकी दंडी और आठ अंगुलकी दासियां (फलियां) दोनों मिलकर बत्तीस अंगुलका लंबा ओघा होना चाहिये, यदि दंडी ज्यादा लंबी हो तो दासियां कमती करना और यदि दंडी कमती लंबी होवे तो दासियां अधिक लंबी करनी चाहिये, लेकिन दंडी और दासियां दोनों मिलकर ओघेकी लंबाई बत्तीस अंगुलसे ज्यादा न होनी चाहिये, इससे यह जानना कि--ढूंढिये लोग जो बहुत लंबा ओघा रखते हैं वह शास्त्र विरुद्धहै, ओघेकी दासियां गांठ विनाकी (२) रखना शास्त्रकारोंने कहाहै, वास्ते दासियोंके गांठ लगानाभी शास्त्र विरुद्धहै। १२ मुहपत्ति--एक वेंत और चार अंगुल

(१) देखो मुद्रित पंचलिंगी बृहद्वृत्ति। (२) "अज्झुसिरं-अगंथिला दशिका निषद्या च यस्य तदशुषिरम्" ओघनिर्युक्तिवृत्तिपत्र २१०

यानि १६ अंगुल समचोरस होतीहै, अथवा नाकमें धूल न जानेके लिये काजा निकालते हुए और दुर्गंधके कारण नाकमें रोग पैदा न होनेके वास्ते कारणवश अधिक दुर्गंधिवाली जगहमें ठल्ले बैठते हुए नाक और मुख पर मुहपत्ति बांधना चाहिये, इस वास्ते मुहपत्ति तिखुणी करके गरदनके पिछली तरफ दोनों छेडोंसे गांठ लगा सके उतनी लंबी–चौडी समचोरस करनी चाहिये। परन्तु ढूंढिये नाक खुला रखकर हमेशां बाँधी रखते हैं। (१) यह सर्वथा शास्त्र विरूद्ध है। १३ मात्रक नामका एक पात्रा होताहै जिसमें गृहस्थके पास आहारादिक लेके झोलीमें रहे हुए बडे पात्रेमें डाला जाताहै, अथवा गुरु या बिमार साधुके वास्ते घृतादिक उत्तम चीज लाई जाती है, एक साधुके आहारका समावेश हो सके उतना बडा यह मात्रक होताहै। ४१ चोलपट्टा–चार हाथ लंबा होताहै, वृद्धोंके लिये दो हाथका भी लंबा रखा जा सकताहै।

ये १४ औघिक उपकरण कहे जाते हैं, इनके सिवाय संथारिया–उत्तरपट्टा–दंडा वगेरह औपग्रहिक उपकरण कहाते हैं, संथारिया और उत्तरपट्टा लंबाइमें अढाइ हाथ और चौडाईमें एक हाथ चार अंगुल होता है,

१–इसका विशेष खुलासा आगमानुसार मुहपत्ति का निर्णय और जाहिर उद्घोषणा नं० १-२-३ में देखो।

दंडा अपने अपने खंधेतक पहूंचे जितना लंबा होना चाहिये ।

(२—साध्वीके २५ उपकरण)

साध्विओंके औधिक उपकरण पच्चीस होतेहै, उनमेंसे चोलपट्टा छोडके बाकी १३ उपकरणतो साधुओंके समानही साध्विओंको भी रखनेकेहैं, चउदहमा उपकरण कमढक नामका होताहे, जो कि कांसेकी बडी कटोरी (तासली) के आकार जैसा तुंबेका होताहै, और वह एक एक साध्वीके एक एक होताहे, उसीमें साध्वीयां आहार—पाणी करतीहैं । इनके सिवाय ग्यारह उपकरण इस मुजबहैं—१५ अवग्रहानंतक—गुह्यप्रदेशको ढांकनेका एक कपडा जो पोतमें गडवार और स्पर्शमें मुलायम हो, वह शीलव्रतकी रक्षाके वास्ते रखा जाताहे, इसका आकार जहाज (वाहण) की तरह दोनों छेडोंपर सांकडा और बीचमें चौडा होताहै, यह लंगोटकी तरह बांधा जाताहे । १६ पट्टक—चार अंगुल अथवा कुच्छ अधिक चौडा और अपनी कमरके अनुसार लंबा कपडेका चीरा होताहै, उसके एक छेडे पर नाकी और दूसरे छेडे पर बोर लगा रहताहै, जिससे वह पन्द्रहवें उपकरण अवग्रहानंतकके आगले तथा पिछले दोनों छेडे दबाकर कमरमें बांधा जाताहै । १७ उरुकार्ध—

आधि साथलतक पहूंच सके उतना तो चौडा और चारों तरफसे आखी कमर ढंकजाय जितना लंबा कपडा होताहे, उसमें जहां जहां चाहिये वहां वहां कस लगाके दोनों साथलोंमें तथा साथलोंके बीचमें उसतरहसे बांधना कि जिससे अवग्रहानंतक तथा पट्टक दोनों दबजाय और पहरे हुए जांगियेकी तरह देखनेमें आवे १८ चलनिका—यहभी अर्धोरुकके जैसीही जांगिये की तरह होतीहे, और उसी मुजब साथल आदिमें बांधी जातीहे, केवल चौडाइमें गोडोंतक पहूंचे जितनी होतीहे । १९ अंतर्निवसनी (मोटे सालडेके भीतर पहरनेका छोटा साडला)—कमरसे लगाके आधि जंघा (पिंडि) तक पहूंचे उतनी लंबी होतीहे । २० बाह्यनिवसनी (मोटा साडला)— कमरसे लगाके पगों तक पहूंचजाय उतनी लंबी होतीहे, और वह चारों तरफसे कंदोरेकी तरह डोरीसे बंधी हुई होतीहे । २१ कंचुक (कंचुआ) हृदय ढांकनेके वास्ते अढाई हाथ लंबा और एक हाथ चौडा अथवा अपने अपने शरीरके अनुसार लंबा चौडा होताहे, और वह स्तनोंके उपरसे डाबे जीमणे दोनों तरफ कसोंसे बांधा जाताहे । २२ उपकाक्षिका—डेढ डेढ हाथ लंबा चोडा समचोरस होता है, उसके दोनों तरफ नाकी और बोर लगाके जीमणी तरफके पेट तथा पीठ को ढांककर डाबे खंधे उपर तथा डाबे

पसवाडे बांधी जातीहै। २३ वैकक्षिका–यहभी डेढ हाथ समचोरस होतीहै, परंतु यह डाबी तरफके पेट तथा पसवाडे बांधी जातीहै। २४ संघाटी (साडी-चद्दर) पीठको ढांककर जीमणे खंधे उपर तथा जीमणे पसवाडेमें नाकी बोरसे बांधी जातीहै। २४ संघाटी (साडी-चद्दर) ओढनेके लिये चार होतींहैं, उनमें लंबाईतो सवकी साढेतीन तीन हाथ अथवा चार चार हाथ होतीहै, और पंने (चोडाइ)में एक दो हाथकी, दो तीन तीन हाथकी तथा एक चार हाथकी होतीहै, उनमेंसे दो हाथके पंने वाली तो उपासरेमेभी हरवक्त ओढे रहना,क्योंकि उपासरेमेंभी साध्वी खुल्ले सरीरसे कभी नहीं बैठ सकती, तीन हाथके पंने वाली एकतो गोचरी जानेके समय और दूसरी ठल्ले जाते समय ओढनी चाहिये, जो चार हाथके पंनेवाली हो वह मंदिर, व्याख्यान, पूजा आदिमें जाते समय ओढनी चाहिये। २५ स्कंधकरणी–यह चार चार हाथ लंबी चौडी समचोरस होतीहै और चोवडी करके खंधे उपर रखी जातीहै, जिससे ओढेहुए चद्दर वगेरह कपडे पवनसे इधर उधर न होनें पावें, और यदि कोई साध्वी अधिक रूपवान होवे तो लोकोंमें उसकी कुछ कुरूपता दिखानेके वास्ते कंचुआ बांधे बाद इसी स्कंधकरणीको गोलमटोल करके पीठमें खंधोंके नीचली तरफ दूसरे कपडेके चीरसे बांधकर उपरसे उपकक्षिका तथा वैकक्षिका बांध दी जातीहै, जिससे कूबडीके समान आकार देखनेमें

आवे। ये २५ औघिक उपकरण पहलेके जमानेमें साध्वियां रखतीथीं, लेकिन "साहूणऽग्गोयरओ, वुच्छिन्नो दूसमाणुभावाओ। अज्जाणं पणवीसं, सावयधम्मो य वोच्छिन्नो ॥ १ ॥" तीर्थोद्गार पयन्ने की इस गाथाके अनुसार वह प्रवृत्ति आजकल विच्छेद होगइहै। औपग्रहिक उपकरण साधुके जैसेही साध्विओंकेभी होते हैं।

८ स्थंडिल–पडिलेहण–विचार—

सांधु तथा रात्रिपौषधिक श्रावक संध्या समय पडिक्कमणेके पहले "आगाढे आसन्ने" इत्यादि पाठ बोलते हुए और गोल चक्करकी तरह फिरातेहुए ओघेसे या चरवलेसे २४ मांडले करके २४ स्थंडिल पडिलेहतेहैं उनमें ठल्ले मातरे जानेकी भूमि धारी जाती है, अत्यंत अशक्तिवालेके वास्ते संथारेके दोनों तरफ कमसे कम १–१ हाथ जमीन छोडकर नज्दीक, मध्यम और दूर तीन तीन मिलाकर छ मांडले करने, थोडी शक्तिवालेके वास्ते उपाश्रयके दरवाजे की मांहिली बाजु दोनों तरफ ३–३ मिलाकर छ मांडले करने, कुछ अधिक शक्तिवालेके वास्ते उपाश्रयके दरवाजेसे बाहर दोनों तरफ ३–३ मिलाकर छ मांडले करने, और जिसकी शक्ति ठीकसर होवे उसके वास्ते सौ हाथ दूर जो जमीन देख रखी हो उसके सामने इसी तरह छ मांडले करने, इस तरह २४ मांडले होतेहैं।

९ पंचमहाव्रत-भावना-विचार—

प्राणातिपात आदि महाव्रतोंको स्थिर (मजबूत) करनेके लिये जो भावी जाय (अभ्यास करी जाय) वे भावना कहातीहैं, जैसे अभ्यास किये बिना विद्या विसर्जित होजातीहै यानि भूलजातेहैं, वैसे ही भावनाओंका अभ्यास किये विना अनेकतरहके दोष लगनेसे महाव्रत मलिन होजातेहैं, वास्ते भावनाओंका स्वरूप अच्छीतरह जानकर उनका खूब अभ्यास करना चाहिये, वे भावना एक एक महाव्रतकी ५–५ होनेसे पांचों महाव्रतोंकी पच्चीस होती हैं जो कि प्रवचनसारोद्धार गाथा ६३६ वीं से ६४० तक में आगे लिखे मुजब हैं।

पहले महाव्रतकी पांच भावना—

इरियासमिए सया जए,उवेह भुंजेज्ज व पाणभोयणं। आयाणनिक्खेवदुगुंछसंजए, समाहिए संजयए मणो वइ। १।

अर्थ— ईर्यासमितिमें सदा यत्न रक्खे, यानि चलते हुए चार हाथ भूमि आगे आगे देखता चले १, आहार या पाणी देखके वापरे, यानि वहरते समय तथा खाने पीनेके समय आहार तथा पाणी देखके वहरे और खाये पिये २, हरएक चीज लेते तथा रखते समय उस चीजको तथा जमीनको देखकर तथा

पूंज-प्रमार्ज करके लेवे अथवा रखे ३, समाधिमें वर्तता हुआ साधु अपने मन तथा वचनको संयमित रखे अर्थात् मनसे किसीका बुरा नहीं चिंतवे ४, वचनसे किसीको बुरा लगे वैसा न बोले, तत्त्वार्थ सूत्रमें एषणा समितिको पांचवीं भावना कही है ५। दूसरे महाव्रतकी पांच भावना—

अहस्स सच्चे अणुवीय भासए, जे कोहलोहभयमेव वज्जए ।
से दीहरायं समुपेहिया सया, मुणी हु मोसं परिवज्जए सिया ॥ २ ॥

अर्थ—जो साधु हास्य रहित सत्य बोलने वाला हो अर्थात् किसीकी हांसी-मश्करी नहीं करता हो १, अच्छीतरह सोच विचारकर बोलने वाला हो २, और क्रोध ३ लोभ ४ तथा भय ५ को वर्जता है वो ही मुनि मोक्षको नज्दीक देखनेके स्वभाववाला होकर निश्चयसे मृषावादको सदा त्यागता है।

तीसरे महाव्रतकी पांच भावना—

सयमेव उ उग्गहजायणे घडे, मइमं निसम्मा सइ भिख्खु उग्गहं ।
अणुन्नविय भुंजीय पाणभोयणं, जाइत्ता साहम्मियाण उग्गहं ॥ ३ ॥

अर्थ— साधु खुद अपने मुखसे घरधणीके पास उतरने योग्य मकान आदिकी याचना करे, दूसरे गृहस्थ आदिके मुखसे न करावे १, मतिमान-साधु रजा लेकर उतरे बाद उसी जगहमेंसे यदि तृणभी लेना हो तो घरधणीकी आज्ञा सुनकर लेनेका उद्यम करे, विना आज्ञाके न लेवे २, साधु अवग्रह (मकान आदि) की याचना सदा स्पष्ट मर्यादासे करे, यानि एक वार घरधणी ने दिये हुए अवग्रहमेंभी बीमारी आदिके कारण ठल्ले मात्रे जानेके लिये अथवा हाथ पग धोनेके लिये स्थानकी याचना घरधणीके पास फिरसे करे ३, आहार-पाणी करना हो अथवा कपडा तथा पात्रा आदि कोई भी उपकरण नयेसर वापरनेके वास्ते निकालना हो तो गुरु अथवा जो वडे हों उनकी आज्ञा विना नहीं करना, यदि आज्ञा विना करे तो गुरुअदत्त दोष लगे ४, जिसमें उतरना हो उसमें पहलेसे उतरे हुए अपने समान आचार वाले साधुओंकी रजा लेकर उतरना और उस मकान मांहिली हर एक चीजभी उनकी रजा लेकर वापरनी ५। चौथे महाव्रतकी पांच भावना—

आहारगुत्ते अविभूसियप्पा, इत्थी न निज्झाय न संथवेज्जा।
बुद्धे मुणी खुड्डकहं न कुज्जा, धम्माणुपेही संधए बंभचेरं ॥ ४ ॥

अर्थ—आहार गुप्त हो, यानि सदाके प्रमाणसे अधिक अथवा चीकणा-मीठा आदि पुष्टिकारक आहार विना कारण न करे १, अविभूषित आत्मा हो, अर्थात् अपने शरीरकी स्नान-विलेपन आदिसे तथा कपडे आदि उपकरणोंकी धोने धानेसे विभूषा न करे २, स्त्रिओंको तथा उनके हाथ-पग-स्तन आदि अवयवोंको एकाग्र दृष्टिसे न देखे ३, स्त्रिओंसे परिचय न करे, यानि स्त्रीके वापरे हुए आसन-पाट वगेरह दो घडिके पहले न वापरे ३, जिसमें स्त्रिओंका रहेवास हो अथवा स्त्रिओंकी तस्वीरें लगी हों तथा पशु अथवा नपुंसकोंका रहेवास हो उस मकानमें साधुको न रहना ४, तत्त्वके जाणकार मुनि क्षुद्रकथा (स्त्री संबंधी कथा अथवा केवल स्त्रीओंकी, साध्वी केवल पुरुषोंकी पर्षदा—सभामें धर्मकथा—व्याख्यानादि) न करे ५, इन पांच भावनाओंसे भावित अंतःकरणवाला धर्मसेवनमें तत्पर मुनि अपने ब्रह्मचर्यको खूब पुष्ट करताहै । पांचमें महाव्रतकी पांच भावना—

जे सद्दरूवरसगंधमागए, फासे य संपप्प मणुन्नपावए ।
गेहिं पओसं न करेज्ज पंडिए, से होइ दंते विरए अकिंचणे ॥ ५ ॥

अर्थ—जो पंडित (तत्त्वका जाण) साधु इष्ट अथवा अनिष्ट यानि भले अथवा बुरे शब्द १, रूप २,

रस ३, गंध ४ और स्पर्शोंको प्राप्त करके राग अथवा द्वेष न करे वो इद्रियोंको जीतनेवाला सर्व सावद्य योगसे निवृत्त हुआ अपारिग्रही (परिग्रह रहित) होताहै, यानि पांचों इंद्रियोंके विषयोंमें राग द्वेष करनेसे पंचम महाव्रतकी विराधना होतीहै और इनमें राग द्वेष न करना ये ही पांचवें महाव्रतकी पांच भावनाहैं ॥

१० संडाशक-प्रमार्जन-विचार—

पिछली (लारली) तरफ कमरसे नीचे जीमणा पग, दोनों पगोंके विचला भाग और डावा पग इन तीनोंको ओघेसे प्रमार्जन करना ३, इसी तरह आगली तरफभी कमरसे नीचे जीमणा पग दोनों पगोंके विचला भाग, तथा डावा पग, इन तीनोंको ओघेसे प्रमार्जे ६, बाद नीचे बैठते हुए आगे पीछेकी भूमि तीनवार ओघेसे प्रमार्जे ९, बाद जीमणे हाथमें ली हुइ मुहपत्तिसे ललाटकी जीमणी बाजूसे लगाकर सारा ललाट, सीधा किया हुआ सारा डावा हाथ तथा भेला करके पिछली तरफसे उसी डावे हाथको कूणी तक प्रमार्जन करे १० बाद डावे हाथमें ली हुई मुहपत्तिसे ललाटकी डाबी बाजूसे लगाकर सारा ललाट, सीधा किया हुआ सारा जीमणा हाथ तथा भेला करके पिछली तरफसे उसी जीमणे हाथको कूणीतक और लगतेही ओघेकी

दंडी प्रमार्जें ११, बाद जीमणे हाथमें मुहपत्ति लेकर साधु डाबे गोडेको तथा श्रावक चरवलेकी दशियां तीनवार प्रमार्जें १४, खडे होकर आसनके पिछली तरफ जाते हुए लारेकी भूमि तीन वेला प्रमार्जें १७, इस तरह सब जगहके मिलानेपर १७ वेला प्रमार्जन होताहै, इसीका नाम संडाशक प्रमार्जन (संडासे पूंजना) है । वांदणे देते हुए पहले वांदणेमें १७, और दूसरेमें १४ प्रमार्जना होती हैं, क्योंकि दूसरी वेला वांदणे देकर खडे हुए बाद आसनके पिछली तरफ नहीं जाते, किंतु उसी जगह खडे रहतेहैं, जिससे पिछली भूमि प्रमार्जनेके तीन संडाशक छूट जाते हैं, इसी प्रकार खमासमणा देना, अब्भुट्ठिया खमाना आदिमेंभी चउदे ही संडाशक पूंजे जातेहैं ॥

११ असज्झाय-विचार—

असज्झायके मुख्यतया आत्मसमुत्थ (साधु साध्वियोंसेही होने वाला) और परसमुत्थ (गृहस्थ आदिसे होने वाला) ये दो भेद हैं, १ आत्मसमुत्थ के भी दो भेद हैं– १–साधुके या साध्वीके ठोकर वगैरह लगनेसे अथवा नासूर भगंदरादिकमेंसे रुधिर निकले तो उपासरेसे सो हाथ दूर जाकर पाणीसे धोकर पट्टाबांधे, बाद उसको और दूसरोंको सूत्र पढना पढाना कल्पताहै, यदि वह पट्टा रुधिरसे भींजजाय तो उसी पट्टेके उपर राख

भुरकाके दूसरा पट्टा बांधे, यदि दूसराभी भींजजाय तो उसी मुजब तीसरा पट्टा बांधे, बाद पढना कल्पताहे, यदि तीसरा पट्टाभी भींजजाय तो दूसरे साधु साध्वी सो हाथके बाहर अन्य उपासरे आदिमें जाकर वांचें–पढें।

२–जिस साध्वीको अटकाव आयाहो उनको तो तीन दिनतक कुच्छभी वांचना-पढना नहीं कल्पता, परंतु यदि एक पट्टा भींजजाय तो उस पट्टेके उपर राख भुरकाके दूसरा पट्टा बांधे, वहभी यदि भींजजाय तो उसीतरह राख भुरकाके तीसरा पट्टा बांधे, इसी तरह करते हुए उपराउपरी सात पट्टे बांधे वहां तकतो अन्य साध्वियोंको उसी उपासरेमें वांचना-पढना कल्पताहे, यदि सातमा पट्टाभी रुधिरसे भींजजाय तो सो हाथके बाहर अन्य उपासरेमें जाकर पढें, अटकावके तीन दिन बीतजानेके बादभी यदि रुधिर देखनेमें आने परभी पट्टाबांधकर उसको खुदकोभी वांचना-पढना कल्पताहे, यदि पट्टा रुधिरसे भींजजाय तो पहले लिखे मुजब दूसरा–तीसरा पट्टा बांधते हुए उपराउपरी ७ सात पट्टे बांधकेभी पढना कल्पताहे, परन्तु सातमा पट्टा भींजे बाद जिसको अटकाव आयाथा उस साध्वीको पढना नहीं कल्पता और अन्य साध्वियोंकोभी सो हाथके बाहर दूसरे उपासरेमें जाकर पढना चाहिये।

२ पर समुत्थ असज्झायके मुख्य पांच भेद और उनके अवांतर भेद इस मुजब हैं—

१—संजम—घातक—

१—धूंअर (१) (धूंद) पडनी शुरु होवे वहांसे लगाकर जहांतक बंध न होवे वहांतक असज्झाय.

२—सचित्तरज (२)—निरंतर पडे तो तीन दिनके बाद जहांतक बंध न होवे वहांतक असज्झाय.

३—भिन्नवर्षा—जिसकी धाराओंसे पाणीमें बुद्बुदे (परपोटे) ऊठने लगें वैसा जोरदार वर्षाद् निरंतर वर्षे तो तीन दिनके बाद, जिससे पाणीमें बुद्बुदे न ऊठे वैसा थोडा जोरदार वर्षाद् निरंतर वर्षे तो पांच दिनके बाद, और बिल्कुल झीणे झीणे फूसार जैसा वर्षाद् निरंतर वर्षे तो सात दिनके बाद जबतक बंध न होवे तबतक असज्झाय।

---

(१)—धूँअर पडनी शुरु होतेही सबजगह अप्कायके जीव फैलजातेहैं. वास्ते उस समय अपना सारा शरीर कंबलीसे ढांककर किसी ऊंडी ओरडीमें साधुको बैठना चाहिये, मुखभी नहीं उघाडना, प्रतिक्रमण आदि क्रियाभी धूँअर मिटे बाद करनी चाहियें, इसी तरह सचित्तरज पडनी शुरु होवे वहांसे लगाकर तीन दिन बीतनेके बाद तथा तीनों प्रकारकी भिन्न वर्षामें अनुक्रमसे तीन, पांच और सात दिनके बाद जबतक न मिटे तबतक कुच्छभी क्रिया नहीं करनी। (२)—पवनके जोरसे उडीहुई जंगलकी झीणी झीणी धूल जो थोडीसी लालरंगकी देखनेमें आवे वह सचित्तरज कहातीहै।

२—औत्पातिक—

१—मांस अथवा रुधिरकी वर्षा होवे तो एक अहोरात्रि (दिनरात) का असज्झाय, २—अचित्तरज (१) केश, पाणीके करे आदि पत्थरकी वर्षा तथा रजोद्‌घात (२) होवे तो जबतक बंध न होवे तबतक असज्झाय।

३—सादिव्य—

१—गंधर्वनगर (३) दिग्दाह (४) उल्कापात (५) कनकपात (६) यूपक (७) तथा यक्षो–

---

(१)—सफेद धूंअेके समान रंगकी रज पडे वह अचित्तरजोवृष्टि कहातीहै। (२)—दिशाओंमें चारों तरफ अंधेरा होजाय अथवा बडीभारी फौजके चलनेसे जैसे रज उडे वैसे आकाशमें चारों तरफसे रजपडे वह रजोद्‌घात कहाताहै।

(३)—चक्रवर्त्ती आदिके नगरको उत्पात सूचित करनेके लिये उनके नगर उपर संध्या समय आकाशमें देवकृत नगरकी रचना देखनेमें आवे यह 'गंधर्वनगर' कहाताहै। (४)—जैसे कोई महानगर जलता हो वैसे किसी एक दिशामें आकाशके अंदर नीचे तो अंधेरा और उपर उजालेवाली अग्निकी ज्वालायें देखनेमें आवें वह 'दिग्दाह' कहाताहै। (५)—तारा तूटनेके समय यदि प्रकाश होवे और पीछे पीछे धोला लीसोटा बंधजाय अथवा केवल प्रकाशही होवे वह 'उल्कापात' कहाताहै। (६)—तूटते समय जिसका प्रकाश न होवे और धोला लीसोटाभी न बंधे किन्तु अग्निके अंगारेके समान जलता हुआ तारा तूटे वह 'कनकपात' कहाताहै। चौमासेमें सात, सीयालेमें पांच और उन्हालेमें तीन कनकपात होनेके बाद एक पहर असज्झाय। (७) शुक्ल पक्षमें एकम या दूज (जिसदिन चंद्र उदय होवे उस दिन) से तीन दिनतक संध्याको सूर्य अस्त हुए बाद एक एक पहर तक 'यूपक' कहाताहै, यह असज्झाय केवल कालिक

दिप्त (१) होवे तो एक पहोर असज्झाय।

२–चौमासे विना शेषाकालमें यदि विजलि चमके अथवा वर्षा (२) होवे तो एक पहोर और गर्जारव होवे तो दो पहोर असज्झाय।

३–ग्रहण–चंद्रग्रहण होवे तो जघन्य ८ पहोर और उत्कृष्ट १२ पहोर और सूर्यग्रहण होवे तो जघन्य १२ पहोर तथा उत्कृष्ट १६ पहोर असज्झाय। अब जघन्य तथा उत्कृष्टका विवरण आगे लिख बतातेहैं–

चंद्रग्रहण–उदय होते हुएही चंद्रमाके ग्रहण लगे और कुच्छ देरके बाद छूटजाय अथवा रात्रिके

सूत्रों के लिये है और जगतमें कुच्छभावी उत्पात सूचक किसी दिन उदय अथवा अस्त होनेके समय सूर्य बिंबके नीचे लाल अथवा काले रंगका गाडीकी ऊधीके समान आकारका दंडा देखनेमें आवे तो वहभी 'यूपक' कहाताहै। (१)—किसी एक दिशामें ठहर ठहरके बिजलीके समान प्रकाश होवे. अथवा बिजलीके समान प्रकाश करता हुआ अग्नि सहित पिशाचका रूप देखनेमें आवे वह 'यक्षोदिप्त' अथवा 'यक्षादिप्त' या 'यक्षदिप्त' कहाताहै (२)—शेषाकालमें वर्षा होनेपर असज्झाय होनेका संस्कृत या प्राकृत ग्रंथोंमें तो किसीमें नहीं देखाजाता, परन्तु भाषाके असज्झाय विचारोंमें प्रायः सर्वत्र लिखाहै. अतः यहांभी लिखदियाहै। इसमें उत्तराध्ययन आदि कालिक सूत्रोंका असज्झाय होताहै, परन्तु दशवैकालिक आदि उत्कालिक सूत्र पढनेमें कोइ हर्ज नहीं, इसीतरह पक्खी पडिक्कमणा करे बादभी रातमें प्रथम पहर तक कालिक सूत्रोंका असज्झाय होताहै।

अंतमें यानि सवेर होनेके समयमें ग्रहण लगके ग्रहण सहितही चंद्रमा अस्त होवे तो जघन्य आठ पहोर असज्झाय ।

भावी उत्पात सूचक ग्रहण युक्त चन्द्रमा उदय होकर सारी रात ग्रहण सहित रहे और सवेरे ग्रहण सहित ही अस्त होजाय, अथवा 'आज पूनमको चन्द्रग्रहण होनेवालाहै' ऐसी तो खबर होवे परंतु किस समय होवेगा ? इसकी खबर नहीं होवे और बादलोंके कारण चन्द्रमा भी देखनेमें न आवे इससे उस रातको सज्झाय नहीं करे, अस्तके समय बादले दूर हटनेसे अस्त होता हुआ चन्द्रमा ग्रहण सहित देखनेमें आवे तो उस रातको शामिल गिनने पर ४ पहोर तो ग्रहणवाली रातके और दूसरे दिन तथा रातके ८ पहोर ये दोनों मिलाकर १२ पहोरका उत्कृष्ट असज्झाय चन्द्र ग्रहणका है । आठ तथा १२ पहोर के बीचका मध्यम असज्झाय, अर्थात् – ग्रहण रहित उदय हुआ चंद्रमा यदि ग्रहण सहित अस्त होवे तो जिस समय ग्रहण शुरु होवे उस समय से लगाके दूसरे दिन तथा रातकी समाप्ति तक असज्झाय, यदि कुच्छ रात्रि जानेके बाद ग्रहण शुरु होवे और घडी दो घडी रहकर रातमें ही छूट जाय तो उस

रात्रि तक ही असज्झाय होवे, सूर्य उदयके बाद नहीं।

सूर्य ग्रहण—सूर्य अस्त होनेके समय ग्रहण लगे और ग्रहण सहित सूर्य अस्त होजाय तो उस रातके ४ पहोर तथा दूसरे दिन और रातके ८ पहोर ये दोनों मिलकर १२ पहोरका जघन्य असज्झाय।

ग्रहण युक्त सूर्य उदय होकर किसी भावी उत्पातके कारण आखा दिन ग्रहण सहित रहे और संध्याको ग्रहण सहित ही अस्त होजाय, अथवा 'आज अमावसको सूर्य ग्रहण होनेवाला है' इतना तो मालूम हो परन्तु 'अमुक टाइममें होवेगा' यह मालूम न होवे और आकाशमें बादलोंके कारण सूर्यभी देखनेमें न आवे जिससे यह मालूम पड सके कि ग्रहण है या नहीं, इससे दिन भर सज्झाय न करे, संध्या समय बादले दूर होजानेसे अस्त होता हुआ सूर्य ग्रहण सहित देखनेमें आवे तो अमावसके दिन तथा रातके ८ पहोर और दूसरे दिन तथा रातके ८ पहोर ये दोनों मिलकर १६ पहोरका उत्कृष्ट असज्झाय। कदाचित् कभी दुपहरको या तीसरे पहोरको ग्रहणकी शुरुआत होकर ग्रहण सहित ही यदि सूर्य अस्त होजाय तो जिस समय ग्रहण शुरु होवे वहांसे लगाकर दूसरे दिन तथा रातकी समाप्ति तक

मध्यम असज्झाय। यदि सूर्य उदयके बाद (१) ग्रहण लगकर उसी दिन में छूटजाय तो उस दिन रातका ही असज्झाय होताहै, दूसरे दिनका सूर्य उदय हुए बाद नहीं।

४—निर्घात (विजली का पडना) (२) तथा गुंजित (३) होवे तो १ अहोरात्रि असज्झाय।

५—सूर्यके उदय तथा अस्त होनेके पहले १-१ घडी और पीछे भी १-१ घडी मिलकर २-२ घडीकी और मध्याह्न (मध्यदिन-दुपहर) तथा आधी रातको २-२ घडीकी ये चार संध्या (कालवेला) कहातीहैं, इनमें भी अस०।

६—आसोज तथा चैत्र सुदि पांचमके दुपहर बाद कार्तिक तथा वैशाख वदी एकम तक अस०।

७—आषाढ तथा कार्तिक चौमासी पडिक्कमणा किये बाद श्रावण तथा मगसिर वदी एकम तक अस०। पिछली दोनों असज्झायोंमें कार्तिक, मगसिर, वैशाख तथा श्रावण वदी एकम ये चारों महापडवा कहातीहैं।

८—फागण चौमासीमें होलि मंगलावे (सलगावे) वहांसे लगाके जबतक धूलेटी (धूलसे रमना)

(१)—ग्रहण सहित उदय होकर कुच्छ देरके बाद यदि छूटजाय तो उसदिन तथा रातका ही असज्झाय समझना चाहिये। (२)—बादले होवें चाहे न होवें व्यंतर देवताने किये हुए गर्जारवकोभी 'निर्घात' कहतेहैं। (३)—गर्जारव होनेके पीछेही जो गुंजता हुआ खूब जोरसे गुंजारव होवे वह 'गुंजित' कहाताहै।

बंध न होवे तबतक असज्झाय (१)।

४—व्युद्ग्रह—

१—राजाओंकी–दंडाधिकारी (कोटवाल आदि) ओं की–सेनापतिओंकी लडाई होती हो । अथवा उपासरेके आसपास सो सो हाथमें स्त्री–पुरुष या मल्ल लोक लडते हों, पर चक्रका भय हो यानि अन्य राजाने अपनी फोजसे गाम या शहरको घेर लिया हो, चोर धाडेती आदिका अत्यन्त भय हो, म्लेच्छ लोकोंका उपद्रव (दंगा–फिसाद) हो तो ये सब जबतक बंध न होवें तबतक असज्झाय । बंध होनेके बाद भी एक अहोरात्रि (२) असज्झाय ।

---

(१)—इसीतरह किसी देश–गाम–नगर आदिमें अन्य भी किसी देवी देवताओं के पूजा निमित्त जो महोत्सव होते हों जिसमें जीव हिंसा अधिक होती हों तो उस देश-गाम आदिमें जितने दिन तक वह महोत्सव रहें उतने दिन तक असज्झाय मानना-चाहिये ।

(२) जहां जहां अहोरात्रि लिखा है वहां वहां सर्वत्र यह समझना कि–जिस टाइम में असज्झाय हुआ हो दूसरे दिन उस टाइम तक सज्झाय छोडने की जरूरत नहीं, किंतु घडी रात रहते भी यदि असज्झाय हुआ हो तो भी सवेरे सूर्यउदय हुए बाद सज्झाय करना कल्पताहै । जहां जहां पहोरों की गिणती लिखी है वहां वहां उतने पूरे होने चाहिये ।

२—राजा कालकर जाय तो जब तक दूसरे राजाका अभिषेक न होवे तब तक तथा दूसरे राजाका अभिषेक होजाने परभी जब तक लोकोंमें शोक रहे तब तक असज्झाय ।

३— 'यहांका राजा अन्य देशमें काल करगया' ऐसे समाचार जिस दिन सुननेमें आवे उस दिन से १ अहोरात्रिका असज्झाय ।

४— जो गाम या शहरमें मुखिया हो अथवा जो राजका मुख्य अधिकारी हो। इनमें से किसी का मृत्यु होवे तो ८ पहोर असज्झाय ।

५— जो बहुत कुटुम्बवाला हो जो सिज्जातर (जिसमें साधु उतरे उस मकान) का स्वामी हो, इनमें से किसीकी मृत्यु होवे तथा उपासरेके आस पास सात (७) घर तकमें किसी प्रसिद्ध स्त्री या पुरुषका मृत्यु होवे तो १ अहोरात्रिका असज्झाय ।

६— उपासरेके आस पास सो सो हाथमें अनाथ (लावारिश मनुष्यका मृतक मुरदा जब तक पडा रहे तब तक असज्झाय, उठाये बाद नहीं ।

७—कोई रोता हो तो उसके रोनेका शब्द रातमें जहां तक सुननेमें आवे वहां तक असज्झाय, परन्तु दिन में नहीं।

८— जो आचार्य हो अथवा जो विद्या सिद्ध या शिष्य समुदाय आदि महाऋद्धि वाला हो, जो घोर तपस्वी हो, जिसने अणसण किया हो, उसी गाम-नगर आदिमें जिसके गृहस्थपणेके सगे संबंधी अधिक हों, ऐसा कोई साधु यदि काल करजाय तो तीन दिन तक असज्झाय।

५—शारीरिक—

१— जलमें चलने वाले मच्छ आदि जलचर, जमीन ऊपर फिरने वाले गो-भैंस आदि थलचर, और आकाशमें उडने वाले कबूतर आदि खेचर, इन तीन प्रकार के तिर्यंचों में से किसीभी पंचेंद्रीय चितंयके मांस-चमडा-रुधिर (लोही) और हड्डी, इनमें से कोई थोडासाभी उपासरेके आसपास साठ (६०) हाथ तककी भूमिमें यदि पडे तो तीन पहोरका असज्झाय।

२—उपासरेके आसपास साठ (६०) हाथ तकमें यदि गो-भैंस आदि कोई तिर्यंच व्यावे तो

मैली पडनेके बाद ३ पहोर असज्झाय।

३—व्यावे तो दूसरी जगह पर, लेकिन मैली उपासरेके नजीक ६० हाथ तकमें यदि पडे तथा इंडा फूटे तो ३ पहोर असज्झाय। उपासरे में अथवा उपासरेके बाहर भी किसी कपडे आदिके ऊपर इंडा फूटे तो ६० हाथसे दूर जाकर कपडा धो डाले तो असज्झाय नहीं होता, परन्तु भूमि ऊपर यदि फूटे और उसका रस जमीन में उतर जाय तब तो चाहे जमीन ऊपरसे निकाल देवे तो भी तीन पहोरका असज्झाय अवश्य होता है, क्योंकि जमीन खोद कर कुच्छ निकाली नहीं जाती। जिसमें मक्खीका पग डुब सके उतना भी इंडेके रसका अथवा रुधिरका बिंदु यदि जमीन ऊपर पडे तो असज्झाय होता है।

४—उपासरेके आसपास सो सो हाथ तकमें मनुष्यका मांस-चमडा (चामडी) और रुधिर पडे तो मनुष्यके शरीरसे जुदे हुए बाद १ अहोरात्रि असज्झाय। मांस और चमडी तो तीन पहोरके पहले भी यदि उठा देवे तो असज्झाय मिट जाताहै, परंतु पडे हुए रुधिरको उठा देवे तो भी १ अहोरात्रि असज्झाय होता है, घाडि आधी घडी रात रहते भी जो रुधिर पडा हो उस को उसी वख्त उठवा देवे तो सवेरे सूर्य

उदयके बाद असज्झाय मिट जाता है।

५— उपासरेके आसपास सो सो हाथ तकमें किसी स्त्रीके यदि लडका जन्मे तो ७ दिन और लडकी जन्मे तो ८ दिन असज्झाय।

६— उपासरेके नजीक सो सो हाथ तकमें किसी स्त्रीके 'ऋतु धर्म (अटकाव) आया है' ऐसा मालूम होवे तो ३ दिन असज्झाय, ३ दिनके बाद भी रोगादिकके कारण किसीके रुधिर बहता रहे तो 'असज्झाय ओहडावणऽत्थं' काउसग्ग करने पर सज्झाय करना कल्पताहे।

७— उपासरेके नजीक सो सो हाथ तकमें किसीके दांत या दाढ यदि पडजाय तो तलाश करके दूर हटवा देना, यदि न मिले तो 'दंत ओहडावणऽत्थं' काउसग्ग करने पर सज्झाय करना कल्पताहे।

८—मनुष्यकी हड्डी शरीरसे जुदी हुए बाद १२ वर्ष तक जहां पडी रहे वहां सो सो हाथ तक में असज्झाय होता है, वास्ते उपासरेके आसपास सो सो हाथ तकमें मनुष्यकी हड्डी यदि पडी हो तो उसको उठवाये विना सज्झाय करना नहीं कल्पताहे।

९—मनुष्य या तिर्यंच, चाहे जिसकी हो, जो हड्डी श्मशानमें जलगई हो, अथवा किसी जगहसे पाणीमें बहकर आई हो उसका असज्झाय नहीं होता ।

१०—मनुष्यके शरीर संबंधी अवयव अथवा रुधिर सौ हाथके अन्दर और तिर्यंचके शरीर संबंधी अवयव अथवा रुधिर ६० हाथके अन्दरभी जिस जगह पडे हों उसके और उपासरेके बीचमें आमेसामे दोनों गाडियां एक साथ निकल सकें वैसा मोटा मार्ग पडता हो तो असज्झाय नहीं होता, किसीके पुत्र या पुत्रिका जन्म होवे अथवा तिर्यंच व्यावे तो उसमेंभी इसी तरह समझना ।

११—मनुष्यके चाहे तिर्यंचके शरीरका अवयव अथवा रुधिर जिस जगह पडे वह जगह यदि वर्षादके पानीसे धोवा जाय अथवा अग्निसे जल जाय तो असज्झाय नहीं होता ।

१२—कोई मांसाहारी जानवर खायेहुये मांसादिको वमन करके पीछा निकाल देवे तो उसका तथा रंधाये हुए मांसादिका असज्झाय नहीं होता ।

१३—मांसादिक खाया हुआ कोई जानवर उपासरेके पासमें यदि खडा रहे तो उसके मुखपर या अन्य

किसी अवयव ऊपर यदि रुधिरादिक न लगा हो तब तो असज्झाय नहीं होता, परन्तु रुधिरादिक लगा हो तो जबतक खडा रहे तबतक असज्झाय ।

प्रकीर्णक-विचार—

१—एक पहोर रातवीते वहां तक देवसी पडिक्कमणा करना कल्पता है, और आवश्यक चूर्णिके अभिप्रायसे उग्घाडा पोरिसीका वखत होवे वहांतक तथा व्यवहार सूत्रके अभिप्रायसे दो पहोर दिन चढे वहांतक राइ पडिक्कमणा करना कल्पता है ।

२—'सिद्धाणं बुद्धाणं' मेंकी "चत्तारि अट्ठ दस दोय वंदिया" यह गाथा बोलते हुए शरीरको इधर उधर घुमाना नहीं ।

३—पडिक्कमणा आदि हरएक क्रियामें जो कोईभी सूत्र बोलना वह इधर उधर चित्त रखके अस्त व्यस्त पणेसे नहीं बोलना, किंतु संपदा आदिका उपयोग रखकर शुद्ध उच्चारण पूर्वक बोलना ।

४—सवेरे राइ पडिक्कमणेकी शुरुआतमें "जयउसामि"का १, राइ पडिक्कमणेके अंतमें "परसमय

तिमिरतराणिं" का २, मंदिरमें ३, पच्चक्खाण पारनेका ४, सवेरको आहार करे बाद ५, देवसी पडिक्कमणेकी शुरुआतका ६, संथारा पोरिसी भणाते समय ७, ये सात चैत्यवंदन साधु साध्विओंको हमेशां करने चाहिए।

५—सवेरे पडिलेहण करे बाद १, संध्या की पडिलेहणके बीचमें २, देवसी पडिक्कमणेके अंतमें अथवा पच्चक्खाण पारती वखत ३, राइ पडिक्कमणेकी शुरुआतमें ४, इस तरह दिनमें चारवार सज्झाय करने की हैं।

६—जिन जिन क्रियाओंमें पालखी लगाके बैठनेका न होवे किंतु उभे पगोंसे बैठनेका होवे अथवा खडे रहनेका होवे उन क्रियाओंमें आसनको ओघेसे एक तरफ हटा देना, परंतु उसके उपरही न रहना।

७—लौकिक टीपणेके अनुसार श्रावण महीना बढजाय तो आषाढ चौमासीसे पचासमें दिन दूसरे श्रावण सुदी चौथको संवच्छरी पडिक्कमणा करना, भादवेमें शास्त्र विरुद्ध अस्सी (८०) में दिन नहीं करना।

८—यदि भादवे दो होवे तो आषाढ चौमासीसे पचासमें दिन पहले भादवे सुदी चौथको संवच्छरी पडिक्कमणा करना परन्तु दूसरे भादवेमें अस्सी (८०) दिने नहीं करना।

९—लौकिक टीपणेमें संवच्छरीकी चौथका यदि क्षय होवे तो आगम सम्मत पंचमीके दिन और

यदि पंचमीका क्षय होवे तो आचरणा सम्मत चौथके दिन संवच्छरी पडिक्कमणा करना, परंतु आगम और आचरणा दोनोंसे विरुद्ध होके तीजको कभी नहीं करना।

१०—लौकिक टीपणेमें यदि संवच्छरीकी चौथ दो होवे तो संपूर्ण ६० घडीकी पहली चौथके दिन संवच्छरी पाडिक्कमणा करना, परंतु १–२ अथवा १०–२० पलकी अथवा घड़ी दो घडीकी अधूरी दूसरी चौथ के दिन नहीं करना, यदि पंचमी दो होवे तो आचरणा सम्मत चौथके दिन संवच्छरी पडिक्कमणा करना, परंतु आचरणा विरुद्ध होके झूंटी कल्पनासे चौथ मानकर पहली पंचमीको संवच्छरी पडिक्कमणा नहीं करना।

११—लौकिक टीपणेमें किसीभी महिनेकी पूनम या अमावस यदि दो होवे तो पक्खी तथा चौमासी पडिक्कमणा चउदसके दिन करना, पहली पूनम या अमावसके दिन नहीं करना।

१२—लौकिक टीपणेमें किसीभी महिनेकी पूनम या अमावसका क्षय होवे तो पक्खी और चौमासी पडिक्कमणा तथा पक्खी संबंधी अथवा चउदस संबंधी उपवास चउदसके दिनही करना, परंतु अपनी मनः कल्पनासे, तेरसको चउदस और चउदसको पूनम या अमावस मानके तेरसके दिन नहीं करना, जो कोई

चउदस–पूनम या चउदस–अमावसका छठ (वेला) करता होवे वह तेरस और चउदसका बेला कर लेवे लेकिन पक्खी तथा चौमासी पडिक्कमणा तो चउदसकाही करे।

१३—लौकिक टीपणेमें किसीभी महिनेकी चउदस यदि दो होवे तो चउदस या पक्खीका उपवास तथा पक्खी ओर चौमासी पडिक्कमणा सूर्य उदय युक्त संपूर्ण साठ (६०) घडीकी पहली चउदसके दिन करना, घडी आधी घडीकी दूसरी अधूरी चउदसके दिन नहीं करना, अलबत्ता लीलोतरीका त्याग, शीलव्रत का पालना आदि अगता तो पहली और दूसरी दोनों चउदसोंके दिन गृहस्थोंको पालना चाहिए, ज्यादा पालने में कोइ नुक्सान नहींहै, लाभहीहै, कमती पालनेमें एक पर्वतिथिकी विराधनाके कारण जरूर अलाभ (नुक्सान) है।

१४—लौकिक टीपणेमें किसीभी महिनेकी चउदसका क्षय होवे तो बंधी (१४ वर्ष १४ महिने आदिके प्रमाणसे उचरी हुइ) चउदसके व्रतका उपवास तो तेरस को कर लेना परंतु पक्खीका उपवास तथा पक्खी ओर चौमासी पडिक्कमणा आगमसम्मत पूनम या अमावसके दिन करना, तेरसके दिन नहीं।

१५—लौकिक टीपणेमें किसीभी महिनेकी दूज (वीज), पंचमी तथा इग्यारस इनमेंसे कोईभी

पर्वतिथि यदि दो होवे तो उस पर्वतिथिका उपवास आदि व्रत–नियम पहली पर्व तिथिमें करना, अर्थात् उदय तथा अस्त दोनों सहित संपूर्ण साठ (६०) घडीकी पहली दूज, पहली पंचमी और पहली इग्यारस के दिन उपवास आदि व्रत–नियम करना, लीलोतरीका त्याग तथा शीलव्रतका पालना आदि अगता पहली और दूसरी दोनों पर्वतिथिओंमें गृहस्थोंको पालना चाहिए।

१६—लौकिक टीपणेमें किसीभी महिनेकी दूज, पंचमी तथा इग्यारस इनमेंसे चाहे जिस पर्वतिथि का क्षय होवे तो उस पर्वतिथिके उपवास आदि कृत्य पहली तिथिमें करना, अर्थात् दूजका क्षय होवे तो दूजके व्रत नियम एकमके दिन, पंचमीका क्षय होवे तो पंचमीके व्रत–नियम चौथके दिन और इग्यारसका क्षय होवे तो इग्यारसके व्रत–नियम दशमके दिन करने।

१७—लौकिक टीपणेमें चाहे जिस महीनेके कृष्ण (वद–अंधेरिए) पक्षकी इग्यारस यदि दो होवे तो दशमका एकासणा दशमके दिनही करना, परन्तु अपनी मनः कल्पनासे दो दशम मानके दूसरी दशम जो कि ज्योतिषके हिसाबसे उदय तथा अस्त दोनों सहित संपूर्ण साठ (६०) घडीकी पहली इग्यारसहै उस

दिन नहीं करना । इसी तरह यदि इग्यारसका क्षय होवे तोभी दशमका एकासणा तो दशमकेही दिन करना, परंतु ज्योतिषके हिसाबसे सूर्य उदय युक्त दशम तिथीको अपनी मनः कल्पनासे इग्यारस मानकर उसके पहले नवमी जो कि वास्तवमें ज्योतिषके गणितानुसार सूर्य उदय युक्त नवमीहीहै, उस दिन दशमका एकासणा नहीं करना ।

१८—रातमें जिसके कच्चा पाणी पीना होवे उस श्रावकको देवसिय पडिक्कमणेमें दिवसचरिम दुविहार का पच्चख्खाण करना चाहिए, तिविहारका नहीं करना, क्योंकि तिविहारका पच्चख्खाण करे बाद सचित्त (कच्चा) पाणी पीना नहीं कल्पता ।

अगर कोई ऐसा कहे कि–अशन (अन्नादि), खादिम (मेवा तथा फलादिक) और स्वादिम (पान सोपारी-इलायची आदि) इन तीन प्रकारके आहारकाही तो तिविहारमें त्याग होताहै ? तो फिर कच्चा पाणी पीनेमें क्या हर्जहै ? तो जवाबमें मालूम होवे कि–जैसे तिविहार उपवासमें दिनभरके लिए तीन प्रकारके आहारका त्याग होताहै तथा तिविहार एकासणे–बियासणे आदि में एक वार अथवा दो वार खा लेने

के बाद दिनभरके वास्ते तीन प्रकारके आहारका ही त्याग होताहै परंतु कच्चा पाणी सचित्त होने से नहीं पीया जाता वैसेही दिवसचरिम तिविहारमेंभी तिविहार उपवास आदिके समानही तीन प्रकारके आहार का त्याग होता है वास्ते दिवसचरिम तिविहारका पच्चख्खाण करे बाद रातमें सचित्त (कच्चा) पाणी पीना नहीं कल्पता ।

सूतक–विचार

१––पुत्र जन्म होनेसे दस दिन सूतक, पुत्री दिनमें जन्मे तो ११ दिन और रात्रिमें जन्मे तो १२ दिन सूतक

२––प्रसववाली स्त्रीको एक मासका सूतक, वहांतक मंदिरमें न जावे, ४० दिनतक देवपूजा न करे. तथा साधुको वहोरावे नहीं ।

३––परदेशसे मृत्युकी सुणावणी आनेपर एकदिन सूतक । जन्म होतेही मृत्यु होनेपर एकदिन सूतक । यह मृत्यु दिनसे ही एक दिनका सूतकहै ऐसा नहीं मानना किन्तु जन्म सूतकके ११–१२ दिनके

उपर मरण सूतक १ दिन अधिक मानना, यदि ऐसा न माना जाय तो सात या आठ महिनेके गर्भ गिरनेका सूतक तो ७–८ दिन मानना और गर्भस्थिति पूरी होके जन्मे हुए बच्चेके मरणका सूतक एक दिनका ही मानना कैसे संभव हो सके ?, कदापि नहीं, इसलिए जन्म सूतकके उपरांत १ दिन मरण सूतकका अधिक मानना ही योग्य मालूम होताहे, इससे पांच छ महीनेका बालक हो या ज्यादा कम चाहे जितनी अवस्थाका हो, अपने घरके मनुष्यका मरण जिस घरमें हुआ हो उस घरमें १२ दिनका सूतक अवश्य मानना चाहिए।

४—अपनी निश्रामें रहे हुए दासी आदिके पुत्रादिका जन्म या मरण तथा परदेशी साधर्मी जाति भाईका मरण अपने घरमें होवे तो तीन दिन सूतक ।

५—गाय भेंस आदि पशु घरमें व्यावे तो एक दिन सूतक, बाहर व्यावे तो कुछ नहीं ।

६—पशुका मरण होने पर कलेवर घरसे बाहर लेजाय वहां तक सूतक, बाद में नहीं ।

७—स्त्रीके गर्भ जितने मासका गिरे उतने दिन सूतक ।

८—जन्म सूतक या मरण सूतकके घरवाले मनुष्य जो कि उसी जन्म मरणवाले घरमें रहते हों. वे १२ दिन देव पूजा न करें, लेकिन चाहे एक गोत्रके या सगे भाई वा पिताही होवे परन्तु जुदे रहते हो, सूतकवाले घरमें जाना आना न हो, उनको किसी तरहका सूतक नहीं, वास्ते उनको जिन पूजा आदि करनेमें हरकत नहीं और उनके घरसे साधुओंको आहारादि वहोरनेमें भी हरकत नहीं।

९—जो मृतकके घरका मूल कांधीया हो परन्तु जुदे घरमें रहता हो वह १० दिन देवपूजा न करे।

१०—अन्य घरके जो मृतकको अडे हो? वे तीन दिन (२४ प्रहर) देव पूजा तथा प्रतिक्रमण न करें, यानि स्वयं प्रतिक्रमण भणावे नहीं, जो सदाका अखंड नियम होवे तो समता भाव रखके संवरपणेमें रहे, अथवा अन्य भणाता हो वह सुणे, परन्तु स्वमुखसे नवकारका भी उच्चारण न करे, स्थापना, नवकरवाली पुस्तक आदिके हाथ न लगावे।

११—जो स्वयं (खुद) मृतकको अडा न हो परन्तु मृतकको अडनेवाले अन्य मनुष्योंको स्नान करे पहिले अडा हो वह १६ प्रहर तथा एक स्नान करे बाद जो अडा हो वह ८ प्रहर देवपूजा प्रतिक्रमणादि न करे।

१२—जो किसीको भी न अडा हो वह दो वार स्नानसे शुद्ध होसकताहै।

१३—व्याये पीछे १५ दिन बाद भेंसका दूध, १२ दिन बाद गायका दूध, ८ दिन बाद बकरीका दूध पीना कल्पताहै, पहले नहीं।

१४—जन्म तथा मरणके सूतकवाले घरमें १२ दिनतक साधु आहार पाणी नहीं वहोरे और उस घरका जल तथा अग्नि भी देवपूजा में वापरना नहीं।

१५—नीशीथ सूत्रके सोलमे उद्देशेके भाष्यमें जन्म मरणके सूतकवाला घर दुगंछनीय (चमारादिके घर जैसा घृणाजनक) होनेसे आहार पाणी लेने आदिके लिये निषिद्ध बतायाहै, देखो यह रहा वह पाठ—

"दुविहा दुगंछिया खलु, इत्तरिआ हुंति आवकहिआ य। एएसिं नाणत्तं, वुच्छामि आणुपुव्वीए ॥ १ ॥ सूअगमयगकुलाइं, इत्तरिया जे हवंति निज्जूढा। जे जत्थ जुंगिआ खलु, ते हुंति आवकहिआओ ॥ २ ॥ तेसु अण्णा-बत्थाई, वसही विपरिणामो तहेव कुच्छाय। तेसिंपि होइ कुच्छा, सव्वे एयारिसा मन्ने ॥ ३ ॥ इति भाष्यं, अत्रचूर्णि-व्याख्या—सूअग० गाहा, ('इत्तरिआ') कालावहिए जे ठप्पा कया ते निज्जूढा, भक्तपानग्रहणादौ निषिद्धाः १, आवकहिगा—जे कुला जत्थ विसए जात्यादि जुंगिआ—दुगंछिआ अभोज्या इत्यर्थः"

जो कितनेक शास्त्रोत्तीर्ण वादी चैत्यवासी यतियोंकी परंपरा वाले सकलागमरहस्यवेदित्वाभिमानीलोग जन्म मरणके सूतकको लौकिक कहके नहीं मानते हैं और ऐसे सूतक वालेको भी जिनपूजा आदि करनेका उपदेश देते हैं यह बिल्कुल शास्त्र विरुद्ध है, यदि लौकिक होने के कारण जन्म मरणके सूतकवालेका घर जिनपूजा आदि के लिए त्याज्य न माना जाय तो डूम चमारादिकके घर भी त्याज्य नहीं मानने पडेंगे, क्योंकि लौकिक-पणा दोनोंमें समान है, फरक इतना ही है कि–जन्मादिकके सूतक वाला घर इत्वरिक (अमुक टाइमतक) त्याज्य है और डूम चमारादिकके घर यावत्काथिक (सर्वदा) त्याज्य हैं, देखो आगे लिखे शास्त्र पाठ—

"लोइओ दुविहो–इत्तरिओ आवकहिओ अ, इत्तरिओ सूअगादिसु दसाइदिवसपरिवज्जणं, आवकहिओ जहा–नट्टवरुडछिंपगचम्मारडुंबा य, लोउ(त्तरइ)त्तरिओ सेज्जादाणअभिगमसड्ढादि, आवकहिओ रायपिंडो इति" निशीथचूर्णि "प्रतिक्रुष्टकुलं द्विविधं–इत्वरं १ यावत्कथिकं च २, इत्वरं सूतकयुक्तं, यावत्कथिकमभोज्यं, एतन्न प्रविशेत्, शाशनलघुत्वप्रसंगात्" दशवैकालिक टीका हरिभद्रसूरिजी कृत ।

१६—ऋतुवंती स्त्री चार दिनतक भांडादिकको अडे नहीं तथा जिनदर्शन मुनिवंदन प्रतिक्रमणादि करे नहीं, पांच दिन देवपूजा नहीं करे ।

॥ ११६ ॥

१७—किसीके रोगादि कारणसे तीन दिन बाद भी रक्त (खून) बहता दीखे तो उसका विशेष दोष नहीं, शुद्धविवेकसे पवित्र होके पांच दिन बाद स्थापना व पुस्तकादिको अडे, साधुको वहोरावे, जिन दर्शन तथा अग्र पूजा करे, परन्तु अंग पूजा न करे, जिनके ऋतुधर्मका टाइम नियमित न हो, याने आगे पीछे (मोड़ा-वेगा) विना टाइमसे ऋतुधर्म आता हो उनको तो तीर्थादि हर किसी जगह रही हुई चमत्कारी मूलनायक जिनप्रतिमाकी अंगपूजा नहीं करनी, जिससे प्रभु आशातनाको नहीं सहने वाले अधिष्ठायक देवका तथा उस देव संबंधी चमत्कारका लोप न हो और जिन प्रतिमाकी महिमा नष्ट होने के कारण शासनोन्नतिको नाशकरनेके दोषकी भागीदार वह स्त्री न होने पावे ।

१८—ऋतुवंती स्त्रीको ऋतुदिनमें तपस्या करनी कल्पतीहै और उनकी करी तपस्या सफलहै परन्तु ऋतुदिनमें जिनपूजा प्रतिक्रमणादि कोई भी क्रिया करनी नहीं कल्पती ।

बारहव्रत तथा सर्व तपस्या उच्चारण विधिः—



प्रथम नंदीकी स्थापना करनी, जो विस्तारसे नंदी करनी हो तो मुद्रित लघुदीक्षा विधिमें लिखित नंदी विधिकी तरह दश दिक्पालोंका आह्वानादि करना, और सामान्य पणे करना हो तो स्थापनाचार्यके आगे बाजोट ऊपर पांच साथिये करके ऊपर एक अथवा पांच श्रीफल रखे, ज्ञान पूजा करे, पीछे बारह-व्रतग्राही वा तपस्याग्राही अंजलीमें चांवल, श्रीफल रोकड नाणुं लेकर स्थापनाचार्यके सामने चारों दिशामें एक एक नवकार गिणता हुआ तीन प्रदक्षिणा देकर चांवल श्रीफलादि स्थापनाचार्यके सामने रखे, बाद खमासमण देकर इरियावही पडिक्कमे, पीछे खमा० देकर (१) मुहपत्ति पडिलेहके दो वांदणे देवे और खमा० देकर कहे 'इच्छा कारेण तुम्हे अम्हं (२) सम्मत्तसामाइय सुयसामाइय देसाविरइसामाइय आरोवणियं

(१) यहां पर मुहपत्ति पडिलेहण, वांदणे तथा नंदी कड्ढावणी काउस्सग्ग विधिप्रपामें नहीं है।

(२) समकित विना बारह व्रत नहीं उच्चरेजाते वास्ते समकित सहित बारह व्रत उचरने हो तो यह आदेश बोले, केवल समकित लेना हो तो आदेश लेते समय 'सम्मत्तसामाइय सुयसामाइय' कहे, जिसने समकित पहले लिया हो वह केवल देशविरतिका आदेश

नंदीकड्ढावणियं काउसग्ग करूं' गुरु कहे 'करेह' तब व्रतग्राही 'इच्छं सम्मत्तसामाइय सुयसामाइय देस-विरइसामाइय आरोवणियं नंदीकड्ढावणियं करेमि काउस्सगं अनत्थ०' कह कर "सागरवरगंभीरा" तक एक लोगस्सका काउस्सग्ग करके पारकर प्रगट लोगस्स कहे, पीछे खमा० देकर कहे 'इच्छा करेण तुम्हे अम्हं सम्मत्तसामाइय सुयसामाइय देसविरइसामाइय आरोवणत्थं वासक्खेवं करेह, चेइयाइं वंदावेह' तब गुरु 'वासक्खेवं करेमो, चेइयाइं वंदावेमो' ऐसा कहकर व्रतग्राहीके सिरपर वासक्षेप करे, पीछे व्रतग्राहीको अपनी डावी तरफ रखकर गुरु अठारह थुइसे देव वंदावे, यथा—

लेवे, जिसको केवल चौथा व्रत लेना हो वह 'चउत्थव्वय' ऐसा आदेश लेवे, किसीको पांच अणुव्रत लेना हो तो 'पंचमणुव्वय' ऐसा आदेश लेना, अथवा 'देसविरइसामाइय' कहनेमें भी कुछ दोष नहीं है, क्योंकि देशविरतिमें सब व्रतोंका समावेश होजाताहै, जितने व्रत लेने हो उतने व्रतोंका दंडक पाठ उच्चराना। पंचमी आदि जो तपस्या लेना हो उसी तपस्याका आदेश लेना। यहांपर श्रावकों को श्रुत-सामायिक का आरोपण उपधान वहन विधि से और श्रुतारोपण श्रावक संबंधी सूत्रोंके मुखपाठ पढनेसे होता है, इसलिए श्रुतसामायिक उच्चराने का दंडकपाठ नहीं है, केवल आदेश मांगनेका है।

देववंदन विधिः—

तीन खमासमण देकर 'इच्छा कारेण संदिसह भगवन् ! चैत्यवंदन करूँ' 'इच्छं'—आदिमं पृथवीनाथ—मादिमं निष्परिग्रहं। आदिमं तीर्थनाथं च, ऋषभ स्वामिनं स्तुमः ॥ १ ॥ सुवर्णवर्णं गजराजगामिनं, प्रलंबबाहुं सुविशाललोचनं। नरामरेन्द्रैः स्तुतपादपंकजं, नमामि भक्त्या ऋषभं जिनोत्तमं ॥ २ ॥ अर्हंतो भगवंतइंद्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिता, आचार्या जिनशोसनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः। श्रीसिद्धांतसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः, पंचैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वंतु वो मंगलं ॥ ३ ॥, जं किंचि० नमुत्थुणं० इत्यादि बालके आगे लिखी चार थुइसे देववंदन करे, थुइ यथा—यदंघ्रिनमनादेव, देहिनः संति सुस्थिताः। तस्मै नमोस्तु वीराय, सर्वविघ्न विघातिने ॥ १ ॥ सुरपतिनत चरणयुगान्, नाभेय जिनादिजिनपतीन्नौमि। यद्वचनपालनपरा, जलांजलिं ददतु दुखेभ्यः ॥ २ ॥ वदंति वंदारुगणाग्रतो जिनाः, सदर्थतो यद्रचयंति सूत्रतः। गणाधिपास्तीर्थसमर्थनक्षणे, तदंगिनामस्तु मतं तु मुक्तये ॥ ३ ॥ शक्रः सुरासुरवरैः सह देवताभिः, सर्वज्ञशासनसुखाय समुद्यताभिः। श्रीवर्द्धमानजिनदत्तमतप्रवृत्तान्, भव्यान् जनानवतु नित्यममंगलेभ्यः ॥४॥

उसके बाद नमुत्थणं० कहकर खडा होके आगे लिखे मुजब आदेश बोलता हुआ एक एक नवकारका काउसग्ग करके नमोऽर्हत्० कथन पूर्वक एक एक थुइ कहे, अंतिम काउस्सग्गमें चार लोगस्स और एक नवकारका चिंतवन करे, आदेश आदि बोलनेका क्रम इस मुजबहै—श्रीशांतिनाथ देवाधिदेव आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं, वंदणवत्तियाए० अन्नत्थ०, थुइ—रोगशोकादिभिर्दोषै—रजिताय जितारये। नमः श्रीशांतये तस्मै, विहितानंतशांतये ॥५॥ श्रीशांतिदेवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ—श्रीशांतिजिनभक्ताय, भव्याय सुखसंपदं। श्रीशांतिदेवता देया—दशांतिमपनीय मे ॥ ६ ॥ श्रुतदेवता आराधनार्थं—करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ—सुवर्णशालिनी देयात्, द्वादशांगी जिनोद्भवा। श्रुतदेवी सदामह्य—मशेषश्रुतसंपदं ॥ ७ ॥ भवनदेवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ—चतुर्वर्णाय संघाय, देवी भवनवासिनी। निहत्य दुरितान्येषा, करोतु सुखमक्षतं ॥ ८ ॥ क्षेत्रदेवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ—यासां क्षेत्रगताः संति, साधवः श्रावकादयः। जिनाज्ञां साधयंतस्ता, रक्षंतु क्षेत्रदेवताः ॥ ९ ॥ अंबिकादेवी आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ—अंबा नहतडिंबा मे, शुद्ध बुद्ध सुतान्विता। सिते सिंहे स्थिता गौरी, वितनोतु समी-

हितं ॥१०॥ पद्मावती देवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ–धराधिपातिपत्नी या, देवी पद्मावती सदा। क्षुद्रोपद्रवतः सा मां, पातु फुल्लत्फणावलिः ॥ ११ ॥ चक्रेश्वरी देवी आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ–चंचच्चक्रकराचारु–प्रवालदलसन्निभा। चिरं चक्रेश्वरी देवी, नंदतादवताच्च मां ॥१२॥ अछुप्तादेवी आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ–खड्गखेटक कोदंड, बाणपाणिस्तडिद्द्युतिः। तुरंगगमनाऽच्छुप्ता, कल्याणानि करोतु मे ॥ १३ ॥ कुबेरादेवी आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ–मथुरापुरिसुपार्श्व, श्रीपार्श्वस्तूपरक्षिका। श्रीकुबेरा नरारूढा, सुतांकाऽवतु वो भयात् ॥ १४ ॥ ब्रह्मशांति यक्ष आरधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ–ब्रह्मशांतिः स मां पाय–दपायाद्वीरसेवकः। श्रीमत्सत्यपुरे सत्या, येन कीर्त्तिः कृता निजा ॥ १५ ॥ गोत्र देवता आराधनार्थ करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ–या गोत्रं पालयत्येवं, सकलापायतः सदा। श्रीगोत्रदेवता रक्षां, सा करोतु नतांगिनां ॥ १६ ॥ शक्रादि समस्त वैयावृत्यकर देवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ–श्रीशक्रप्रमुखा यक्षा, जिनशासन संश्रिताः। देवदेव्यस्तदन्येऽपि, संघं रक्षत्वपायतः १७ सिद्धायिका शासनदेवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, ४ लोगस्स और १ नवकारका काउस्सग्ग, थुई–

श्रीमद्विमानमारूढा, यक्ष मातंग संगता । सा मां सिद्धायिका पातु, चक्रचापेषुधारिणी ।१८। बाद प्रगट लोगस्स और तीन नवकार कहकर बैठके नमुथुणं०, जावंति चेइयाइं०, जावंत केवि०, नमोऽर्हत्०, परमेष्टिनमस्कारं, सारं नवपदात्मकं । आत्मरक्षाकरं वज्र—पंजराभं स्मराम्यहं ॥१॥ ॐनमो अरिहंताणं, शिरस्कं शिरसिस्थितं । ॐनमो सव्वसिद्धाणं, मुखे मुखपटांबरं ॥२॥ ॐनमो आयरियाणं, अंगरक्षाऽतिशायिनी । ॐनमो उवज्झायाणं, आयुधं हस्तयोर्दृढं ॥३॥ ॐनमो सव्वसाहूणं, मोचके पादयोः शुभे । एसो पंचनमुक्कारो, शिलावज्रमयी तले ॥४॥ सव्वपावप्पणासणो, वप्रो वज्रमयो बहिः । मंगलाणं च सव्वेसिं, खादिरांगारखातिका ॥५॥ स्वाहांतं च पदं ज्ञेयं, पढमं हवइ मंगलं । वप्रोपरि वज्रमयं, पिधानं देहरक्षणे ॥६॥ महाप्रभावा रक्षेयं, क्षुद्रोपद्रवनाशिनी, परमेष्टि पदोद्भूता, कथिता पूर्वसूरिभिः ॥७॥ यश्चैवं कुरुते रक्षां, परमेष्ठिपदैः सदा, तस्य न स्याद्भयं व्याधि—राधिश्चापि कदाचन ॥९॥ पीछे जयवीयराय० सब जणे कहें ॥ इति देववंदनं विधिः ॥

उसके बाद व्रतग्राही खमासमणा देकर मुहपत्ति पडिलेहके दो वांदणा देवे और खमासमणा देकर बोले 'इच्छाकारेण तुम्हे अम्हं सम्मत्तसामाइय सुयसमाइय देसविरइसामाइय आरोवणत्थं काउसग्गं करावेह'

हितं ॥१०॥ पद्मावती देवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ–धराधिपातिपत्नी या, देवी पद्मावती सदा । क्षुद्रोपद्रवतः सा मां, पातु फुल्लत्फणावलिः ॥ ११ ॥ चक्रेश्वरी देवी आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ–चंचच्चक्रकराचारु–प्रवालदलसन्निभा । चिरं चक्रेश्वरी देवी, नंदतादवताच्च मां ॥१२॥ अच्छुप्तादेवी आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ–खड्गखेटक कोदंड, बाणपाणिस्ताडिद्द्युतिः । तुरंगगमनाऽच्छुप्ता, कल्याणानि करोतु मे ॥ १३ ॥ कुबेरादेवी आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ–मथुरापुरिसुपार्श्वे, श्रीपार्श्वस्तूपरक्षिका । श्रीकुबेरा नरारूढा, सुतांकाऽवतु वो भयात् ॥ १४ ॥ ब्रह्मशांति यक्ष आरधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ–ब्रह्मशांतिः स मां पाय–दपायाद्वीरसेवकः । श्रीमत्सत्यपुरे सत्या, येन कीर्त्तिः कृता निजा ॥ १५ ॥ गोत्र देवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ–या गोत्रं पालयत्येवं, सकलापायतः सदा । श्रीगोत्रदेवता रक्षां, सा करोतु नतांगिनां ॥ १६ ॥ शक्रादि समस्त वैयावृत्यकर देवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, थुइ–श्रीशक्रप्रमुखा यक्षा,जिनशासन संश्रिताः । देवदेव्यस्तदन्येऽपि, संघं रक्षत्वपायतः १७ सिद्धायिका शासनदेवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०, ४ लोगस्स और १ नवकारका काउस्सग्ग, थुई–

भिइ अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थिय देवयाणि वा अन्नउत्थिय परिग्गहियाणि वा अरिहंतचेइयाणि वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा पुव्विं अणालत्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा, खित्तओणं इहेव वा अन्नत्थ वा, कालओणं जावज्जीवाए, भावओणं जाव गहेणं न गहिज्जामि, जाव छलेणं न छलिज्जामि, जाव सन्निवाएणं नाभिभविज्जामि, जाव अन्नेण वा केणवि परिणामवसेणं एसो परिणामो मे न परिवडइ ताव मे एयं सम्मदंसणं, अन्नत्थ रायाभियोगेणं, बलाभियोगेणं, गणाभियोगेणं, देवाभियोगेणं, गुरुनिग्गहेणं, वित्तिकंतारेणं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ॥ १ ॥

स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रतका दंडक—अहन्नं भंते! तुम्हाणं समीवे थूलगं पाणाइवायं संकप्पओ निरवराहं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए दुविहं, तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करोमि, न कारवेमि, तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ २ ॥

स्थूल मृषावाद विरमण व्रतका दंडक—अहन्नं भंते! तुम्हाणं समीवे थूलगं मूसावायं जीहाच्छेयाइहेउयं

गुरु कहे 'करावेमो' इच्छं खमासमणा देकर 'सम्मत्तसामाइय सुयसामाइय देसविरइसामाइय आरोवणत्थं करेमि काउसग्गं अन्नत्थ०' कहकर "सागरवरगंभीरा" तक एक लोगस्सका काउसग्ग करके प्रगट लोगस्स कहे, बाद खमा० देकर व्रतग्राही कहे 'इच्छाकारेण तुम्हे अम्हं सम्मत्तसामाइय सुयसामाइय (१) देसविरइसामाइय सुत्तं उच्चरावेह' गुरु कहे 'उच्चरावेमो' व्रतग्राही 'इच्छं' कहकर एक एक व्रतके आलावेकी शुरुमें तीन तीन नवकार गिणकर थोडासा नमा हुआ जैसे गुरु पाठ उच्चरावे वैसे गुरुके साथ खुद्भी मनमें पाठ कहता हुआ समकितसामायिक देसविरतिसामायिकका दंडक क्रमसे तीन तीन वार उच्चरे गुरुभी समकित आदि एक एक व्रतके आलावा तीन तीन वार उच्चराये, बाद व्रतग्राही के मस्तक पर वासक्षेप डाले। समकित-दंडकपाठ यथा—

अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे मिच्छत्ताओ पडिक्कमामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि, तंजहा—दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, दव्वओणं मिच्छत्तकारणाइं पच्चक्खामि, सम्मत्तकारणाइं उवसंपज्जामि, नो मे कप्पइ अज्जप्प-

(१) यद्यपि श्रुतसामायिकका आलावा जुदा नहीं है तो भी पाठ भंग न होनेके लिये श्रुतसामायिकका भी नाम बोलना विधिप्रपामें कहा है।

मेहुणं पच्चक्खामि अहागहियभंगएणं, तत्थ दुविहं तिविहेणं दिव्वं तिरिच्छं एगविहं तिविहेणं, माणुस्सयं एगविहं एगविहेणं पच्चक्खामि, दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, दव्वओ णं मेहुणं, खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा, कालओ णं जावज्जीवाए, भावओ णं जाव गहेणं न गहिज्जामि, छलेणं न छलिज्जामि, अन्नेण केणवि रोगातंकेणं जाव एसो परिणामो मे न परिवडइ ताव मे एयं अभिग्गहं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ॥ ५ ॥

स्थूल परिग्रह विरमण व्रतका दंडक—अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे परिग्गहं पडुच्च अपरिमियपरिग्गहं पच्चक्खामि, धणधन्नाइ नवविह वत्थुविसयं इच्छापारिमाणं उवसंपज्जामि, अहागहिय भंगएणंदव्वओ खितओ कालओ भावओ, दव्वओ णं नवविहं परिग्गहं, खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा, कालओ णं जावज्जीवाए, भावओ णं जाव गहेणं न गहिज्जामि, छलेणं न छलिज्जामि, अन्नेण केणवि रोगातंकेण जाव एसो परिणामो मे न परिवडइ ताव मे एयं अभिग्गहं दुविहं तिविहेणं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिया-गारेणं वोसिरामि ॥ ६ ॥

कन्नालियं गोवालियं भोमालियं थापणमोसं कूडसक्खीयं पंचविहं पच्चक्खामि दक्खिन्नाइअविसए अहागहिय-भंगएणं, दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, दव्वओणं मुसावायं, खित्तओणं इत्थ वा अन्नत्थ वा, कालओणं जावज्जीवाए, भावओणं जाव गहेणं न गहिज्जामि, छलेणं न छलिज्जामि, अंन्नेण केणवि रोगातंकेण वा जाव एसो परिणामो मे न पडिवडइ, ताव मे एयं अभिग्गहं, दुविहं तिविहेणं अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ॥ ३ ॥

स्थूल अदत्तादान विरमण व्रतका दंडक—अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे थूलगं अदिन्नादाणं खत्तखणणाइयं चोरंकारकरं रायनिग्गहकारयं सचित्ताचित्तवत्थुविसयं पच्चक्खामि, दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, दव्वओणं अदिन्नादाणं, खित्तओणं इत्थ वा अण्णत्थ वा, कालओणं जावज्जीवाए, भावओणं जाव गहेणं न गाहिज्जामि छलेणं न छलिज्जामि अन्नेण केणवि रोगातंकेण वा जाव एसो परिणामो मे न परिवडइ, ताव मे एयं अभिग्गहं, दुविहं तिविहेणं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ॥ ४ ॥

स्थूल मैथुन विरमण व्रतका दंडक—अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे ओरालिय वेओव्विय भेयभिन्नं थूलगं

मेहुणं पच्चक्खामि अहागहियभंगएणं, तत्थ दुविहं तिविहेणं दिव्वं तिरिच्छं एगविहं तिविहेणं, माणुस्सयं एगविहं एगविहेणं पच्चक्खामि, दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, दव्वओ णं मेहुणं, खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा, कालओ णं जावज्जीवाए, भावओ णं जाव गहेणं न गहिज्जामि, छलेणं न छलिज्जामि, अन्नेण केणवि रोगातंकेणं जाव एसो परिणामो मे न परिवडइ ताव मे एयं अभिग्गहं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ॥ ५ ॥

स्थूल परिग्रह विरमण व्रतका दंडक—अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे परिग्गहं पडुच्च अपरिमियपरिग्गहं पच्चक्खामि, धणधन्नाइ नवविह वत्थुविसयं इच्छापरिमाणं उवसंपज्जामि, अहागहिय भंगएणंदव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, दव्वओ णं नवविहं परिग्गहं, खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा, कालओ णं जावज्जीवाए, भावओ णं जाव गहेणं न गहिज्जामि, छलेणं न छलिज्जामि, अन्नेण केणवि रोगातंकेण जाव एसो परिणामो मे न परिवडइ ताव मे एयं अभिग्गहं दुविहं तिविहेणं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ॥ ६ ॥

दिक्‌परिमाण व्रतका दंडक—अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे दिसिपरिमाणं पडिवज्जामि, दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, दव्वओ णं दिसिपरिमाणं, खित्तओ णं धारणापरिमाणं, कालओ णं जावज्जीवाए, भावओ णं जाव गहेणं न गहिज्जामि, छलेणं न छलिज्जामि, अन्नेण केणवि रोगातंकेण जाव एसो परिणामो मे न परिवडइ ताव मे एयं अभिग्गहं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ॥ ७ ॥

भोगोपभोग व्रतका दंडक—अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे भोगोवभोगवए भोयणाओ अनंतकायबहुवीय राइभोयणाइं परिहरामि, कम्मओ णं पन्नरस कम्मादाणाइं इंगालकम्माइयाइं बहुसावज्जाइं खरकम्माइं एयाभियोगं परिहरामि, दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, दव्वओ णं भोगोवभोगवयं, खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा, कालओ णं जावज्जीवाए, भावओ णं जाव गहेणं न गाहिज्जामि, छलेणं न छलिज्जामि, अन्नेण केणवि रोगातंकेण जाव एसो परिणामो मे न परिवडइ, ताव मे एयं अभिग्गहं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ॥ ८ ॥

अनर्थदंड विरमण व्रतका दंडक—अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे अणत्थदंडं पच्चक्खामि, अवज्झाणं पावो-

वेदसं हिंसोवकरणदाणं पमायाचरियरूवं चउव्विहं अणत्थदंडं जहासत्तिए परिहरामि, दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, दव्वओ णं अणत्थदंडं, खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा, कालओ णं जावज्जीवाए, भावओ णं जाव गहेणं न गाहिज्जामि, छलेणं न छलिज्जामि, अन्नेण केणवि रोगातंकेण जाव एसो परिणामो मे न परिवडइ ताव मे एयं अभिग्गहं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ॥ ९ ॥

सामायिक देशावकाशिक पौषधोपवास अतिथिसंविभाग व्रतका दंडक—अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे सामाइयं देसावगासियं पोसहोववासं अतिहिसंविभागवयं च जहासत्तीए पडिवज्जामि, इच्चेयं सम्मत्तमूलं पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावगधम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरामि, दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ दव्वओ णं सम्मत्तमूलं बारसविहं सावगधम्मं, खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा, कालओ णं जावज्जीवाए भावओ णं जाव गहेणं न गाहिज्जामि, छलेणं न छलिज्जामि, अन्नेण केणवि रोगातंकेण जाव एसो परिणामो मे न परिवडइ ताव मे एयं अभिग्गहं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ॥ अरिहंतादि ६ शाख, राजाभियोग आदि ६ आगारबंदी और अनाभोगादि चार आगारसहित इन

व्रतों का मैं पालन करूंगा ॥ १०।११।१२।१३ ॥

सर्व तपस्याका दंडकपाठ—अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे अमुगतवं ❀ उवसंपज्जित्ताणं विहरामि, तंजहा दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, दव्वओ णं अमुगतवं ❀, खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा, कालओ णं जाव परिमाणं, भावओ णं जाव गहेणं न गहिज्जामि, छलेणं न छलिज्जामि, सन्निवाएणं नाभिभविज्जामि, अन्नेण केणवि रोगातंकेइ परिणामवसेणं जाव एसो मे परिणामो न परिवडइ ताव मे एस तवो, अन्नत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तिकंतारएणं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ॥ १४ ॥

सात थोभा वंदना—इसतरह व्रतारोपण किये बाद व्रतग्राही खमासमण देकर मुहपत्ति पडिलेहे और दो वांदणा देकर खमासमण देके कहे 'इच्छाकारेण तुम्हे अम्हं सम्मत्तसामाइयं सुयसामाइयं देसविरइसामाइयं आरोवेह' तब गुरु कहे 'आरोवेमो' ॥१॥ व्रतग्राही 'इच्छं' खमासमण देकर कहे 'संदिसह किं भणामो?' गुरु कहे

❀ ❀ यहां पर जो तप ग्रहण करता हो उसका नाम बोलना

'वंदित्ता पवेयह' ॥२॥ व्रतग्राही 'इच्छं' खमासमण देकर कहे 'इच्छाकारेण तुब्भेहिं अम्हं सम्मत्तसामाइयं सुयसामाइयं देसविरइसामाइयं आरोवियं ?' गुरु कहे 'आरोवियं आरोवियं आरोवियं खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभएणं सम्मं धारणीयं चिरं पालणीयं गुरुगुणेहिं वड्ढहि नित्थारपारगो होह' इस प्रकार कहते हुए व्रतग्राहीके शिरपर वासक्षेप डालें, तब व्रतग्राही 'इच्छामो अणुसट्ठिं' ऐसा कहे ॥ ३ ॥ फिर खमासमण देके कहे ' तुम्हाणं पवेइयं संदिसह साहूणं पवेएमि ?' गुरु कहे ' पवेयह ' ॥ ४ ॥ पीछे व्रतग्राही इच्छं खमासमण देके नवकार गुणताहुआ नंदी (स्थापनाचार्य) को तीन प्रदक्षिणा देवे, तीनों प्रदक्षिणा में गुरु तथा संघ ' गुरुगुणेहिं वड्ढहि नित्थारगपारगो होह ' कहते हुए व्रतग्राहीके शिरपर तीनवार वासक्षेप डालें ॥ ५ ॥ पीछे व्रतग्राही खमासण देके कहे ' तुम्हाणं पवेइयं साहूणं पवेइयं संदिसह काउस्सग्गं करेमि ?, गुरु कहे 'करेह' ॥ ६ ॥ व्रतग्राही इच्छं खमासण देकर ' सम्मत्तसामाइय सुयसामाइय देसविरइसामाइय आरोवणत्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०' कहके एक लोगस्सका "सागरवरगंभीरा" तक काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स कहे ॥ ७ ॥ इति सात थोभा वंदना। कोईभी तपस्या उचरे तबभी इसी तरह सात थोभा

व्रतों का मैं पालन करूंगा ॥ १०।११।१२।१३ ॥

सर्व तपस्याका दंडकपाठ—अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे अमुगतवं ❀ उवसंपज्जित्ताणं विहरामि, तंजहा दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, दव्वओ णं अमुगतवं ❀, खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा, कालओ णं जाव परिमाणं, भावओ णं जाव गहेणं न गहिज्जामि, छलेणं न छलिज्जामि, सन्निवाएणं नाभिभविज्जामि, अन्नेण केणवि रोगातंकेइ परिणामवसेणं जाव एसो मे परिणामो न परिवडइ ताव मे एस तवो, अन्नत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तिकंतारएणं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ॥ १४ ॥

सात थोभा वंदना—इसतरह व्रतारोपण किये बाद व्रतग्राही खमासमण देकर मुहपत्ति पडिलेहे और दो वांदणा देकर खमासमण देके कहे 'इच्छाकारेण तुम्हे अम्हं सम्मत्तसामाइयं सुयसामाइयं देसविरइसामाइयं आरोवेह' तब गुरु कहे 'आरोवेमो' ॥१॥ व्रतग्राही 'इच्छं' खमासमण देकर कहे 'संदिसह किं भणामो?' गुरु कहे

❀ ❀ यहां पर जो तप ग्रहण करना हो उसका नाम बोलना

'वंदित्ता पवेयह' ॥२॥ व्रतग्राही 'इच्छं' खमासमण देकर कहे 'इच्छाकारेण तुब्भेहिं अम्हं सम्मत्तसामाइयं सुयसामाइयं देसविरइसामाइयं आरोवियं ?' गुरु कहे 'आरोवियं आरोवियं आरोवियं खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभएणं सम्मं धारणीयं चिरं पालणीयं गुरुगुणेहिं वड्ढहि नित्थारपारगो होह' इस प्रकार कहते हुए व्रतग्राहीके शिरपर वासक्षेप डालें, तब व्रतग्राही 'इच्छामो अणुसट्ठिं' ऐसा कहे ॥ ३ ॥ फिर खमासमण देके कहे 'तुम्हाणं पवेइयं संदिसह साहूणं पवेएमि ?' गुरु कहे 'पवेयह' ॥ ४ ॥ पीछे व्रतग्राही इच्छं खमासमण देके नवकार गुणताहुआ नंदी (स्थापनाचार्य) को तीन प्रदक्षिणा देवे, तीनों प्रदक्षिणा में गुरु तथा संघ 'गुरुगुणेहिं वड्ढहि नित्थारगपारगो होह' कहते हुए व्रतग्राहीके शिरपर तीनवार वासक्षेप डालें ॥ ५ ॥ पीछे व्रतग्राही खमासण देके कहे 'तुम्हाणं पवेइयं साहूणं पवेइयं संदिसह काउस्सग्गं करेमि ?, गुरु कहे 'करेह' ॥ ६ ॥ व्रतग्राही इच्छं खमासण देकर 'सम्मत्तसामाइय सुयसामाइय देसविरइसामाइय आरोवणत्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०' कहके एक लोगस्सका "सागरवरगंभीरा" तक काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स कहे ॥ ७ ॥ इति सात थोभा वंदना। कोईभी तपस्या उचरे तबभी इसी तरह सात थोभा

वंदन देना, सिर्फ जहां जहां व्रतोंका का नामहै वहां वहां सर्वत्र जो तपस्या उचरी हो उसका नाम लेना इतनी ही विषेशताहै।।

पीछे खमासण देके 'इच्छा करेण तुम्हे अम्हं समत्तसामाइय सुयसामाइय देसविरइसामाइय थिरीकरणत्थं काउसग्गं करेमि?, इच्छं सम्मत्तसामाइय सुयसामाइय देसविरइसामाइय थिरीकरणत्थं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ०' कहके पहले की तरह एक लोगस्सका काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स कहे, पीछे शक्ति अनुसार पच्चक्खाण करे, समय होवे तो खमासमण देके 'इच्छा०तुम्हे अम्हं धम्मोवएसं देह' कहके उपदेश सुणे, फिर खमासमण देके कहे 'विधि करतां अविधि आशातना हुइ होय ते सवि हुं मन वचन कायाए करी मिच्छामि दुक्कडं' ॥ इति बारहव्रत तथा सर्व तपस्या उच्चारण विधि समाप्त ॥

तपस्या पारण विधिः—तपस्या पूर्ण हुए बाद ज्ञानपूजादि करके इरियावही पडिक्कमे बाद खमासमण देके मुहपत्ति पडिलेहे, दो वांदणा देकर खमासमण देके कहे 'इच्छाकारेण तुम्हे अम्हं अमुगतवं पारावेह' गुरु कहे 'पारावेमो' पीछे तप पारनेवाला इच्छं खमासमण देके कहे 'इच्छाकारेण तुम्हे अम्हं अमुग

तव निक्खेवणत्थं वा पारावणत्थं काउस्सग्गं करावेह' गुरु कहे 'करावेमो' पीछे 'इच्छं अमुगतव निक्खेवणत्थं वा पारावणत्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०' कहके एक नवकारका काउस्सग्ग करे, पारके प्रगट नवकार कहे। पीछे खमा० देके कहे 'इच्छा० तुम्हे अम्हं अमुगतव निक्खेवणत्थं वा पारावणत्थं चेइयाइं वंदावेह' गुरु 'वंदावेमो' कहके चार थुइसे देववंदन करावे, फिर खमासमणा देके कहे 'इच्छा० तुम्हे अम्हं अमुगतव निक्खेवणत्थं वा पारावणत्थं वासक्खेवं करेह' गुरु कहे 'करेमो' बाद नमुत्थुणं कहके 'अमुग तप करतां अविधि आशातना हुई होय ते सवि हु मन वचन कायाए करी मिच्छामि दुक्कडं' देवे, गुरु 'नित्थारगपारगो होह' कहके वासक्षेप करे, पीछे खमासमण देके पच्चक्खाण करे, बाद खमासमण देके 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! अमुग तव आलोयणा निमित्तं काउस्सग्गं करेमि ?, इच्छं अमुग तव आलोयणा निमित्तं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ० कहके चार लोगस्सका काउस्सग्ग करे, पार के प्रगट लोगस्स कहे ॥ इति सर्व तपस्या पारण विधि समाप्त।

आवश्यकीय विचार संग्रहः

सूचनाः—पर्यंत आराधना विधि, महापारिट्ठावणिया विधि, अंतिम देव-वंदन विधि और श्रावक कर्त्तव्य इन चार विधियों बाबत पृष्ठ ५२ की सूचना देख लेना।

|| अर्हम् ||

मुनि-श्रीमोहनलालजी-जैन-ग्रन्थमाला (५)

सुप्रसिद्धविद्याधरवंशभूषणमणि-श्रीमत्पादलिप्ताचार्यकृता

निर्वाणकलिका ।

संशोधकः-मोहनलाल भगवानदास झवेरी बी. ए. (ऑनर्स) एलूएल्. बी., सोलिसिटर,

जैनशिल्पज्योतिपविद्यामहोदधि-पूज्यपाद-जैनाचार्य-श्रीमज्जयसूरीणांसदुपदेशेन-शहापुर-उपधानतपोज्ञानद्रव्य-
साहाय्येन इन्दोरवास्तव्य-शेठ नथमलजी कनैयालाल रांका इत्यनेन,
मोहमय्यां निर्णयसागरमुद्रणयन्त्रे कोलभाटवीथ्यां २६-२८ तमे गृहे रामचन्द्र येसू शेडगेद्वारा मुद्रयित्वा प्रकाशिता ।

[प्रथमसंस्करणे वीरसंवत् २४५२, विक्रमसंवत् १९८२, इसवीसन १९२६. प्रतयः १०००]

पण्यं सार्धरूप्यकः ।

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, at the "Nirnaya-sagar" Press, 26-28, Kolbhat Lane, Bombay.

Published by Seth Nathamalji Kanayyalalji Ranka, upstairs of Mumbadevi post office third floor, Bombay.

छपायेला ग्रन्थो.

१ पार्श्वनाथचरित्रम् हेमहंसगणिकृतम् (संस्कृत) .... मूल्यं ॥ आणा.
२ सट्ठिसयपयरणं नेमिचन्द्रभण्डारिकृतं .... मूल्यं । आणा.
३ श्रृङ्गारवैराग्यतरङ्गिणी मुनिसुन्दरसूरिकृत (गुजराती अनुवाद) .... मूल्यं । आणा.
४ आदिनाथचरित्र पर्व पहिलु श्रीहेमचन्द्राचार्यकृत (हिन्दी अनुवाद) .... मूल्यं ४ रू.

हवे पछी छपावाना ग्रन्थो—

१ जैनप्रासादमार्तण्ड—श्रीमान्—जैनाचार्य श्रीजयसूरीश्वरजीकृत.
२ निर्वाणकलिकाभाषान्तर (सचित्र) रा. रा. मोहनलाल भगवानदास झवेरी.
बी. ए. (ऑनर्स) एल्एल्. बी., सोलिसिटर मुंबई.
३ अजितनाथचरित्र हेमचन्द्राचार्यकृत (हिन्दी अनुवाद).
४ मोहनाभ्युदयचम्पूमहाकाव्यम् , श्रीमान्—जैनाचार्य—श्रीजयसूरीश्वरजीशिष्य प्रतापमुनिजीकृत.
५ हस्तसंजीवनी (सामुद्रिक) जैनाचार्यकृत.

मलवानुं ठेकाणुं—शेठ नथमलजी कनैयालालजी रांका,
ठे० मुंबादेवी पोष्टनी उपर त्रीजेदादर, मुंबई.

श्रीविघ्नौघसंछेदिने नमः।

भूमिका.

के के न कालमाहात्म्यविदो विद्वांस इति विदन्ति यत्कालोऽयमुपचयापचययोर्भावानां विधायकतया कथ्यते सुषमसुषमादिरूपः कृतादिरूपो वा। तत्रायं प्रतिविचारो यत् कालस्य तद्विशेषस्य वा वस्तुजातसाधारणकारणत्वेन संमतस्य संपर्कादाविर्भवति भावानामुपचयोऽपचयो वोत भावानामुपचयापचयाभ्यामारोपितं भवति काले सुषमसुषमादिवैशिष्ट्यम्। अर्थात् कालः स्वभावादेव तथाविधतथाविधधर्मपराधीनो बलादिव भावानामुपचयापचययोः प्रयोजको भवत्युत भावा एवावश्यंभाविताद्दशताद्दशोपचयापचयतत्कारणभूतधर्मविशेषपराधीनाः कालस्य तथाविधतथाविधामिलापे प्रयोजका भवन्तीति (एवं क्षेत्रस्यापि प्रयोजकतोह्या) द्रव्यक्षेत्रकालभावादिपदार्थान्तरापेक्षावलेन स्याद्वादिभिर्विद्वद्भिस्समार्थितोऽपि ताद्दशस्ताद्दशो भावप्रकर्षापकर्षान्यतररूपः पर्यायापरपर्यायो भावविकारो, नोपकरोति कालतारतम्यस्यैत्थंभावेन निरूपणे। एवं प्राप्ते विसंवादे केचनोच्छृङ्खला नवीनाः—कालस्तु परममहत्त्वादेकत्वादाकाशादिवन्निर्लेपस्तत्र तत्र प्रतीयमानो धर्मविशेषः कल्यादिरूपो दुःषमदुःषमादिरूपो वा व्यवहारसाधारणो भाक्तः। भावानामुपचयबाहुल्ये भवति व्यवहारोऽनुकूलोऽयं काल इति। तथैव भावानामपचयबाहुल्ये प्रतिकूलोऽयं काल इति भवति व्यवहारः (एवं दिगादिगतोऽप्यनुकूलत्वाननुकूलत्वव्यवहारो भाक्तः)। अस्मिन्नेव च समये संगता भवन्ति लोकोक्तयो राजा कालस्य कारणमित्यादयः। निरुपाधिस्तु कालः कल्पायुषापि न शक्यो

निरूपयितुमुपाधीनामसद्भावे निरूपणासंभवान्निरूपकनिरूप्यनिरूपणादीनामप्युपाध्यनन्यत्वात् । संप्रदायपरवशपरामर्शपक्षपातिनस्तु नैकान्ततो मन्यन्ते कालकुहरैकशरणांस्तांस्तान् धर्मान् भाक्तान् । आयुषोऽल्पत्वकृते न कोपि यतते तथापि दृश्यते तस्य ह्रासस्समं दौर्बल्येन । न कस्यापि संमताऽनुपस्थितिस्सात्त्विकविदुषां परन्त्वायाति सा संमुखे वार्यमाणापि प्रायेण "कालं हि पौरुषं चाहुः पुरुषस्य महात्मनः । के न कालेन भक्षिताः । अन्ये कृतयुगे धर्माः ।" इत्यादिलोकोक्तयोऽप्यस्मिन्नेव कल्पे समुचिततया संगता भवन्ति । ऋजु—ऋजुवक्र—वक्राणां प्रभूततापि तत्तत्कालपरवशैव सम्मता सहृदयानाम् । अस्मिन्नेव कल्पे कालस्य समुचिता संभवत्युपयोगितापि । प्रथमकल्पपक्षपातिभिरपि वस्तुजातसाधारणकारणत्वेन सम्मतस्य कालस्येति वदद्भिः परोक्षरूपतस्स्वीकृतैव वस्तुजातसाधारणकारणरूपा परमातिमहत्युपयोगिता कालस्य । उपाधीनां सद्भावे सोपाधिकत्वेऽपि तस्य तस्य भावस्य तदीयनिरुपाधिकस्वरूपप्रत्यये स्वतन्त्रधर्मसादरस्वीकारेऽपि न कोऽपि वाधो न वा प्रत्यूहभयम् । सोपाधिके काकवति गृहेऽपि भवति निरुपाधिकं गृहमिति गृहमात्रविषयको व्यवहारः । स्वीक्रियन्ते चावारकत्वादयो धर्माश्च । सति तात्पर्ये निरूपकादीनामुपाधित्वेऽपि न तेन तेन विहन्यते कालस्य स्वातन्त्र्यम् । अतएव स्थूलशरीरावच्छेदेनैवात्मनो व्यवहारप्रयोजकत्वे तदवच्छेदेनैव तस्य तद्विषयकबोधविषयत्वे वा समाद्रियमाणेऽपि नापलप्यते तस्यानन्तज्ञानदर्शनचारित्र्यसामर्थ्यं नवोपेक्ष्यन्ते तस्य तास्ता ऊर्ध्वगत्यादयश्शक्तयोऽन्तरा स्थूलशरीरम् । नच चार्वाकमन्तरा कस्यापि दार्शनिकस्य दृश्यते विवादः स्थूलशरीरानवच्छेदेनाप्यात्मनोऽस्तित्वस्वीकारे ।

समष्टिजीवनक्षणसमुदायस्य तारतम्यप्रयोजकतायां कालसामान्यनिष्ठतया सिद्धायामपि कालस्य यौगपद्येन कस्यचिद्युवत्वप्रयोजकता कस्यचिद्वृद्धत्वप्रयोजकतापि न भवति विरुद्धा निजनिजादृष्टबललब्धतत्तत्फलानुकूलतत्तत्परिमितक्षणराशेरपि व्यक्तिगतयुवत्वादिकारणत्वात् ।

दृश्यते हि वसन्तवायौ समष्टिसापेक्षो हितावह इति व्यवहारो व्यष्टिसापेक्षश्च व्यक्तिविशेषे हितावहविरहव्यवहारोऽपि । समष्टिजीवन-तारतम्ये हि बालविवाहाद्यैहिकसर्वानुभवसिद्धसामग्र्या सिध्यति नातिप्रयोजना महाकाले धर्मविशेषकल्पनेति तु बालोल्लाप एव । जीवनक्षणतारतम्यस्य संस्थानतारतम्यस्य सामर्थ्यतारतम्यस्य च नृपशुस्थावरादिनिष्ठस्य तत्र तत्र काले विशिष्टस्यैवोपलभ्यतया युक्तायाः विशिष्टकालकल्पनायास्सर्वथा सार्थकत्वात् । व्यष्टिजीवनकालानुकूलतारतम्यं प्रति बालविवाहादेः—बालब्रह्मचर्यभङ्गादेः कारणत्वेपि तस्य विशिष्टकालकल्पनाया अबाधकत्वात् । क्षणादिव्यवहारः काले कल्पित इति द्रव्यक्षेत्रकालादेरपि द्रव्यक्षेत्रकालादिसापेक्षमेव निरूपणमिति चान्यत् प्रसङ्गाप्रसक्तं च । एवं सिध्यति विशिष्टस्य कालस्य भावोत्कर्षापकर्षप्रयोजकत्वे कालविशेषे चतुर्विधसंघे तदङ्गभूतस्य कस्यचिदेकस्यैव साधोरेकस्यैव च कस्यचिच्छ्रावकस्य तथाविधायाः कस्याश्चिदेकस्या एव साध्व्या एकस्या एव च कस्याश्चिच्छ्राविकायाश्चास्तित्वमवशिष्टं स्थास्यतीत्याद्य आगमा अपि सुसंगतास्सन्तो भवन्ति हृदयङ्गमास्तर्ककर्कशस्वान्तानामपि ।

जैनागमे हि वैदिकाद्यागम इवासन् नानाविधास्तत्तद्विषयपरिपोषकास्तत्राद्यागमास्तत्तत्पूर्वान्तर्गता अद्यावधि गीयमानकीर्तयस्तत्प्रवर्तकाश्च ते आचार्यवराः । अद्यापि च श्रुतिपथमायान्ति श्रीभद्रबाहु—वज्रस्वाम्यार्यरक्षितार्यखपुटपादलिप्तहरिभद्रसूरिप्रभृतिप्राचीनप्राचीनतरगण्यमान्या आगमस्तम्भीभूताकल्पकीर्तिविद्वत्सम्मताः सिद्धप्राभृतयोनिप्राभृतविद्याप्राभृतादयो निबन्धाः । प्राभृतशब्दार्थस्तु प्र—प्रकर्षेण आ—समन्तात् भ्रियते प्राप्यते चित्तमनेनेति पूर्वसूरिसमुदायसम्मतः उपासकोत्साहवर्धनद्वारा शासनप्रभावप्रचारकस्तत्तत्सूरिसमुदायसत्कृतोऽनादिकालप्रचलितचतुर्दशपूर्वागमसाररूप आगमविशेषः । प्राभृतागम इतियावत् । एवं निमित्तविद्याशिल्पविद्याचिकित्साविद्याप्रभृतयो नानाविधा विद्यास्तत्प्रतिपादका आगमा आगमविदश्च दिव्यदृष्टय आसन् । काश्मीरकेरलगौडादिभेदेन प्रसिद्धानां महासरस्वती-महाकाली-महालक्ष्मीप्रभृतिमातॄणां

रोहिण्यादिविद्यादेवीनां-चक्रेश्वरी-महाम्बिका-पद्मावती-सिद्धेश्वरीप्रभृतिशासनदेवतानां चाराधनप्रकारबोधकानां वर्णभेदेनापि तत्तद्वर्णमान्यानां (ब्राह्मणेषु विशेषतया महासरस्वती, क्षत्रियेषु महाकाली, वैश्येषु महालक्ष्मीः, शूद्रेषु मातङ्गी, स्वस्वस्वभावानुकूलविधिनोपासनायामधिका गण्यते। सामान्यतया तु सर्वत्र सर्वाः। काम्योपासनायां तत्र तत्र कामनायां सर्वासां मातॄणां वैशिष्ट्यम्) तन्त्रागमानामपि बाहुल्यमासीदेवात्र सरित्स्वामिस्थानीये जैनागमे । (जैनजनतायास्तन्त्रमार्गस्तु काश्मीर इति प्रतीयते । यतो हि तत्र तत्रे श्रीमदर्हतः शिवरूपस्य ज्ञानशक्तिरूपायाः महासरस्वतीदेवतायाः प्राधान्यम् । सकलजैनाचार्यहृद्वर्तिनः सूरिमन्त्रस्य पञ्चमहापीठानां मध्ये प्रथममहापीठाधिदेवता चेयमेव देवता । श्रीहेमचन्द्राचार्यादिभिरस्मिन्पीठेऽस्याः काश्मीरवासिन्या एव कृतोपासना सरस्वतीसहस्रनाम्नि जैनमार्गप्रबोधिनीत्यन्यतमं नामापि सरस्वत्या दृश्यते। एतेषामपि रत्नानामलभ्यत्वे दुर्लभत्वे वा प्रोक्तो विशिष्टः काल एव कारणम् । अधिकारिणामभावे सर्वज्ञकल्पानामादरणीयानामपि तेषां तेषामागमानां क्षुल्लकातिक्षुल्लककर्तृकनिन्दायामपि हेतुस्स काल एव । कालस्यैव माहात्म्यमेतत् तस्यैवायं विलासो यदधुना किमपि स्वल्पमपि जानाति सोऽपि हसति सम्प्रदायसर्वस्वान् क्रियानिष्णाताँस्ताँस्तांस्तान्त्रिकान् सूरिसत्तमान् भूतपूर्वान्। देशान्तरसंस्कारस्य प्रभूततया स्वसंस्कारस्य सुतरां विस्मृततया पूर्वाचार्यपरिहासपरायणो न चिन्तयति तेषां सामर्थ्यम् । पश्यति च पाठितानामपि तत्तत्कर्तृकतत्तद्विषयकनिबन्धानां तात्पर्यावगमे स्वस्यासामर्थ्यं तथापि न मन्यते स्वस्यासद्भूतविषयावगाहिबोधग्रहिलतां, नावमन्यते च प्रजाधःपातविधायकं प्रकीर्यमाणमात्मनः कुतर्कमित्यत्र किं वक्तव्यमन्यत्कारणमृते कालात्। किं बहु ब्रूमोऽनुपादेयस्योपादानेऽनुपादाने चोपादेयस्य हेतुः काल एव । अधिकारिभेदेन प्रवृत्तौ प्रवर्तके तदुपाये च सिद्धेऽपि भेदे तत्कृतेऽपेक्षितेऽपि तत्तद्विषयप्रधाने तत्र तत्र शास्त्रे, परमार्थतश्चान्ते तत्तच्छास्त्रस्यापि मुक्तावेव तात्पर्यनिश्चये नेदं शास्त्रमार्हतानां सम्मतं नैतस्य प्रचारकृते जैनैर्विधेयो यत्न इत्यादि कर्णकटुप्रलापेऽपि काल एव कारणम् ।

यद्यपि वलवता कालेन कृतस्य भावापकर्षस्य प्रतिविधाने न कस्यापि महतोऽपि विद्यते सामर्थ्यम् । किं नाम प्रतिविधानं तद्वेगस्खलनेऽपि न कोऽपि समर्थः । तथापि कालस्यैवायमपि संकेतो यत्सर्वात्मना न वस्तूच्छेदं करोति बीजरूपतया शेषतया वा रक्षत्यपि कालान्तरभाव्युत्कर्षभाञ्जि वस्तुजातमूलानि । अपकर्षो नाम न सर्वात्मना नाशः किन्तु विरलतया विद्यमानता । मेघापाये संह्रियमाणेऽपि सूर्यकिरणादिद्वारा जले लभ्यत एवाल्पाल्पं जलं पल्वलादौ । कृषीवलैर्यावच्छक्ति गृहीतेऽपि क्षेत्रान्ने तत्रैवोञ्छवृत्तिभिर्यत्नवद्भिरासाद्यते कणिशादि । ईदृगेऽपि दुःखमये समये परिश्रमशालिभिरन्वेषणपण्डितैरासाद्यन्त एव कालकवलपतितानि तानि तानि ग्रन्थरत्नानि ।

इयमपि निर्वाणकलिका तथाविधमन्यतमं निवन्धरत्नमेव। एतस्याः पुस्तिकाया अवलोकनेनैव सर्वं विदितं भविष्यति विदुषामिति वहूक्तिरेतद्विषये प्रलाप एव। अस्य निवन्धस्य नित्यकर्मविधिनामके प्रथमप्रकरणे मृदादिना वाह्यशुद्धिः अनन्तरं तत्तद्बीजादिना न्यासादिप्रकारश्च लिखितौ विद्वद्भिरवहितैरवश्यमवलोकनीयौ। द्वितीयस्मिन्नपि दीक्षाप्रकरणे भुक्तिकामस्य प्राञ्जलं, मुक्तिकामस्य तीक्ष्णाग्रमित्यादि समयसंस्कारसंस्कृतः पूजाहोमश्रवणाध्ययनादिषु योग्यस्याज्ञैनं च पदं लभत इत्यादि च लिखितं तदपि च कर्मपराङ्मुखैश्शुष्कवाग्ज्ञानिभिरलसैरवश्यं सपरामर्शं द्रष्टव्यम्। अस्याचार्याभिषेकनामकं तृतीयं प्रकरणमस्ति तत्राचार्यस्य योग्यता तदीयकर्तव्यं तदभिषेकप्रकारश्च यथासंप्रदायं लिखितानि सन्ति। तदनु छत्र-चामर-हस्ति-अश्व-शिविकादीनि राजाङ्गानि योगपट्टक-खटिका-पुस्तक-अक्षसूत्र-पादुकादिकं च दद्यात् इति राजाज्ञेव लिखितमस्ति तत्र ग्रन्थे राजचिह्नं कुतो वा कल्पेत निर्ग्रन्थानामित्यादिजल्पद्भिरुत्सूत्रतर्कदासैर्दृष्टिनिक्षेपो विधेयः । यतो हि किं कस्मै कल्पेत । किं कस्य विधेयं किंवा कस्य हेयमित्यादिविषये न बुद्धिस्वातन्त्र्यं न वालपक्षतर्कप्रवेशः । सर्वथा बुद्धिस्वातन्त्र्यं हि नास्तिकता। आगमपराधीनमेव बुद्धिस्वातन्त्र्यमास्तिकता । तत्त्व-धर्म-ज्यौतिष-चिकित्सानिर्णये शास्त्रनिरपेक्षबुद्धिस्वातन्त्र्ये पापमपि स्पर्येते इति नाविदितं पण्डितानाम्।

चतुर्थमस्य प्रकरणं भूपरीक्षानामकमस्ति । अस्मिन् प्रकरणे भूमिः शुक्ला आज्यगन्धा मधुरा ब्राह्मणस्य, रक्ता....क्षत्रियस्य, पीता.... वैश्यस्य, कृष्णा शूद्रस्येति लिखता ग्रन्थकारसूरिणा जैनधर्मे वर्णधर्मस्य नांशतोऽप्यवहेलनमित्यादि ज्ञापितम् । भूपरीक्षाविधानंतु सर्वेषां भारतीयानां समानमेवेति न तत्र किन्तुकरणावसरः । यजमानशरीरावयवकण्डूयनेन शृगालादिप्रवेशेन वा निमित्तेन भाविफलानुमानं मन्यमानेन मुनिमहोदयेन निमित्तशास्त्रं सर्वेषां माननीयतया समानमिति स्वीकृतम् । एतदपि सूक्ष्मेक्षिकाकटाक्षेणेक्षणीयं निमित्तोपेक्षा-परायणैः स्वाच्छन्द्यपाठपण्डितैः । शिलान्यासविधिनामकं पञ्चमपादप्रतिष्ठानायकमस्य प्रकरणं तत्रापि ब्रह्मरुद्रमहेन्द्रादीनां देवानां स्कन्द-पूतनाप्रभृतीनां राक्षसादीनामपि पूजनं विहितं तदपि तन्त्रान्तरसमानमेव । अन्यदपि प्रतिष्ठाविधिनाम प्रकरणं षष्ठं विद्यते । एतस्यान्तराले द्वारप्रतिष्ठाविधि-बिम्बप्रतिष्ठाविधि-हृत्प्रतिष्ठाविधि-चूलिकाकलशध्वजादिप्रतिष्ठाविधिनामास्ति प्रकरणकदम्बकम् । सप्तमं जीर्णोद्धारविधि-प्रकरणमस्ति । एतत्प्रकरणयोरपि विषये तान्त्रिकदीक्षादौ मन्ये भ्राम्येदाधुनिको भ्रमपूर्णो भद्रबुद्धिः । अदीक्षितान् न श्रावयेत् न तेन लेखयेत् अज्ञानं न दीक्षयेत् । अत्र दीक्षायास्तन्त्रसिद्धाया एव ग्रहणम् । सर्वतोभद्रमण्डलादीनां तान्त्रिकसम्मतानामेवात्रापि स्वीकारः । पुत्रादिकामनाकृतेऽपि विहितोऽभिषेकः काम्यः । देशिको गुरुरपि तान्त्रिक एवाभिमतस्तदेतेप्युद्वेगकरा इव भविष्यन्ति संप्रदायरहस्यावबोध उदासीनानाम् । सकामेनाकामेन ज्ञानवता तदभाववता स्वस्थेनास्वस्थेन कृतानां पापानां प्रायश्चित्तस्य तारतम्यं मननीयम् इतरदर्शनसाधारणं च । अष्टमूर्त्तिनिर्देशोऽपि व्यवस्थापयति समानतां वैदिकागमव्यवहारेणास्यागमस्य व्यवहारे । तत्र तत्र भासमानो नातिन्यूनाधिकस्सांख्य योगयोस्सिद्धान्तोपि प्रमाणयति प्राचीनार्याणां व्यवहारसाम्यम् । नित्यकर्मप्रकारो गृहदेवताबलिप्रकारश्चास्य साम्य एव सम्मतौ । सर्वेषामपि साम्यदर्शकप्रमाणानां प्रबलं प्रमाणमिदं यदत्रापि दृश्यते चर्चा अभिचारस्य । द्वेषस्योत्कटत्वे कलहे च स्वस्यैव द्वयोर्वा विनाशशङ्कायां

शत्रुसंहारकृते विहितो दर्शनान्तरे अभिचारः । अयं हि विधाय कर्मणि श्येनाहिंसायास्सत्त्वात् फलेऽपि शत्रुहिंसायास्सत्त्वात् अभ्युदयफलस्य हिंसासाध्यस्य कर्मणस्सह्यत्वेऽपि पापप्रयोजकफलस्य हिंसासाध्यस्य कर्मणोऽसह्यत्वान्निषिद्धश्च ।

जीर्णोद्धारविधिप्रकरणानन्तरं मुद्राविधिनामकं प्रकरणमस्ति । अत्र नाराचादीनां विन्यसनमुद्राणां महामुद्रादीनामावाहनादिमुद्राणां गोवृषयात्रासन्योर्नेत्रास्त्रयोः पूजामुद्रयोः पाशादीनां जयादिदेवतापूजामुद्राणां शङ्खादीनां षोडशविद्यादेवीमुद्राणां दण्डादिसहितानामासां दिक्पालमुद्राणामन्यासां च परमेष्ठिप्रभृतीनां मुद्राणां निर्माणप्रकारो दर्शितः । मुद्रादर्शनं बाललीलेवाडम्बरमात्रफलकमिति वदतां संशयापनोदायेदं प्रकरणं पर्याप्तमपि मुद्राशिक्षणकर्मणि महोपयोगि । अत्र परं प्रायश्चित्तविधिप्रकरणमस्ति । एतच्च सर्वैरास्तिकैरभ्यस्तव्यम् । अतःपरमर्हदादीनां वर्णादिक्रमविधिस्ततः परं विद्यादेवीनां षोडशकं दिक्पालदशकं ततः परं ग्रहनवकं ततः परं प्रशस्त्या ग्रन्थसमाप्तिः ।

अस्याचार्यस्य पाण्डित्यं लोकोत्तरं वर्णितं दृश्यते तदवगमश्च कथावल्यां प्रभावकचरिते च चर्चितादस्य चरित्राद्विधातव्यः । अस्य ग्रन्थस्य लेखशैली चापि सूचयति संस्कृतप्राकृतभाषयोराधिपत्यमस्य सूरेः । निर्माल्यं देवस्वदेवद्रव्यनैवेद्यनिवेदितनिर्माल्यभेदेन पञ्चधा । तत्र देवस्वं देवकृते दत्तं ग्रामादि देवद्रव्यं देवकृते कृतमलङ्कारादि नैवेद्यं देवसन्निधौ समार्पितं तत्कृते कल्पितं मोदकादि निवेदितं प्रसादितोत्सृष्टं तदेव निर्माल्यं देवदेशादपसारितं तदेवेत्यादिग्रन्थेन तत्तद्वस्तुभेदोपभेदबोधकेनास्य सूरेस्संप्रदायबोधमहोदधित्वं सुव्यक्तमेव । लोकोत्तरपण्डितस्याप्यस्य वैनयिकी बुद्धिरपि लोकोत्तरैवासीत् तस्या वर्णनं चावश्यकटीकायां कृतं दृश्यते । विनयो हि वैदुष्यपरीक्षकः स्थितश्च विदूरे विनयस्य विद्वानपि न वस्तुतो विद्वान् इति विदुषां सिद्धान्तं कथमवमन्येतेदृशो विद्वान् ग्रन्थकारः । जीर्णोद्धारकारणं परिगणयता पादलिप्ताचार्येण

सूरिणा पिशाचाद्यधिष्ठानभूतस्यापि बिम्बस्य पुनरुद्धारो विहित इत्यपि अल्पज्ञैः पिशाचादीनां चर्चा न गण्यमान्यप्राज्ञसंमतेति कथयद्भिर्विचारणीयम् । अस्मिन् निबन्धकारे निवसतां गुणानां गणनायां तु नाहं प्रवृत्तो न वा स मम साध्यस्तथापीति तूच्यते यत् सूरिणा प्रसङ्गमुत्थाप्य मतान्तरचर्चापि नाहता का कथा निन्दायाः एतस्यैव नाम पाण्डित्यम् ।

एतत्सूरिवर्यकृतास्तरङ्गवतीकथाप्रश्नप्रकाशशत्रुंजयकल्पनामानोऽपि निबन्धा आकर्ण्यन्ते । प्राकृतभाषानिबद्धायास्तरङ्गवतीकथायाः स्संक्षेपः कृतो नेमिचन्द्रसूरिणा सूरिप्रकाण्डेन । शत्रुंजयकल्पस्तु श्रीभद्रबाहुस्वामिकृतस्य श्रीवज्रस्वामिनोद्धृतस्य संक्षेपरूपः । अस्मादेव सारमुद्धृत्य संक्षेपेण प्रणीतः शत्रुञ्जयकल्पः श्रीजिनप्रभसूरिणा । कल्पः प्राभृततः पूर्वं कृतः श्रीभद्रबाहुना । श्रीवज्रेण ततः पादलिप्ताचार्यैस्ततः परम् । इतोप्युद्धृत्य संक्षेपात्प्रणीतः कामितप्रदः । श्रीशत्रुंजयकल्पोऽयं श्रीजिनप्रभसूरिभिरिति प्रमाणमत्रार्थे । ग्रन्थकृता तथा चागम इति कृत्वा प्रमाणरूपतयोदाहृतास्तास्ता गाथाः पूर्वागमानाम् ।

एतस्य पादलिप्तसूरीश्वरस्येतिवृत्तं प्रभावकचरिते पादलिप्तप्रबन्धे वर्णितमस्ति तत एवैतज्जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्यम् । कोशलायां पुरि फुल्लप्रतिमाभ्यां महामुनेरस्य जन्म कृपातः शासनदेवतायाः श्रीपार्श्वनाथायतनायतनाया आशीर्वादतश्चार्यनागहस्तिसूरीणाम् । गर्भादष्टमे वर्षे विद्यारम्भो वर्षेणैव चाध्ययनं सर्वविद्यानां वैदग्ध्यातिशयमहिमवशात् । तासु तासु राजसभासु तैस्तैः पण्डितप्रकाण्डैस्सह शास्त्रार्थो विजयश्च वर्णितो विस्तरेण । जन्मसमयस्त्वेषां बहूहापोहपुरस्सरमाङ्गभाषाभूमिकायां बी. ए. (ऑनर्स), एलएल. बी. सोलीसीटराद्युपाधिधारिणा श्रीभगवान्दासजीतनयेन पण्डित श्रावकश्री मोहनलालजीत्यनेन लिखितायां सुनिरूपितो वर्तते सच विक्रमसम्वत्सरस्य तृतीये वर्षे प्रतिभाति——

रमापतिमिश्रः

निर्वाणकलिकाविषयानुक्रमः ।

NIRVANA-KALIKA.

INTRODUCTION.

The present work Nirvana-Kalika is a treatise by Padliptacharya or Palittasuri who flourished in the first century of the Vikrama era and is the oldest extant work dealing with ceremonials relating to the "Installation of Idols" and is also known as "Pratishtha-Paddhati" *i. e.* "Treatise on Installation".

CONTENTS.

It also deals with the Daily Worship and "Initiation of a person as a Jain" or *Mantrika-Diksha* & "Consecration as a Preceptor" or *Acharyābhisheka*. In connection with the *Diksha-Vidhi* and *Acharyābhisheka* are given descriptions of *Sarvatobhadra-Mandala* (Diagram having Bhadra-shape on all sides) & erection and decoration of Puja-Mandapa (Tent for worship). In course of the Daily-Worship-Ceremonies is described the Nitya-Puja-Yantra (Diagram for Daily-Worship), which is the larger form of the Saint Wheel *(Siddha-chakra)*. The third part of the work deals with the "Installation-Ceremonies" and in course thereof describes the "Nandavarta Mandala" (Diagram of auspicious turn being Seat of Tirthankaras). The five kinds of Pratistha viz. (1) *Pada-Pratishtha* (Installation of Foundation), (2) *Dwara-Pratishtha*, (Installation of Doors), (3) *Bimba-Pratishtha*, (Installation of Idols), (4) *Hrit-Pratishtha*, (Installation of Heart), (5) *Chūlika-Pratishtha*

or *Shanku-Pratishtha,* (Installation of Top or Cone), are treated in this part. After dealing with the subject of selecting and taking possession of land in the chapter styled *Bhūmi-Pariksha* (Examination of Land), and *Bhumi-Parigraha* (Taking possession of Land), the *Pada-Pratishtha* or Foundation ceremony is described. It begins with *Vastu-Puja,* (Worship of Architectural Deity)-the section being entitled *Shila Pratishtha Vidhi* (Installation of Stone). In this connection the 64 *Padika* (Parts) Vastu ceremony applicable to Temples is described. It also mentions 81 *Padika* (Parts) *Vastu-Ceremony* applicable to other buildings. The *Dwara-Pratishtha* is the ceremony connected with putting up the doors. The *Pada-Pratishtha* is Foundation Ceremony. The *Bimba-Pratishtha* is the Installation proper of the Idol. The *Hrit-Pratishtha* is somewhat novel and seems to have been rather forgotten. It relates to the Installation of the Central portion of the structure compared to *Stambha-Pratishtha* (Installation of Posts) in ordinary structures. *Chūlika-Pratishtha* includes the installation of *Chūlika* (Top), *Kalasha* (Jar), and *Dhwaja* (Flag). In other structures, the final ceremony is *Mobha-Pratishtha,* (Installation of the Central beam in the roof). Then are described the 8 kinds of "Vedikas" (Square platforms or seats). The subject thereafter treated is the removal of old and substitution or reinstating of the idols. It is called the reinstallation or *Jirnoddhara-Vidhi.* It may be of interest to note that *Prayashchittavidhi,* (Purifying-Ceremony) which is next taken up deals with five kinds of Nirmalya (Offerings) viz. (1) *Devasva* (Land of God), (2) *Devadravya* (Ornaments and decorations of God), (3) *Naivedya* (Things meant for God), (4) *Nivedita* (Things offerred to God), (5) *Nirmalya* (Removed offerings). There is also a reference to *Devadravya* in

Nityakarmavidhi (Daily Worship). In the recent controversy on the subject, between the late Vijaya-Dharma-Suri and Sagarananda-Suri the occurence of the word *Devadravya* and its treatment here do not seem to have attracted the attention of the learned controversialists, as otherwise the controversy would not have proceeded much further, owing to the antiquity & authenticity of the *Devadravya* being sufficiently proved by the present work. The Chapter on *Mudra-Vidhi* deals with the disposition of fingers so as to form various suggestive diagrams to aid contemplation. It is of unique interest. The *Mudras* seem to have been described in a seprate chapter as they are mentioned in the other parts of the work in course of various rites and ceremonies. The last chapter describes the complexion, cognizance, birth-constellation, birth Zodical singn, and attendant *Yaksha* (Male-Deity), and *Yakshini* (Female Deity), *Vidyadevis* (Goddesses of Learning), *Lokapalas* (Protectors of worlds), *Grahas* (Planets), Yaksha-Brahmashanti and Kshetrapala (Warden of land). As regards the reference to Zodiacal signs we shall deal with the same in its histodical aspect below. This chapter on *Mudras* as also certain other portions of the work dealing with various ceremonies have great resemblance to Tantrika rites. The author uses the word "Deshika" in connection with Foundation Ceremony or *Pada-Pratishtha* as meaing the preceptor performing the ceremonies. This is a word ordinarily found used in that sense in Tantras. The Kularnava-Tantra Chapter 17 verse 14 derives it thus:—

देवतारूपधारित्वाच्छिष्यानुग्रहकारणात् । करुणामयमूर्तित्वाद्देशिकः कथितः प्रिये ॥ १४ ॥

The reference to *Ashtamurti* (Eight-fold form) in the Daily Worship is significant as the word usually signifies *Shiva*.

DAILY WORSHIP AND ITS NATURE.

Taking up the chapter on Daily-worship, it is of great interest to compare the same with passages on the subject in *Agamas* or Holy scriptures as also other works on the subject viz. "Puja-Prakarana" by Bhadrabahuswami "Shravakaprajnapti" by Umaswati "Puja-Vidhi" and "Vidhi-Prapa" by Jinaprabhasuri, "Acharadinakara" by Vardhamanasuri and "Acharapradipa" and "Shraddha Vidhi" by Ratnashekharasuri. It has althrough remained the same but for some slight variances. It also shows the influence under which the Jains were at the time in their daily worship. It is that of Tantrika and Sankhya Yoga philosophy. There are five kinds of *Shuddhis* (Purificatory ceremonies) *Dharanas* (Concentrations) *Dhyana* (Meditation), *Dig-bandhana* (Fortification), *Gurupuja* (Worship of Preceptor), *Vidyadehanyasa* (Placing of mystic-syllabic body) aided by contemplation of Arhan with 12 *ganas* (Divisions) and with Jnanashakti (Prowess or Goddess of learning), *Mudras* (Suggestive diagrams of fingers), *Mantras* (Mystic syllables) *Sakalikarana* (Unifying Rite), "*Mandalapuja*" (Worship of Elemental Diagram), "*Nyasas*" (Placing of Mystic-Syllables), "*Manasika-Puja* (Mental worship), as also *Griha-Devata-Pujana* (Worship of Homely Deities and *Balividhana* (Rite of offerings to be performed). There is also a reference to *Homa* (Sacrifice) at p. 7-1 ch. Dikshavidhi, of this work. The Sankhaya Yoga influence may be illustrated by reference at p. 28-2 to use of Tattvas (Elementary Substances) as described by the Sankhyas. There are also the *Kala & Vidya* of Tantrikas included. But there is a third and distinct current which mentions Raga, Chandra,

Aditya, Rakta, Ashvis, Agni, Indra, Vishnu, Mitra and Brahma as Lords of various senses or functions. There is also given the ancient "Yantra-Puja" (Worship of Diagrammatic representation). As regards the Yoga influence the description of Nirmanaskavastha (Condition void of Thoughts) is an instance. *Pranayama* (Breath-Control) is prescribed for Bhutashuddhi (Purification of Bodily Elements).

DIKSHA VIDHI AND ACHARYABHISHEKA.

(Initiation and Consecration)

Diksha Vidhi (Initiation) or *Mantra Diksha* (Initiation with Mantras) is practically forgotten at the present time and even in later works it is to be found treated only in "Achara-Dinakara". The Chapter on *Acharyabhisheka* (Consecration as Acharya) is of importance to show the qualifications which are thought necessary in the person receiving the dinigity and to show how he was respected even by his preceptor on conferment of the Dignity. It not only deals with consecration of Acharya, but says that *Abhisheka* (Consecration) may be similarly performed for attaining various wordly objects *e. g.* regaining lost kingdom and having a son.

TANTRIKA INFLUECE.

This chapter as also the subsequent chapters on Installation ceremonies lend additional support to the inference that the present work bears many marks of Tantrika influence. Sir John Woodroffe the famous writer on Tantras has made it abundantly clear that Tantras do not necessarily mean rite with wine and women. Every great religion has had its distinct mode of meditation, path of realization, and the way of attaining final beatitude.

There will be exoteric as well as esoteric doctrines the theoretical as well as the practical portions of the religious philosophy. The Tantra as known has to do more with the practical method of realization rather than the theoretical. There are Shaiva, Shakta, Vaishnava, Ganapatya, Saura, Bhairava, and many other Tantras, still the general nature of realisation is same, they are therefore brought under a common denomination "Tantrika", although each has its distinct philosophy as well as deity. It is not surprising therefore that Jain methods of realisation *i. e.* the practical portion of it should greatly resemble what is known as Tantra-Marga. The most important doctrine of the Tantrikas for practical realisation is *Shat-Chakravedha* (passing through six centers or plexes of body.) by concentration. It cannot be said that the Jaina works do not adopt that method for realisation. "Yoga-Shastra" of Hemachandracharya and "Jnanarnava" of Shubhachandracharya describe the Pindastha (Bodily) as well as *Padastha-Dhyana* (Mantrika). The present work also prescribes *Nirmanaska Dhyana*. Wherever Mantras are used to

aid meditation, wherever there are meditator, meditation, and object of meditation, the mode may be said to be Tantrika. There are many more Tantrika characteristics here and they have been already indicated. Tantra is primarily the *Kriya Kanda* or practical part complementing the *Jnana Kanda* or theoretical part. Every religion will no doubt harmonise its *Kriya-Kanda* to its theoretical portion or Philosophy. It has been so harmonised here. Another distinguishing feature of Tantra is that it may be classed as *Adhi-Daivika-Vada* as distinguished from and midway between *Adhibhautika-Vada* and *Adhyatmika-Vada*. Like other Shahstras, the Tantra Shastra also has attempted to include the other two *Vadas* to make it a complete whole, but the same remain subsidiary. The 3 Vadas, are three stages in the spiritual evolution of man, and none of them can be neglected.

The chapters on *Dikshavidhi* (Initiation) and *Acharyabhisheka* (Consecration as Acharyas) and the chapter on *Shila Nyasa* (Laying of stone) describe the requisites of the two ceremonies viz. bunting, chowries, flags, mirrors, leaf-arches, bells, lotus-stems, and other decorations, the "Mandapa" (Tent), Vedikas (Raised seats), the doors, the posts, the five coloured *Mandala* (Diagram), *Kumbhas* (Pots), *Kalashas* (Jars), *Shankhas* (Conches), draperies, *Yavarakas* (Barley-shoots). They are all the same as may be found in any Hindu work on ceremonials or Architecture.

The Sarvatobhadra-Mandala Vastu-Mandala and the Mandapa are described here as are described subsequently in other works on architecture, such as "Samarangana" by King Bhoja, "Raja-Vallabha", "Vishva-Karma-Prakasha", and "Shilpa-Dipaka".

VASTU CEREMONY.

(Worship of Architectural Deity)

The Vastu-Ceremony was until recently commonly believed to be a ceremony adopted by the Jains because of their contact with the Hindus, as Jains usually adopted themselves to their surroundings and did not unduly give importance to matters-not strictly connected with their religion but wordly in their nature-to avoid straining of feelings between them and the general Hindu population. It may however be of importance to note that Vastu-Vidhi is similarly treated in the Upanga *Jambu-Dwipa-Prajnapti.* (P. 207–210 Agamodaya Samiti Edn.)

In the beginning of *Pratishtha Vidhi* are described the qualifications of *Acharya* (Preceptor), *Indra* (Person performing ceremonies) and *Shilpi* (Architect) and are thereafter described all sorts of Installation-Ceremonies from the laying of the foundation to the implanting of the flag. These have already been dealt with. The minor ceremonies and other subjects may be seen by a glance at the table of Contents. The chapters on Mudra Vidhi and Prayashchitta and Arhadvarnadikam have been also dealt with in the foregoing part.

We may here briefly consider the mention of Zodiacal Signs. These are said to be of Greek origin and supposed to have been introduced in India about the time of Varahamihra. This is because there was

not found reference to them in any Indian work of earlier date. When the Greak influence is known to have been great in the time of Chandra-Gupta and when it is known that many things of Greek origin were then introduced in India, it is quite probable that the mention of Zodiacal signs in this work instead of proving the work to be later in date proves that the Zodiacal signs were introduced earlier. This is so because the date of the work is 1st century of Vikıam era both from internal as well as external evidence. We have already mentioned the ancient current of thought in this work. Metrically also the Gathas cited here lead us to the same conclusion. Externally the author of the work will be shown to have flourished in the 1st century of Vikrama Era.

POINTS FOR ANTIQUARIANS.

The work is of great importance to the antiquarians as it supplies a link between the period of the composition of the Jain holy scriptures and the date when they were systematically committed to writting. The work is written in Sanskrit in departure from the usual practice to write in the Ardhamagadhi language of Jain Religious works of the time. It reflects the spirit of the time when King Vikrama who started the Vikrama era was on the thorne. The pomp attached to Acharyaship is great. Royal insignias such as elephant, horse, palanquin, chowries, umbrella, as well as *Yogapattaka* (diagram for worship) and

Khatika (Pen), books, Crystal-bead-rosary, and sandals are presented to Acharya on conferment of the dignity. Both *Shakhas & Gachchha* are mentioned. The reference in the *Nitya-Karma-Vidhi* to *Ashta Murti* (eightfold form, Shiva) is important and shows that Jain worship was influnced by Tantrika Agamas where the chief deity is Shiva. There was a revival of Hindu learning and Sanskritists flocked together in large numbers to the audience hall of King Vikrama. The learned Jains vied with the Hindu Pandits in the Sabha of Vikrama. The Jains also began to study Sanskrit in large numbers and commenced writing works in Sanskrit dealing with their religion. About the time the famous Umasvati, the learned author of *Tattavartha Sutra* also wrote his aphorisms in Sanskrit. At the same time the Prakrit language continued in full force and works began to be written in both the languages. Kundakundacharya of the Digambara sect who is said to have flourished about 49 S. Y. about this time wrote his 8 famous *Pahudas.* (summaries or extracts from 14 Purvas, the lost Agamas, in Prakrit). This was the time when *Pahuda Granthas* were in vogue. Since the time of Bhadrabahu-Swami till about the middle of the second century, such kinds of works continued to be composed. They purport to be the preserved summaries on various subjects treated in *Purvas* which were fast becoming extinct by the time. It appears from the available Pahudas and the quotations of Gathas in the present work hereafter discussed, that it is not correct what the Western Scholars say that *Purvas* contained merely the disputations of Shri Mahavira with his contemporaries. The work goes to show that *Purvas* dealt with as great a variety of subjects as the existing *Agamas*. The Jain tradition is that Bhadrabahu-Swami was the last person who knew all the fourteen

Purvas, and he was the first to compose the *Pahudas* which were collections of relevant passages out of *Purvas* on select subjects. It may be noted here that the word *Pahuda* or "Prabhrita" is also used to signify chapter in certain Agamas *e. g. Surya-prajnapti* and others.

VAJRASWAMI AND PADLIPTACHARYA.

It appears that Vajraswami further classified the subjects in their various divisions and rearranged *Pahudas* with a view to have separate treatises on the various divisions of a general subject which was formerly treated as a whole by Bhadrabahu-swami. What the author of the present work Padlipta-suri is said to have done is to abridge the said treatises. This is the view of Jinaprabhasuri as expressed in "Vividha-Tirtha-Kalpa" otherwise known as "Kalpa-Pradipa". He also says that Vajraswami's pupil re-arranged "Kalpa Prabhrita" and Padliptasuri abridged the same. This can be reconciled with conclusion arrived at in the portion hereof dealing with Padlipta's date by supposing him to be an elder contemporary of Vajra-Swami, complementing the work of the younger "Yuga-Pradhana" (Leader of the age) Vajra-Swami. This will appear to be certain, from the reference in the "Anuyogadwara" *Mula-Sutra* of Aryarakshitasuri as also from the discussion in the section dealing with Padlipta's date.

THREE PERIODS OF JAINA LITERATURE AFTER AGAMAS.

The first is the Pahuda period beginning with Bhadrabahu Swami and extending over the middle of the 2nd century A. D., when Dharasena composed the Yoni-prabhrita about 135 A. D. The names of some of the Pahudas or Prabhritas known from references in various works are "Siddha-Prabhrita", "Vidyaprabhrita", "Yoni-Prabhrita", "Nimitta-Prabhrita" (Kathavali), "Pratishtha-Prabhrita", "Karma-Prabhrita" (Karma Grantha), "Vijnana Prabhrita", "Kalpa Prabhrita" (Vividha-Tirtha-Kalpa), "Swara-Prabhrita" (Commentary of Thānanga Sutra), "Nātya-Vidhi-Prabhrita" (Commentary, Rayapaseni, page 52 Agamodaya-Samiti Edition). There are also the 8 Pahudas of Kundakundacharya. The remnants now available are fractions of Yoni-Prabhrita, Vijnana Prabhrita, fraction of Nimitta Prabhrita viz. Prashna Vyākarana, dealing with Prashna-Jyotisha and different from the published Anga of identical name & Anga-Vidya. Thus about the middle of the 2nd century the Pahuda period ends. It appears that for the present work that the Vidya.Prabhrita and Pratishtha Prabhrita have been requisitioned.

PERIOD OF LOGICIANS.

Then commences the era of Logicians with Siddhasena-Divakara at the head, followed by Samanta-Bhadra and others. They were followed by the great Siddhantins Devardhigani and Jinabhadragani and the

Agamas were systematically committed to writing as was the great Bhashya written. Sanghadasa and others wrote the other Bhashyas about the time. They were followed by the Churnikaras, the greatest being Jinadasamahattara-Gani. All these followed the Tradition strictly and tried to protect the Siddhanta from the unfettered intellectual attacks of the Logicians.

PERIOD OF COMMENTATORS.

With Haribhadra came the amalgamation of Tarka with Siddhanta and commentaries in new style came to be written on Agamas in Sanskrit which thoroughly satisfied the logical instinct then aroused amongst the learned Jains by Siddhasena and his followers. The great commentators Shilankacharya Abhayadeva-suri, Malayagiri, Dronacharya and Shantisuri accomplished the task of ellucidating the Siddhanta. Hemachandracharya with his versatile intellect completed the development of the Jaina writings in all the branches of literature and philosophy and Jainism reached its Zenith in his times.

WHEN DID THE JAINS COMMENCE WRITING WORKS IN BOOKS.

The very important feature of this work is that it contains passages which throw a considerable light on the Jain tradition and furnish direct proof of its authenticity which is already proved by Buhler-

Jacobi theory from independent sources. Prof. Jacobi has had to depend on indirect proofs, when he says that the scriptures of the Jains came to be written for general use in the time of Devardhi Gani although it was not unusual long before that to write scriptures in books. The passages are as follows:—

तत्र मन्त्रतन्त्रकल्पानदीक्षितान्न श्रावयेत्। नापि तत्पार्श्वाल्लेखयेत्। अज्ञानस्वरूपं न दीक्षयेत्॥ पृ. ७–२

तदर्थं कायोत्सर्गं कृत्वा निषद्यायामुपविश्य आत्मनो दक्षिणभागे शिष्यमुपवेश्य लग्नवेलायां कुम्भकयोगेनाचार्यपरम्परागतं पुस्तकादिषु लिखितमाचार्यमन्त्रं निवेदयेत्। ततो गन्धपुष्पाक्षतान्वितं मुष्टित्रयमक्षाणां दत्त्वा तदनु छत्र-चामर-हस्त्यश्व-शिबिका-राजाङ्गानि योगपट्टक-खटिका-पुस्तका-ऽक्षसूत्र-पादुकादिकं च दद्यात्॥ पृ. ९–१

There is the direct reference to *Pustaka i. e.* book and the Surimantra being about the time written in books etc. There is also warning against an uninitiated person writing works relating to Mantra Tantra and Kalpas. It is possible thus that athough the books were not in general use in some places at least the scriptures must have been written in books for exact preservation of the same. We may observe in passing that the reference to "Nandi-Sutra" in the chapter must be to the original Sutra and possibly to "Brihannandi described in "Yoga-vidhi" as also at the end of "Nandi-Sutra" (Agamodaya samiti Edition) and the inference of Dr. Jacobi that what Devavachaka did was to redact and enlarge upon the old work seems to be true.

While dealing with the *Nitya-karma-Vidhi* I dwelt upon the ceremonials being the same before and after the date of the present work. Another factor which goes to prove the authenticity of the Jain

tradition is that the Pantheon as described in this work is the same as in the scriptures or subsequent works. The Mantras used in the ceremonials are also the same. The Saint Wheel *(Siddha-Chakra)* and the *Nandavarta Mandala* are also the same.

DIVISIONS OF SHWETAMBARAS AND DIGAMBARAS.

From the colophon of the work it appears that even in the first century of Vikrama the Divisions of *Shwetambaras* and *Digambaras* were in existence. The colophon of the *Stutis* of Siddhasena Divakara confirms the existence of such divisions in ancient times. It is very probable therefore that the divisions are really much older than supposed to be, and Dr. Jacobi's inference in this respect from other sources seems to be quite sound. I think that the divisions became marked from the time of Arya-Mahagiri and Arya Suhasti.

GATHAS FROM LOST AGAMAS.

The most important feature of the work is that it contains nearly 70 verses *(Gathas)*, some of which are actually quoted as from "Agamas" and others are also probably from "Agamas" although not expressly stated so to be. These verses cannot be identified in any of the available "Agamas". The author himself in the opening verse mentions that this treatise has been extracted from "Jinagama". It is stated

in the colophon that this treatise has been composed after considering the Mantras of the *Siddhanta*. The
verses appear to give a connected account of the Installation-Ceremonies. They furnish to us a clue to what
Purva literature was. It was not what is surmised to be merely the disputations of Shri Mahavira with his
contemporaries, but a variety of subjects as already stated. It is probable that they formed a part of
"Vidya-Pahuda", and may have been taken from "Pratishtha-Pahuda" separated by Vajraswami from the
former work of Bhadrabahuswami. They thus furnish direct evidence of what "Pahuda-Granthas" were.
Besides the said *Gathas* which look like quotations rather from "Pratishtha-Pahuda", there are Mantras in
Prakrit which are probably taken from the larger work Vidya-Pahuda which as its name indicates must
have dealt with various Mantras. I have already cited Jinprabhasuri's opinion on the point and have
mentioned the names of "Pahudas" referred to in various works.

REFERENCE TO NIRVANA-KALIKA.

The "Prabhavaka-Charitra" mentions the present work by name, in the biography of Padliptasuri there given. The earliest work which cites the present work by name is the commentary by Siddhasenasuri (1186 A. D.) on "Pravachanasaroddhara" of Nemichandrasuri in connection with the description of atten dant Yakshas and Yakshinis, (see p. 95-1 Pravachana-Saroddhara Devachanda Lalbhai Edn.).

HARIBHADRA'S BIMBA-PRATISTHA-VIDHI.

Without mentioning the present work by name Haribhadrasuri in his eighth "Panchashaka" named "Bimba Pratishtha Vidhi" has adopted many of the verses of the present work altering some partly, and incorporating many with but linguistic changes that took place in the Prakrit language, presumably because of the great interval of time between Padliptasuri and Haribhadrasuri. The learned commentator of Haribhadra's "Panchashaka" Shri Abhayadevasuri has quoted some of the *Mangala-Gathas*, only alluded to by Haribhadra the author of the work, without any appreciable alteration of language. These are:—

जह मेरुस्स पइठा जंबुदीवस्स मज्झयारंमि । आचंदसूरियं तह होउ इमा सुप्पइठत्ति ॥ १ ॥

जंबुदीवपइठा जह सेसयदीवमज्झयारंमि । आचंदसूरियं तह होउ इमा सुप्पइठत्ति ॥ २ ॥

जह लवणस्स पइठा सव्वसमुद्दाण मज्झयारंमि । आचंदसूरियं तह होउ इमा सुप्पइठत्ति ॥ ३ ॥

STYLE.

The author himself in the opening of this work says that the treatise is being written in a clear way (Spashtartha). The diction has the merit of what Rhetoricians call *Prasada* quality or clarity. The work is written in a pure, homely, concise, and clear style. The author has great command over language

and owing to that merit is able to avoid monotony even in such a work of ritua's. He proceeds in a very smooth manner and keeps up our interest by the variety of subjects he treats of in a masterly manner giving authoritative statements on each of them. The treatment has the merit of thoroughness in a small compass. The sentences and phrases tend to become proverbial and imprint an ineffacable mark in our memory. We feel all along as if we are enjoying a summer-swim while going through the work.

LIFE OF PADLIPTA.

The biography of the author has been given in Kathavali & Padlipta Prabandha (Prakrit), Prabhavaka Charitra, in great details and also in Prabandha-Chintamani. Padlipta's mother named Pratima wife of Fulla a merchant in Koshala, which was then ruled by King Vijaya Brahma had for many years no son. She worshipped the goddess Vairotya for having a son. She was told by the goddess to drink water being the foot-wash of Shri Aryanagahastisuri. He was in the line of Kalikacharya called the dynasty of Vidya dharas which started from Nami and Vinami the tributary Princes of thefirst Lord or Tirthankara Rishabhadeva, who were given the Vidyas presided over by 16 Vidyadevis viz. Rohini and others along with the Kingdom of Vaitadhya by the Serpent-King Dharanendra. Hemachandracharya in his "Trishashtishalaka-Purusha-Charitra" narrates the annecdote, and says that the Vidyadharas were divided in 16 groups

named after the particular Vidyadevis worshipped by them. Thus Kalikas meant those who worshipped Kali. The said Pratima went to Aryanagahastisuri the next morning and when about ten steps away from the preceptor partook of the said water. She was therefore told by the preceptor that as she did so she would have a son who will be reared up ten Yojanas away in Mathura on the other bank of Yamuna and that she would have ten sons. In return the preceptor asked of her that the first son should be allowed to be initiated as his pupil. She consented. The first son was the author of our work. He was brought up under directions of the preceptor and when 8 years old was intitiated by Shri Aryanagahastisuri's brother-preceptor Sangamasinhasuri. He was then placed in charge of Sangamasinha's learned pupil named Vachaka Mandanagani. Thus Padlipta became a scion of the Vidyadhara's Dynasty. Padlipta otherwise known as Palitta acquired learning under him very soon and learnt all that was being taught to other pupils also. Within a year he completed his studies. He was one day sent out to beg and bring food. On his return he said as follows.—

अंबं तं बच्छीए अपुप्फियं पुप्फदंतपंतीए। नवमालिकं जियं नवबहुइ कुडएण मे दिन्नम् ॥

Hearing this flowery description of the lady the preceptor remarked "You are Palitta (पलित्त) i. e. (Besmeared with sin)." The pupil replied, "Be pleased to add a Karna i. e. Say Pālitta (पालित्त)" which meant, "You (may) have flying-foot application". The preceptor was pleased by the pupil'switty reply and his birth-name Nagendra given to him at his birth after the mother's dream of the King of Naga-Devatas was thenceforth changed into "Pālitta". In his 10th year he was installed as an Acharya. He spent the

beginning of his life in and about Mathura, and after about 3 or 4 years was directed to proceed to Patliputra where by sheer force of intellect he became a close friend of the King Murandarai. The details of his life about the time can be had from the Prabhavaka Charitra. He also showed his accomplishment in the "*Mantra-Shastra*" to King Muranda.

Haribhadra-Suri in his commentary on Avashyaka-Sutra while citing instances of different kinds of intellect cites Padliptasuri as an instance of Vaineyaki-Buddhi. A ball of thread, waxed together was sent to the Sabha of King Muranda for the end of the thread being discovered without cutting up the ball. Nobody could do it and Padliptasuri was requested to do so. By putting the thread-ball in hot water he seperated the wax from the ball and the thread-end was taken out. Similarly a stick both ends of which were equally shaped was sent to King Muranda for finding out the root-end of the stick. Padliptasuri by putting it in water took out the root-end being the heavier part. Before Haribhadrasuri the great Bhashyakara Jinabhadra Gani also refers in his Bhashya to Palittasuri and his Prakrit novel Tarangavati as also Vasavadatta of Subandhu. Padlipta thus gained complete influence at the Court of King Muranda. We do not know exactly when he travelled over to Broach but it is possible that he must have done so when at the age of about 20 years he travelled to visit the holy places of pilgrimage viz. Shastunjaya Girnar. He then visited. Valabhi and Tankapura the place where Nagarjuna lived. Thenceforward for the greater part of his life Padlipta resided at Manakhetapura. There also he became a great friend of King Krishna who was much impressed by Padlipta's literary qualifications.

About the time the Buddhists had great influence in various courts of India and controversies between Buddhists on one side and Jains on the other were very common. Aryakhaputacharya and Upadhyaya Devendra his pupil were Jain Sadhus wellknown for their learning and accomplishments in magical lores. One Buddhist from Gudashastrapura, who was defeated by a Jain Sadhu in a controversy before the King of Broach, died and became a malevolent spirit and began troubling the Jains. The services of Aryakhaputacharya were requisitioned, and by his prowess he made the Buddhist Yaksha (spirit) do his bidding and follow him out of the town. The king was thus won over, and the spirit gave up harassing the Jains. Devendra similarly punished the jealous Brahmins in the Court of King Dahada at Patliputra by turning back the faces of the Brahmins by his magical prowess. When they promised to become Jain ascetics they were released and the King thenceforth never insisted on the Jain Sadhus bowing to the Brahmin householders. Both these preceptor and pupil were respectively versed in "Vidya-Pahuda" and "Siddha-Pahuda". The author of the "Prabhavakacharitra" mentions that Padliptacharya acquired these magical lores from Aryakhaputacharya. It also narrates that Rudradevasuri learned in the "Yoni-Prabhrita" (that is treatise on Medical Ingredients which when mixed in various manners produce various kinds of insects and animals), and Shramanasinha learned in the Nimitta Shastra (that is the science of prophecy) were Padlipta's contemporaries who met and came in contact with him and Vidya-Chakravarti-Sovereign of Magical lores-Aryakhaputacharya and Siddha Upadhaya Devendra at Manakhetapura. Padlipta had acquired the flying-lore by applying medical ingredients to feet, and daily performed pilgrimage of the five sacred places including

Shatrunjaya (Palitana) and Girnar or Revantagiri. He is described to have brought round the relations of the Brahmins who had become Jain Ascetics at Patliputra by the prowess of Devendra. He is also mentioned as having performed the Installation-Ceremony of the Banner of the Temple of Munisuvrata-Swami at Broach, at the instance of King Sata-Vahana or Shali-Vahana. This is quite probable. The said King may have been Hala of the Shali-Vahana Dynasty, the famous author of the Prakrit Gatha-Sapta-Shati. It is also narrated that Shalivahana requested King Krishna of Manakhetapura (Mannakhedapura) who was much attached to Padliptasuri to allow him to remain with the former for some time. Padlipta-Suri thereupon went over to Pratishthana-pura now known as Paithan the capital of the Andhra King and composed his famous novel Tarangavati in Parkrit which became very popular. Even his rival Panchāla had at last to admit the excellent qualities of the novel and the following verse in Prakrit is said to have been uttered by him on hearing of Padliptas death:—

सीसं कहवि न फुट्टं जमस्स पालित्तयं हरंतस्स । जस्स मुहनिज्झराओ तरंगवइया नई वूढा ॥

It seems that Tarangavati was the first novel in Prakrit as distinguished from mere biography of which there was abundance even in former times. The Agama literature, and especially the Charitanuyoga therein furnishes us instances of the latter kind. There were works of the kind of "Uvaeshamala" and "Pauma-chariyam", but a true novel in the sense of fiction having not the least claim to historicity, was only Taranga-vati-and was the first & the best of its kind. I will hereafter refer to the other novel Malayavati. They

were followed by "Vasavadatta" of Subandhu, "Samaraichcha-kaha" of Haribhadra-Suri, "Kuvalaya mala" of Udyotana-Suri alias Dakshinya-Chihna as also Lilavati, and Shringara-Manjari of non-Jain writers. The latter has been composed by King Bhoja. These novels were very popular and were largely imitated. The latter novelists praise especially Padlipta, Jivadeva and Haribhadra as great novelists, whose novels sweetened many others.

The famous Yogi Nagarjuna about the time heard of the fame of Padlipta Suri and his accomplishments in the flying-lore. Nagarjuna became the pupil of Padlipta-Suri and by virtue of his intellect found out a hundred and seven medicines used in the foot-application used for flying and with its aid attempted himself to fly but could not quite succeed. He went up and fell down like a cock and was injured. Padlipta Suri being pleased with the wonderful intellect of Nagarjuna, which without being told discovered all but one medicines, taught him the remaining one-which was rice-water instead of pure water, and Nagarjuna could thenceforth perfectly fly over any place he desired. The Yogi was also trying to acquire "*Suvarna Siddhi*" (Power to make gold) and for the purpose was experimenting upon mercury which had to be pestled by a Padmini or the best kind of woman. Roaming over the whole of India he learnt that the Queen of King Shalivahana named Chandralekha was a Padmini. He took her away in the midst of night sleeping in her couch by his flying lore to a Jungle near Cambay. There he requested her not be at all frightened as his object was merely to get the mercury pestled there with her hands so that it may become

Siddha-Rasa capable of turning copper and other base metal into gold. "Prabandha-Chintamani" describes how King Shalivahana discovered the absence of his queen and how Nagarjuna after succeeding in the preparation of Siddha-Rasa was not able to make any use of the same, and how he met with his death. The "Prabhavaka Charitra" describes him as having accompanied Padlipta to Shatrunjaya to have a death in Samadhi by abstention from food and water. Both Nagarjuna and Padlipta died there, Padlipta having ascended the second Heaven. This is in short the life story of the author of the present work. It may be of importance to note here that there have been more than one Nagarjuna, and the present Nagarjuna need not be confounded with the Nagarjuna who started the Vajrayana amongst the Buddhists about the middle of the 2nd century A. D.

PADLIPTA SURI'S OTHER WORKS.

The novel Tarangavati has been already mentioned. The original is not available. Nemichandra Suri abridged the said novel under the name Tarangalola, and this is available. It has been translated in the German and Gujarati languages. The reason given by Nemichandra-Suri for abridging the original Tarangavati is that it is very extensive, complex, and full of pairs, sixes, and *Kulakas* (Collections) of verses, and that consequently it has become a work only for the learned, the ordinary people having lost interest in it. The author of the summary abridged Tarangavati by omission of complex verses and "Loka

padas". (Popular Sayings). The plot of Tarangavati is very simple but romantic and impressive. The scene taken is the region between the Ganges and the Yamuna. The story is narrated by the heroine herself who has turned an ascetic in her later life. As in the drama of "Mudra-Rakshasa" of Vishakhadatta, which also depicts the life of the people of about the same time though dating somewhat later, this novel very graphically describes the life of the people of those ancient times. Painting was an important art and plays an important part in both the works. Memories of previous life described in the work add to its romantic characteristic. The traditional love of the male and female Chakravaka birds furnishes very appropriate back ground to the romance. The rivers, the groves, caves, temples, and the city on a moonlit night are some of the important and impressive scences. The freedom of the Indian ladies of the times and the travels of the merchant class are note-worthy. The robbers as well as hunters have their own code of morality and follow certain principles. It is probable that the impressions of the author received in the early life have been ably incorporated by him in the work.

It is already mentioned that Padlipta was versed interalia in Nimitta-Pahuda. It appears that he composed a work on Astrology called Prashna Prakasha. The name indicates that the subject treated must have been the method of answering questions known as Prashna-Jyotish. The present work Nirvana Kalika Tarangavati and Prashna Prakasha are the three works mentioned by Prabhavaka Charitra as having been composed by Padlipta Suri. Jinaprabhasuri mentions in his "Vividha Tirtha Kalpa" otherwise known as Kalpa Pradipa that Padlipta composed Shantrunjaya Kalpa as well as Revanta Giri Kalpa in praise of

the two sacred places of pilgrimage viz. Shatrunjaya and Girnar. He says that Bhadrabahu-Swami composed them and these must be the Kalpa-Pahuda already mentioned. Vajraswami classified them and Padliptasuri abridged them. The hint here given of the connection between Vajraswami and Padliptasuri has been already considered.

PALITANA AND VIRA STUTI.

It is interesting to note that Padliptasuri is connected with the foundation of the Palitana City in the vicinity of Shatrunjaya hill and is said to have installed an image of Mahavira Swami at the place at the requst of Nagarjuna. The etymological meaning of "Palittana" is "of Palitta" which is the name of the author of the present work. The Prabhavaka Charitra mentions that Padlipata composed on the occason of installation of Mahavira-Swami at Palitana Vira-Stuti beginning with the words "गाहा जुअलेण". It is also there stated to contain Akasha-gamini Vidya and Suvarna-Siddhi. Fortunately, the Stuti has been found in my collection though in a slightly mutilated form. Having however two versions of the Stuti before me I have been able to give below the Stuti with *Protanto* reading. I have to acknowledge here the aid given by Pandit Hargovinddas of the Calcutta University in giving a sensible reading of the second vesrse. The stuti runs as follow:—

गाहा-जुअलेण जिणं मय-मोह-विवज्जियं जियकसायं । थो(स्)सामि ति-संझाए तं निस्संगं महावीरं ॥ १ ॥
सुकुमार-धीर-सोमा रत्त-किसिण-पंडुरा सिरिनिकेया । सीयंकुसगहमीरू जल-थल-नह मंडला तिन्नि ॥ २ ॥
न नमंति वीरलीलं हाउंजे सुरहि-मत्त-पडिपुन्ना । पंकय-गयंद-चंदा लोयण-चक्कमिय-मुहाणं ॥ ३ ॥
एवं वीरजिणंदो अच्छरगण-संघ-संथुओ भयवं । पालित्त यमय-महियो दिसउ खयं सयलदुरियाणं ॥ ४ ॥

GATHA-SAPTA-SHATI.

Padlipta has been traditionally believed to have been very intimately connected with King Hala the reputed author of Gatha Sapta Shati. The later poets believed Palitta to be the real author of the work or the major portion of it. There are several verses ascribed to Padlipta in Gatha-Sapta-Shati and some of them are given below —

गाथा सप्तशती

१।६३

उअह पडलन्तरोइण्णणिअअतन्तुद्धपाअ पडिलग्गम् । दुलक्खसुत्तगुत्थेक्क-वउलकुसुमं व मक्कडअम् ॥ ६३ ॥
[पश्यत पटलान्तरावतीर्णनिजकतन्तूर्ध्वपादप्रतिलमम् । दुर्लक्ष्यसूत्रग्रथितैक-वकुलकुसुममिव मर्कटकम् ॥]

२।१६

वाएरिएण भरिअ अच्छि कणउरउप्पलरएण । फुक्कन्तो अवइह्णं चुम्बन्तो कोसि देवाणम् ॥७६॥
[वातेरितेन भृतमक्षि कर्णपूरोत्पलरजसा । फूत्कुर्वन्नवितृष्णं चुम्बन्कोसि देवानाम् ॥]

३।४८

उप्पाइअदव्वाणं वि खलाणं को भाअणं खलो च्चेअ । पक्काईं वि णिम्बफलाइं णवरं काएहिं खज्जन्ति ॥४८॥
[उत्पादितद्रव्यानामपि खलानां को भाजनं खल एव । पक्कान्यपि निम्बफलानि केवलं काकैः खाद्यन्ते ॥]

३।५६

कं तुङ्गथणुक्खित्तेण पुत्ति दारट्ठिआ पलोएसि । उण्णामिअकलसणिवेसिअग्घकमलेण व मुहेण ॥५६॥
[कं तुङ्गस्तनोत्क्षिप्तेन पुत्रि द्वारस्थिता प्रलोकयसि । उन्नामितकलशनिवेशितार्घकमलेनेव मुखेन ॥]

४।९३

जेत्तिअमेत्ता रच्छा णिअम्ब कह तेत्तिओ ण जाओसि । जं छिप्पइ गुरुअणलज्जिओसरन्तोवि सो सुहओ ॥ ९३ ॥
[यावत्प्रमाणा रथ्या नितम्ब कथं तावन्न जातोऽसि । येन स्पृश्यते गुरुजनलज्जापसृतोऽपि स सुभगः ॥]

४।९४

मरगअसूईविद्धं व मोत्तिअं पिअइ आअ अग्गीओ । मोरो पाउसआले तणग्गलग्गं उअअ बिन्दुम् ॥ ९४॥
[मरकतसूचीविद्धमिव मौक्तिकं पिबत्यायतग्रीवः । मयूरः प्रावृट्काले तृणाग्रलग्नमुदकबिन्दुम् ॥]

५।१७

आम अमद्द म ओसर पइव्वए ण तुह मइलिअं गोतम् । किंउण जणस्स जाअव्व चन्दिलं ता ण कामेमो ॥ १७ ॥

[आम असत्यो वयमपसर पतिव्रते न तव मलिनितं गोत्रम् । किं पुनर्जनस्य जायेव नापितं तावन्न कामयामहे ॥] पालित्तस्स ॥

REFERENCES TO PADLIPTA.

It has already been mentioned that Padliptasuri composed Tarangavati, that it was abridged by Nemichandra Suri, and that the original is lost but the summary is available. There are several references in Jain literature to Tarangavati and to Padlipta as its author. The earliest reference is in the Mula Sutra of "Anuyogadwara" composed by Aryarakshitasuri (page 149 Agamodaya Samiti Edition.)

"से किं तं संजूह नामे?-तरंगवइकारे मलयवइकारे अत्ताणुसट्ठिकारे बिंदुकारे, सेतं संजूह नामे ॥

This is very important as it places Tarangavati Katha before Aryarakshitasuri. As Aryarakshitasuri was a Vidyashishya of Vajraswami, it is certain that Padliptasuri must have been at least contemporary with Vajraswami. In the discussion as to Padlipta's date I have come to the same conclusion viz. that Padlipta was an elder contemporary of Vajra Swami. In some Pattavalis the names of

Dharma, Bhadra-Gupta, Vajraswami, and Aryarakshita are mentioned between Arya Mangu and Arya Nandila the grand preceptor of Padlipta Suri. This can be easily explained by the fact that the 4 pereons were not directly in the line of Aryamangu, Dharma being only Vidya-Shishya of Arya Mangu. That Vajraswami was the Vidya Shishya of Bhadra Gupta is definitely knowr. In both the lines of the descendants viz. of Diksha-Shishyas and Vidya-Shishyas Padlipta Suri is as much removed from Arya Mangu in the one line as Vajraswami in the other. Their being contemporaries therefore becomes absolutely cartain. The difficulty in ascertaining Padlipta's date is due to his not being in the main line of Acharyas and also due to difference between the Kalpa Sutra and Nandi Sutra Pattavalis-due in its turn to difference in Vallabhi and Mathuri Vachanas. The next reference is by Jinabhadragani-Kshama-Shramana in his Visheshavashyaka-Bhashya, to Tarangavati of Padlipta as follows.—

जहवा निद्दिट्ठवसा वासवदत्ता तरंगवइयाइं । तह निद्देसगवसओ लोए मणुक्खवाउ त्ति ॥ १५०८ ॥

श्रीविशेषावश्यकभाष्य ।

The third reference is by Haribhadra Suri in his commentary on Avashyaka Sutra to Padlipta as an instance of Vaineyiki Buddhi as follows:—गंठिमि-पाडलिपुत्ते-मुरुंडो राया, पालित्ता आयरिया तत्थ जाणएहिं इमाणि विसज्जियाणि सुत्तं मोहियं लट्ठी समा समुग्गकीत्ति केणवि ण णायाणि पालित्तायरिया सद्दाविया तुब्भे जाणइ भगवंति ? वाढं जाणामि सुत्तं उण्होदहे छूढं मयणं विरायं दिट्ठाणि अग्गग्गाणि, दंडओ पाणिए छूढो, मूलं गुरुयं, समुग्गओ जउणा घोलिओ उण्होदए कड्ढिओ उग्घाडिओ य, तेणवि ओट्ठियं सयलगं राइल्लेऊण रयणाणि छूढाणि, तेण सीवणीए सिविऊण विसज्जियं अभिम देत्ता निप्फेडइ ण, सक्कियं पादलित्तयस्स वेणइगी ॥

The fourth reference is in "Kuvalaya-mala" by Uddyotana-Suri alias Dakshinya-Chihna, Haribhadra's pupil, to Tarangavati as follows:—

चक्कागजुवलमहिया रम्मत्तणरायहंसकयहरिसा । जस्स कुलप्पव्वयस्स व वियरइ गंगा तरंगवई ॥

The 5th reference to Padlipta is in the commentary on "Upadesha Pada" by Vardhamanacharya who flourished in S.Y. 1055. Padliptasuri is there mentionsd as an instance of marvellous intellect.

The 6th reference is by Dhanapala in his Tilaka-Manjari to Tarangavati is as follows:—

प्रसन्नगम्भीरपथा रथाङ्गमिथुनाश्रया । पुण्या पुनाति गंगेव गां तरङ्गवती कथा ॥

The 7th reference is by Shilankacharya, who is different from the learned commentator of that name (see page 14 Catalogue of Mss. in Jesalmere Bhandaras. Gaikwad's O. Series), in his Mahapurusachariyam. in "Prakrita" as follows:—

सा नत्थि कला, तं नत्थि लक्खणं जं नदीसइ फुडत्थं । पालित्तयाइविरइयतरंगमइयासु य कहासु ॥

The 8th reference is by Laxmana-Gani author of "Supasanahachariyam" (written in S. Y. 1199). He refers to the author of "Tarangavati" and praises Tarangavati as the Prakrit novel which sweetened many others":—

को न जणो हरिसिज्जइ तरंगवइ-वइयरं सुणेऊण । इयरे पबंधसिंधूवि पाविया जीए महुरत्तं ॥

The 9th reference is in the "Palitta-Prabandha" & Prabhavaka Charitra, where is preserved the following verse which seems to have been uttered by some one mourning Padlipta's death.

सीसं कहवि न फुट्टं जमस्स पालित्तयं हरंतस्स । जस्स मुह निज्झराओ तरंगवइया नई वूढा

DATE OF PAD-LIPTA SURI.

By a consensus of opinions the author of "Nirvana Kalika" is said to have flourished in or about 467–470 of the Vira Era i. e. 56–59 B. C. I am inclined to fix the life of the author as extending over the first century of Vikrama Era. Our author is connected with Aryakhaputacharya, having learnt from him "Vidya-Prabhrita". According to "Tattvadarsha" of Vijayanandasuri he flourshed in 453 Vira Era, but according to "Prabhavakacharitra" in 483 Vira Era. In the Prakrit "Padlipta-Prabandha" which is on a palm-leaf manuscript written in the 13th century, it is mentioned that Satakarni of Pratishthanapura (Paithan) besieged Broach which was under Naravahana. Haribhadrasuri, who previously wrote the commentary on Avashyaka Sutra, also mentions the same fact. Aryakhaputacharya is said to have flourished when the siege of Broach took place. We may therefore accept 453 Vira Era as a date at which Aryakhaputacharya may have flourished. According to the Jain Pattavalis 453 Vira Era was the last year of Naravahana's 60 years rule. As in the calculation of Pattavalis Ujjayani was the important place where the several dynasties

beginning from Palaka Dynasty ruled, I am inclined to think that Naravahana while ruling at Broach held Ujjayani also under his sway. His successor Gardabhilla also is said to have ruled for 13 years at Ujjayani. The infenence therfore that Naravahana did rule at Ujjayani becomes stronger. The Prabhavaka Charitra has apparently confounded Bala Mitra and Bhanu Mitra the former rulers with the later Naravahana while narrating the Broach siege. The earlier Prakrit Padlipta Prabandha and Kathawali may be relied on in this respect in preference to the later Prabhavaka Charitra. The two versions do not differ in other respects. Kathavali gives a shorter and slightly different version from the other two works.

I may now refer to the passage at page 149 of Anuyoga-dwara Sutra. In the Mula Sutra there occurs the passage which mentions *Tarangavai kkare Malayavai-kkare*. The reference to Taranga-vaikkara is decidedly to the author of the present work Padalipta Suri who composed the famous novel "Tarangvati" already referred to. In the preface of the Gatha Sapta Shati (Nirnaya-sagara Edition) Malayavati is said to have been the Queen of the Andhra king Kuntala of Sata or Shalivahana Dynasty son of Dwipa or Dwipikarna. Now this Kuntala may be identified with Kuntala Svati-Karna the 13th King of the Andhra Dynasty who ruled for 8 years from 23 B.C. to 11 B.C. (Page 216 The Early History of India By Vincent Smith 3rd Edition 1914) He was son of Mrigendra Swatikarna, Mrigendra being synonym for Dwipi. It thus furnishes a link to us in the life of Padlipta connecting him with Kuntala Svati-Karna when Padlipta was about 35 years old. It seems that by Malayavaikkara

also Padlipta is referred to, he having probably composed similarly the novel whereof Malayavati was the heroine. Both Vatsyayana & Yunadhya in their respective works "Kama-Sutra" and Katha-Sarit sagara (Sixth-Taranga) refer to Kuntala Shatkarni. The preface of Gathasaptashati tries to indentify this Kuntala Shatkarni with Hala on the strength of a colophon of the Manuscript of Gatha-Sapta-Shati procured by Dr. Peterson from the state-library of Bundi (Dr. Peterson's 3rd Report page 349); but I think they are different kings of the same Dynasty. There is no doubt that the author of the present work was intimately connected with one or the other rulers of the Shalivahana Dynasty. Those who may be interested in the story of Malayavati can read it from Katha Sarita Sagara. Padlipta Suri was also a contemporary of Rudradevasuri and Shramanasinha who were respectively profficient in the Yoni-Prabhrita and Nimitta Prabhrita Padlipta having acquired the same from them. He was also a contemporary with Upadhyaya Devendra pupil of the Vidyachakravarti (Sovereign of magical lores) Aryakhaputacharya. Devendra was learned in the Siddha-Prabhrita and taught the same to Padlipta. We have no information independently of the dates of the various personages except Aryakhaputacharya's flourishing about 453 Vira Era. The details of Padlipta's connection with these persons have been narrated in the foregoing part depicting Padlipta's life. Padlipta is stated to be versed in all the four Pahudas. Padlipta is also credited with the orgin of the Pāli language by his biographers. Padlipta and Vajraswami were also contemporaries. Their literary work in connection with Pahudas has been already dealt with. Arya-Samiti the maternal uncle of Vajraswami was proficient in Siddha-Pahuda. He made the river Yamuna part on

two sides to enable him to walk to the opposite bank along the way thus made. He initiated 500 Tapasas (Hindu ascetics) as Jain Sadhu and started Brahmadwipika Shakha. He was also Padlipta's contemporary.

KINGS CONTEMPORARY WITH PADLIPTA.

Muranda of Patliputra was connected with Padlipta in his early life. King Vikrama of Ujjayani was also a contemporary with him, but Padlipta, personally, it is not stated to have been in any way connected with him. It was the great-grand-pupil Siddha Sena Divakara who was connected with king Vikrama. He was a pupil of Vriddhavadi a pupil of Skandilacharyra.

Skandilacharya was a pupil of Padlipta. After leaving Patliputra and coming over to Western India, Padlipta became an intimate friend of King Krishna of Manakhetapura. Shramanasinha who was Padlipta's contemporary as already mentioned was connected with King Prajapati of Vilasapura. The said Prajapati was also thus Padlipta's contemporary. King Dahada of Patliputra mentioned in connection with Devendra-annedote seems to have been also Padlipta's contemporary. Padlipta seems to have been connected with more then one king of Shali Vahana Dynasty, especially King Hala the famous poet and reputed author of the collection of 700 erotic verses named Gatha-Sapta-Shati. The author of Rama-Charitra Abhinanda refers to Padlipta's connection with King Hala in express words.

हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिना ।
श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलं सद्यः सत्क्रिययाभिनन्दमपि च श्री हारवर्षोऽग्रहीत् ॥

Arya-Naga-Hasti, the preceptor of Padlipta was the pupil of Arya Nandila & the grand pupil of Arya Mangu. According to Pattavalis Arya Mangu flourished in 467 of Vira Era. They also mention Padlipta as having flourished in or about 470 of Vira Era. It is therefore to be supposed that Arya Mangu Arya Nandila and Arya-Naga-Hasti must have been of nearly the same age, to make Padlipta, who is fourth in the line, only 3 years later. This is not surprising when it is known that the right to the Patta did not descend from father to son but from preceptor to pupil.

The Digambaras state that Naga-Hasti and Arya-Nankshu (probably same as Arya.Mangu) were pupils of the same Acharaya named Gunadhara. (Page 160 Introduction to Ratnakarandakashravakachara). If they are the same as Arya-Naga-Hasti and Arya Mangu referred to above, it lends support to the inference that they were practically of the same age In the ancient times an older Acharya did not consider it below his diginity to learn such subjects as he may not be knowing from even a younger Acharya. There was thus relation also of Vidya-Guru and Vidya-Shishya and not merely Diksha-Guru and Diksha-Shishya. This is apparent fram the relation of Vajra-Swami with Arya-Rakshita. This is also the reason why in the list of Yuga-Pradhanas, several Acharyas are mentioned after Arya-Mangu and before Arya-Nandila, although they were not strictly in the line which is of Diksha-Guru and Diksha-Shishya. The dates in the said list of Yuga-Pradhanas are not therefore quite reliable.

PALITTA-SURI & PALITANA.

Palitta-suri is definitely connected with the foundation of the Palitana City. The etymological connection between the two has been discussed under heading "Palitana and Vira-stuti". The city has an existence only in connection with "Shatrunjaya Hill" the holiest of the jain places of pilgrimage. It is situated in the vicinity of the Hill. The tradition is that for about 55 years from S. Y. 53 to S. Y. 108 the hill remained unvisited because of the presiding deity Kapardi Yaksha having taken to harassing visitors and making the place impassable and impure by heaping up bones and skeletons of animals. Vajra-swami performed the Re-installation ceremony of Lord Rishabhadeva on the hill in or about S. Y. 108, Javadasha being the donor and *Sanghapati* on the occasion. Palitana City also probably came to be founded in the very year or immediately thereafter in one of the customary visits Padliptasuri paid to Shatrunjaya. "Prabhavaka Charitra" mentions that he died a Yaugic death on the very hill. In the life of Vajraswami who died in 58 A. D. (S. Y. 114) there is mention of migration from Gujarat Southwards owing to famine, but there is no such mention in Padlipta's life. He is definitely connected with King Hala of Shalivahana Dynasty, author of "Gatha Saptashati" as already shown. Hala ruled from 49 A. D. to 54 A. D. The various biographies of Padlipta do not mention Padlipta having heard of Hala's death. I therefore think that Padlipta must have died immediately after the foundation of Palitana *i. e.* in 52 or 53 A. D. No doubt this presupposes a very long life of 109 years, if we fix the birth of Padlipta in 470 Vira

Era i. e. 56 B. C. and ten years more if we take 470 Vira Era as the date of Padlipta's consecration as an Acharya. It may be considered rather improbable by Historical Investigators, but when we definitely know of the long lives of Jain Sadhus of the time, *e. g.* Vajraswami lived 88 years and his pupil Vajrasena 128 years, the period of life ascribed to Padlipta does not appear improbable. What I think is that the beginning of Padlipta's life is definitely connected with Aryakhaputacharya, and the end with Hala and the foundation of Palitana. We have also to take into account Padlipta's great-pupil Siddhasena being contemporary with King Vikrama. Siddhasena died in S. Y. 30. It is not therefore possible to bring down considerably the date of Padlipta's birth except by 10 years. It may therefore be taken that Padlipta flourished in the first century of the Vikrama Era. An important incident with which the "Prabhavaka-Chritra" connects Padlipta is that he performed with the aid of Shali-Vahana, *Dhwaja-Pratishatha* (Flag-Installation ceremony) at Broach. "Prabandha Chintamani" mentions Shalivahana as invading King Vikrama's territories about the end of Vikrama's life, (1 to 4 A. D.) and that Vikrama had to make a treaty by virtue whereof Shalivahana became king of Southern Gujarat. The siege of Broach mentioned by Prabhavaka Charitra, if identified with this invasion by Shalivahana, may furnish us with a hint that the Installation-Ceremonies may have been then performed. This incident will be about the 56th to 60th year of Padlipta's life and Vikrama's rule. This would lead us to a further inference that after leaving Pataliputra Padlipta was more or less connected with Broach till he was 60. His connection with Aryakhaputacharya may have been one of the reasons of his long connection with Broach. It is probable that he then became acquainted with

King Krishna of Mannakhedapura and took up his abode there until invited by King Hala about 49 A. D. If the date of the siege of Broach is correct, Shalivahana mentioned must be Pulomavi I of the Shalivahana Dynasty who ruled from 12 B. C. to 21 A. D. He was the grandfather of King Hala and father of Arishtakarna.

CONCLUSION.

Before I conclude I have to mention that in preparing the text and noting the various readings in foot notes I had in the beginning before me three manuscripts क. ख. & ग. The first was a copy made by me personally from the original belonging to Shri-Vijaya-Siddhi-Suri which was procured for Shri-Jaya-Suri through the Devachand Lalbhai Pustakoddhara Fund. As it appeared to be a good manuscript with readings noted in some places in the margin, I used it as the basis of the present text. The press copy was prepared from my copy of the said manuscript. Both the manuscripts ख. & ग. as also घ. later on were procured for me by Mr. Jivanchand Shakarchand of the Devachand Lalbhai Pustakoddhara Fund, and I take this opportunity of expressing my thanks for his kind services. The manuscript ख. belongs to the Ananda-Pustakalaya, Surat, which is a collection by Shri Sagaranandasuri. This manuscript is as old as manuscript क. and bears date S. Y. 1852 Margashirsha Krishna 10th. It represents a different source from Mss. क. ग. & घ. The Ms. ग. belongs to Muni Shri Mohanlalji Jnana Bhandara, Surat. It is a quite recent copy and seems to have a common origin with Mss. क. & घ.

I am informed by Shri Jayasuri who has been chiefly instrumental in the publication of this work that the said manuscript ग. is a copy of a palm-leaf manuscript formerly in possession of Munishri Mohanlalji rgand preceptor of the said Shri Jayasuri. The Ms. घ. is newly written and belongs to Shri Vijaya-Siddhi-Suri. It appears to have a common origin with Ms. ख. The Ms. ड. is the best manuscript and is of common origin with manuscripts क. & ग. It was procured from Shri Hansavijayaji and has been ably corrected by him. The manuscript was procured from him by my enthusiastic friend Mr. Manilal Surajmal, and I thank them both for furnishing to me this really good manuscript. I also thank Shri Vijaya-Siddhi-Suri Sagaranand-Suri as also authorities of Muni Shri Mohanlalji-Jnana-Bhandara. My friends Messrs Keshavlal Premchand Modi and Mohanlal Dalichand Desai have been of great assistance to me, the former by supplying rare references to Padlipta-suri and the latter for many useful suggestions and by procuring a Photo-copy of Pálitta Chariyam from Kathavali. I may refer the Sanskrit readers to the Sanskrit Introduction by Pt. Ramapati-Mishra who has been for many years connected with Muni Shri Mohanlalji Sanskrit Pathshala, Bombay. In the end I have to mention that it is due to the great zeal of Shriman Jayasuri and his learned pupil Pratapa-Muui for publication of rare works that the present work comes to be the 5th of the series entitled "Muni Shri Mohanlalji Granthamala"

15 Dhanji St. Bombay No. 3.
February 1926.

MOHANLAL B. JHAVERY.

अर्हम्

विद्याधरवंशभूषणमणि–

श्रीमत्पादलिप्ताचार्यकृता

निर्वाणकलिका ।

ॐ नमो वीतरागाय ॥

वर्धमानं जिनं नत्वा समुद्धृत्य जिनागमात्। नित्यकर्म तथा दीक्षां प्रतिष्ठां च प्रचक्ष्महे ॥ १ ॥
प्रतिष्ठापद्धतिश्चैषा श्रीमत्पादलिप्तसूरिणा । भव्यानामुपकाराय स्पष्टार्थाऽऽख्यायतेऽधुना ॥ २ ॥

॥ अथ नित्यकर्मविधिः ॥

तत्रोपासको नमस्कारपूर्वमुत्थाय कृतावश्यको विशुद्धमृदा गुदलिङ्गादीन्प्रक्षाल्य गन्धलेपापनोदेन भाव-शौचं विधाय सकृत् मृदा पादौ हस्तौ च प्रक्षाल्य आचम्य जम्ब्वाम्रादिकाष्ठेन द्वादशाङ्गुलेन कनि-ष्ठया

१ प्रवक्ष्महे इति ग. पाठः । २ पालित्त इति क. पाठः, पालिप्त इति ख. पाठः, पादलिप्त इति ग. पाठः.

ष्ठाङ्गु[1]लिपरिणाहेन दन्तशुद्धिं विधाय स्नायात्। तत्र शुचिप्रदेशे[2] समुपविश्य मूलमन्त्राभिमन्त्रितकलशेष्वष्टसु नवसु वा तीर्थजलं संकल्प्य श्रीमज्जिनेशमनुस्मरन् स्नात्वा पश्चात्सुगन्धामलकादिना राजोपचारेण चोद्वर्तयेत्। ततो वामहस्ते[3] जलमादाय मूलमन्त्रेणाभिमन्त्र्य सोमसूर्यौ वामदक्षिणहस्तयोः संचिन्त्य मूलमन्त्रेणाञ्जलिमुद्रयात्मानमभिषिच्य शुद्धे वाससी परिधाय स्वीकृतसामान्यार्घपात्रहस्तो द्वारमस्त्रेण संप्रोक्ष्य ऊर्ध्वोदुम्बरे[4] यक्षेशलक्ष्म्यौ नाम्नाभ्यर्च्य अस्त्रमुद्रया कालगङ्गे महाकालयमुने आत्मनो वामदक्षिणशाखयोः स्वनाम्ना हृदानने संपूज्य विघ्ननिवारणाय[5] ज्वलन्नाराचास्त्र[6]प्रयोगेण पूजागृहस्यान्तः पुष्पं प्रक्षिप्य त्रिःपार्ष्णिघातैर्भौमान्, तालत्रयेणान्तरिक्षान्,छोटिकात्रयेण च दिव्यान्विघ्नान्निरस्य,किञ्चिदुत्तरशाखाश्रितो देहलीमस्पृशन् दक्षिणपादेनान्तः प्रविश्य देहल्यां विघ्ननिवारणाय पुष्पमस्त्रेण प्रक्षिप्य ब्रह्मस्थाने ॐवास्तोष्पतये ब्रह्मणे नमः इति ब्रह्माणमभ्यर्च्य प्रणवेनासनं सम्पूज्य तत्र प्राङ्मुख उदङ्मुखो वोपविश्यास्त्रप्राकारकवचावगुण्ठनाभ्यां पूजागृहं संरक्ष्य करशुद्धिं कुर्यात्। तत्र चन्दनलिप्तौ हस्तौ परस्पराघर्षणेन तलके पृष्ठे चास्त्रेण संशोध्य वौषडन्तेन मूलमन्त्रेणामृतीकृत्याङ्गुष्ठयोर्जिनान् तर्जन्योः सिद्धान् मध्यमयोराचार्यान् अनामिकयोरुपाध्यायान् कनिष्ठिकयोः साधून् विन्यस्य। ततोऽङ्गानि पृथिव्यादिभूतैः सह क्रमोत्क्रमविधिना संस्थाप्य परेण तेजसा संयोज्य कवचेना[7]व-

१ ऽङ्गुलीपरि इति क. ख. पाठः। २ भूमिप्रदेशे इति ग. पाठः। ३ हस्तेन इति ग. पाठः। ४ ऊर्ध्वेन्दुवार इति क. ख. पाठः। ५ निर्धारणायेति ख. ग. पाठः। ६ नाराचसुप्रयोगेण इति क. ख. पाठः। ७ नावमुच्य इति क. ख. पाठः।

गुण्ड्य सर्वकर्मसु नियोजयेत्। सर्वत्राप्याचमनादावनेनैव विधिना करशुद्धिं विदध्यात्। ततो भूतशुद्ध्यर्थं कर-
कच्छपिकां बध्वा कृष्णरूपं वायुं विरेच्य शुक्लेन दृतिवदात्मानमापूर्य संकुच्य पुनर्विरेच्य हृदये आत्मानमस्त्र-
कवचाभ्यां संरक्ष्य प्रथमपूरकार्धेन पार्थिवधारणया अधोमुखनवपादपरूपं शरीरं संचिन्त्य, द्वितीयार्धेन वारुण्या
पुष्पफलान्वितं संचिन्त्य, कुम्भकेनाग्नेय्यां शुष्कं दग्धं च रेचकार्धेन वायव्यां भस्मरूपमुद्धूयाऽपरेण नाभस्या सु-
शुद्धं व्योम भावयेत्। यद्वा हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यब्रह्मरन्ध्रेषु ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः यथाक्रमं बीजपञ्चकचिन्तनेन देहशुद्धिं
विधाय, ॐ विमलाय विमलचित्ताय वें वां क्ष्वीं क्ष्वीं अशुचिः शुचिर्भवामि स्वाहेति कुम्भमुद्रया स्नानं प्रकु-
र्यात्। तदनु ब्रह्मरन्ध्रललाटदक्षिणकर्णवामकर्णेषु तथा ललाटदक्षिणवामांसजानुद्वयेषु पूर्ववत् क्षित्यादीन् वि-
न्यस्य ततश्चाकाशबीजं सान्तं बिन्दुगुरुकलान्वितं सविसर्गं च कृत्वा हृद्वदनललाटशिरःशिखास्त्रेषु षड्विधमपि
विन्यस्यानन्तरं पादजानुनाभिहृन्मूर्धसु च पृथिव्यादिभूतपञ्चकं पूर्वक्रमेण विन्यसेदित्यङ्गन्यासं कृत्वा, तदनु
सिद्धमातृकाभङ्ग्या कुर्यात्। तत्र ॐकारं भ्रूयुग्मे। न नासावंशे। मः ओष्ठयुग्मे। सि कर्णपाल्योः। द्धं ग्रीवायां।
अ दक्षिणे शङ्खे। आ वामे। इ दक्षिणनेत्रे। ई वामे। उ दक्षिणकर्णे। ऊ वामे। ऋ दक्षिणकपोले। ॠ वामे। ऌ दक्षिण-
हनुनि। ॡ वामे। ए दक्षिणस्कन्धभागे। ऐ वामे। ओ अधोदन्तपङ्क्तौ। औ ऊर्ध्वदन्तपङ्क्तौ। अं चिबुके। अः नासान्तरे।
क दक्षिणांसे। ख दक्षिणभुजे। ग दक्षिणमणिबन्धे। घ हस्ते। ङ हस्ताङ्गुलिनखेषु। एवं चवर्गं वामबाहौ। ट दक्षिणक-

१ रूपवायुं इति क. पाठः। २ पां पां इति क. पाठः। ३ शिखांसेषु इति ग. पाठः।

टिविभागे। ठ दक्षिणोरुणि। ड दक्षिणजङ्घायां। ढ पादगुल्फे। ण पादाङ्गुलिषु। एवं तवर्गं वामपादविभागेषु। प दक्षिणकुक्षौ। फ वामकुक्षौ। ब पृष्ठवंशे। भ नाभौ। म हृदये। य त्वचि। र रक्ते। ल मांसे। व वसायां। श स्नायुनि। ष अस्थिषु। स शुक्रे। ह प्राणापानयोः। क्ष क्रोधक्षये। ×क वज्रकवचे। × प वज्रास्त्रे। भूतं दिक्षु विन्यसेदिति। यद्वा मातृकाकवचभङ्ग्या तत्र प्रणवादिबीजपञ्चकं पूर्ववदानने विन्यस्यानन्तरमेकोनपञ्चाशत् हृदये कल्पितपदेषु दक्षिणांसात् प्रभृत्यजादिवर्णमातृकाः प्रदक्षिणगतिना तावद्विन्यसेद्यावन्मध्यपदे शून्यमिति। ततो ळ दक्षिकर्णशष्कुल्यां। क्ष वामकर्णशष्कुल्यां। ×क दक्षिणकर्णपाशे। × प वामकर्णपाशेन्यसेदित्येवं मन्त्रमयं कवचं कृत्वा। हृदयं हृदि। शिरसि शिरः। शिखायां शिखा। कवचं सर्वगात्रेषु। अस्त्रं प्राच्यादिदिक्षु विन्यस्य। ॐ भूरसि भूतधात्रि सर्वभूतहिते विचित्रवर्णैरलङ्कृते देवि भूमि शुद्धिं कुरु कुरु स्वाहेति निरीक्षणविधिना स्थानशुद्धिं विधाय। हृदये पूजया। नाभौ होमेन। भ्रूमध्ये ध्यानेन। बाह्ययागवदन्तर्यागं कृत्वार्घपात्रमस्त्रेण प्रक्षाल्य बिन्दुध्यानादमृतरूपेणाम्भसा पुष्पदूर्वाक्षतोपेतेन मन्त्रसहितया प्रमृज्य सम्पूज्य च धेनुमुद्रया प्रबोध्य वर्मणावगुण्ठ्य ततोऽपि चात्मानं मूर्धन्यभिषिच्य पुष्पादिवस्त्रजातं शुद्ध्यर्थमस्त्रेण सम्प्रोक्ष्य कवचेनाभ्युक्ष्य हृदयेनाभिमन्त्र्य चन्दनेन तिलकं कृत्वा स्वशिरसि मूलमन्त्रेण पुष्पमारोपयेत्। ततो यथाभिमतं मौनं कृत्वा [1]प्लुतमात्रोचारेण मन्त्रशुद्धिं विधाय पूर्वदत्तपुष्पाण्यस्त्रेणापनीय ईशान्यां निक्षिप्यास्त्रवारिणा प्रक्षालनेन देवशुद्धिं विदध्यात्। सर्वत्राप्यात्माश्रयद्र-

१ प्लुतमन्त्रोच्चारेण इति ग. पाठः।

पूजयेत्। तत्र पीठस्याग्रे ॐगुरुभ्यो नमः। ॐपरमगुरुभ्योनमः। सामान्यमन्त्रदेवाङ्गपञ्चकशुद्ध्यनन्तरं श्रीमज्जिनेशं पूजयेत्। ततः पुष्पैरञ्जलिमापूर्य ॐ ह्रां अर्हन्मूर्तये नमः इति मूर्तिं विन्यस्य शेषाश्च सिद्धादिमूर्तीर्यथावद्विनिवेशयेत्। पुनरञ्जलिमापूर्य बद्धपद्मासनं स्निग्धच्छायमष्टप्रातिहार्योपेतं द्वादशगणसमन्वितं चतुर्मुखं ज्ञानशक्तियुक्तं संचिन्त्य ॐ ह्रां विद्यादेहाय नमः इति विद्यादेहं विन्यसेत्। पुनरञ्जलिमापूर्य एह्येहि संवौषडन्तं मूलमन्त्रमुच्चार्य स्फुरद्रश्मिमण्डलं द्वादशान्तं नीत्वा तन्मयीभूय विन्दुस्थानेऽभ्युदितं ध्यात्वा तस्मादादाय स्थिरबुद्धिरावाहनमुद्रया समावाह्य प्राणं यथा तिष्ठतिष्ठ ठान्तद्वययुक्तेन मूलमन्त्रेण देवमूर्तौ स्थापन्या संस्थाप्य तेनैव वषडन्तेन सन्निधापन्या सन्निधाप्य अत्रैव पूजान्तं यावत् स्थातव्यमिति तेनैव निष्ठुरतया निरोध्य स्वमुद्रां प्रदर्श्य देवाभिमुखं पादयोरर्घं पाद्यं च हृदयेन देवाय दत्त्वा स्वागतं कृत्वा निर्मज्जनाभ्यञ्जनोद्वर्तनस्नानादीनि विधाय स्नपनार्थं कनकादिकुम्भानाहृत्य निरीक्ष्याभ्युक्ष्य संताड्य संप्रोक्ष्य चास्त्रेण स्नानोदकभाण्डेषु तीर्थजलं संकल्प्य अस्त्रेण कुम्भात्तोयं वस्त्रं च प्रक्षाल्य गालिताम्भसा हृदयेनापूर्य प्रत्येकमेकैकं पुष्पं दत्त्वार्घोदकबिन्दुं च क्षिप्त्वा तैर्देवं स्नापयेत्। ततो घृतदुग्धदधिसर्वौषधिगन्धकुङ्कुमचन्दनादिभिर्जलधूपान्तरितैः सर्वाङ्गान्यमस्तकं मूलमन्त्रेण संस्नाप्य शुद्धवाससा निर्मृज्य पाद्यमादौ दत्त्वा शिरसि चार्घं दद्यात्॥ छ ॥

१ ताड्य अस्त्रेण इति क. ख. पाठः। २ तीर्थं संकल्प्य इति ख. ग. पाठः।

॥ ३ ॥ ततः पुनरासनादारभ्य वस्त्रविलेपनाद्यलङ्कारशुद्धसुरभिनानापुष्पैः ॐ ह्रीं अर्हद्भ्यो नमः इति सम्पूज्य । ॐ ह्रां हृदयाय नमः । ॐ ह्रीं शिरसे नमः । ॐ ह्रूं शिखायै नमः । ॐ ह्रौं कवचाय नमः। ॐ ह्रः अस्त्राय फडिति मङ्गलपूर्वाणि जिनाङ्गेषु सम्पूज्याग्नेयैशान्यनैर्ऋत्य[1]वायव्येषु हृच्छिरःशिखाकवचानि संपूज्य पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरेषु अस्त्रं पूजयित्वा हृदयादीनां धेनुं नेत्रस्य गोवृषामस्त्रस्य त्रासनीमिति प्रदर्श्य । ॐ ह्रीं सिद्धेभ्यो नमः प्राच्याम् । ॐ ह्रूं आचार्येभ्यो नमः दक्षिणायाम् । ॐ ह्रौं उपाध्यायेभ्यो नमः वारुण्याम्[2] । ॐ ह्रः सर्वसाधुभ्यो नमः उत्तरायां । ॐ ज्ञानाय नमः ईशान्यां । ॐ दर्शनाय नमः आग्नेय्यां। ॐ चारित्राय नमः नैर्ऋत्यां। ॐ शुचिविद्यायै नमः वायव्यां। ॐ ह्रीं सरस्वत्यै नमः दक्षिणभागे । ॐ ह्रीं शान्तिदेव्यै नमः वामभागे । इत्यनेन विधिना कर्णिकायां सम्पूज्य प्रणवादिनमोन्तं केसरेषु मातृकागणं प्रपूजयेत् । ततः पूर्वादिपत्रेषु जयादिदेवताचतुष्कं पूजयेत् । आग्नेयादिषु जृम्भाचतुष्कं प्रणवादिनमोन्तैः स्वनामभिरभ्यर्च्य पाशाङ्कुशध्वजवरदमुद्राचतुष्टयं जयादीनां प्रदर्शयेत् । ततो द्वितीयवलये पूर्वादिदलेषु । ॐ यां रोहिण्यै अं नमः । ॐ रां प्रज्ञप्त्यै आं नमः। ॐ लां वज्रशृङ्खलायै इं नमः । ॐ वां वज्राङ्कुश्यै ईं नमः । ॐ शां अप्रतिचक्रायै उं नमः। ॐ षां पुरुषदत्तायै ऊं नमः । ॐ सां काल्यै ऋं नमः । ॐ हां महाकाल्यै ॠं नमः । ॐ यूं गौर्यै ऌं नमः। ॐ रूं गान्धार्यै ॡं नमः । ॐ लूं सर्वास्त्रमहाज्वालायै एं नमः। ॐ वूं मानव्यै ऐं नमः। ॐ शूं वैरोट्यायै ओं नमः। ॐ षूं अच्छुप्तायै औं ॥ ३ ॥

१ नैरृत इति ग. पाठः । २ याम्यां, अत्रैव सर्वादर्शेषु वारुण्यामग्रे च याम्यामिति दृश्यते परं दिक्क्रमानुरोधेनास्माभिर्यथाक्रमं विपर्यस्तः पाठः।

नमः। ॐस्रूं मानस्यै अं नमः। ॐह्रूं महामानस्यै अः नमः। इति विद्याषोडशकं स्वमन्त्रमुद्राभिरभ्यर्चयेत्। तासां च मुद्रास्तथथा—शङ्खः शक्तिस्तथा ज्ञेया शृङ्खला वज्रमेव च। चक्रं पद्मं गदा घण्टा कुण्डिका मुशलं तथा॥१॥परशुश्च तथा वृक्षः सर्पः खड्गं तथैव च। ज्वाला च श्रीमणिश्चैव मुद्रा ह्येता यथाक्रमम् ॥२॥ तदनु तृतीयवलके पत्राष्टके ॐलं अ इन्द्राय नमः। ॐरं क अग्नये नमः। ॐशं च यमाय नमः। ॐपं ट नैर्ऋतये नमः। ॐवं त वरुणाय नमः। ॐयं प वायवे नमः। ॐसं य कुबेराय नमः। ॐहं स ईशानाय नमः। ॐनागाय नमः। ॐब्रह्मणे नमः। पुनः पूर्वदलोभयपार्श्वदलेषु पूजयेत्। वज्रमिन्द्रस्य विज्ञेयं शक्तिर्वैश्वानरस्य च। यमस्य दण्डो विज्ञेयो नैर्ऋतेः खड्गमेव च ॥१॥ वरुणस्य च वै पाशः पवनस्य तथा ध्वजः। कुवेरस्य गदा ज्ञेया त्रिशूलं शङ्करस्य च॥२॥ एता यथाक्रममिन्द्रादीनां प्रदर्श्य। ॐआदित्याय नमः पूर्वदले। ॐसोमाय नमः वायव्यदले । ॐअङ्गाराय नमः याम्यदले। ॐबुधाय नमः उत्तरदले। ॐबृहस्पतये नमः ईशानदले। ॐशुक्राय नमः आग्नेयदले। ॐशनैश्चराय नमः पश्चिमदले। ॐराहवे नमः नैर्ऋतदले। ॐकेतवे नमः पुनः पूर्वदले इत्यनेन विधिना दूर्वादध्यक्षतादिभिर्ग्रहनवकं संपूज्य। ॐक्षं क्षेत्रपालाय नमः। ॐक्षां क्षेत्राधिदेवतायै नमः। इति मण्डलस्य बाह्यकक्षायां दक्षिणवामभागयोरर्चयेत्। ततो मायाबीजेन त्रिधा मण्डलमावेष्ट्याङ्कुशेन निरोधयेत्। ततः पार्थिवमण्डलवारुणमण्डलवायुमण्डलत्रयं दत्त्वा गन्धपुष्पाक्षतादिभिः सम्पूज्य धूपभाजनमस्त्रेण संप्रोक्ष्य वर्मणावगुण्ठ्य हृदयेनाभ्यर्च्यामृतमुद्रया प्रबोध्य घण्टामस्त्रेण सम्पूज्य वादयन् स्वाहान्तेन हृदा धूपनैवेद्यताम्बूलादिकं दत्त्वा दूर्वाक्षतश्वेतसर्षपान्

देवस्य शिरसि समारोप्यारात्रिकमुत्तार्य मङ्गलप्रदीपं दत्त्वा यथाशक्ति जपं कुर्यात् ॥ स च त्रिविधो मानसो-पांशु-भाष्यभेदात् । तत्र मानसो मनोमात्रवृत्तिनिर्वृत्तः स्वसंवेद्यः। उपांशुस्तु परैरश्रूयमाणोऽन्तःसंजल्परूपः । यस्तु परैः श्रूयते स भाष्यः । अयं यथाक्रममुत्तममध्यमाधमसिद्धिषु शान्तिपुष्ट्यभिचारादिरूपासु नियोज्यः । मानसस्य यत्नसाध्यत्वाद्भाष्यस्याधमसिद्धिफलत्वादुपांशुः साधारणत्वात्प्रयोज्यः । त्रिविधोऽपि न द्रुतो न विलम्बितो नास्पष्टाक्षरो नान्यमनसा कर्तव्यः । नित्यनैमित्तिकेषु प्राङ्मुखेनोदङ्मुखेनैकचित्तेन कार्यः । काम्येषु कामानुसारेणाभिचारादावमुखेनापि विधेयः। नित्यकर्मणि चाष्टशतं तदर्धं पादं वा जपेत् । तत्रैकतमं यथाशक्ति जपं विधाय कुशपुष्पचन्दनाक्षतमिश्रेण गन्धोदकचुलुकत्रयेण शान्तये त्रिभिः श्लोकैर्ममास्तु फलसाधकमिति निवेदयन्-गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्। सिद्धिर्भवति मे येन त्वत्प्रसादात्त्वयि स्थिते ॥१॥ यत्किञ्चित्कुर्महे देव सदा सुकृतदुष्कृतम्। तन्मे निजपदस्थस्य हुंक्षः क्षपय त्वं जिन ॥ २ ॥ जिनो दाता जिनो भोक्ता जिनः सर्वमिदं जगत्। जिनो जयति सर्वत्र यो जिनः सोऽहमेव च ॥३॥ इत्येवं जपं पूजामात्मानं च भक्त्या देवाय विनिवेद्य विचित्रस्तुतिभिः स्तुत्वा नमस्कारमुद्रया नमस्कारं विदध्यात्। ततो हृत्कमलकर्णिकायां तेजोमयं ज्ञानशक्तिसमन्वितं शान्तं विचिन्त्य मनो वायुतत्त्वं चैकीकृत्याविभागेन विभाव्यम्। तत् ज्ञानशक्त्या हृद्गलतालुब्रह्मरन्ध्राणि संशोध्य भ्रूमध्यं नीत्वा तत्रस्थं चतुर्मुखमष्टप्रातिहार्योपेतं धर्मार्थकामजनकमणिमादिगुणैश्वर्यप्रवर्तकं जातिजरामरणविनाशकं निरामयमर्हद्भट्टारकं ध्यायेत्। तदनु सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं यावदणुमात्रम्।

नि:प्रकम्पो
तनश्चात्मनि विलयं नीत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् किन्तु नासाग्रनिहितदृष्टिः किञ्चिद्विवृतास्यो निःप्रकम्पो
भूतकुम्भवत्तिष्ठेत् । तथाच । स्थानं तदन्यदेवास्ति गुरुवक्त्रादवाप्यते । यत्र नीत्वा मनो योगी निर्मनस्कत्वमा-
प्नुयात् ॥ १ ॥ न मनो न च मन्तव्यं ममतां भावयेद्यदा । निर्मनस्केन योगेन भवेद्योगीश्वरस्तदा ॥ २ ॥ तस्या-
मवस्थायां न शृणोति न पश्यति । न मनः क्षुत्पिपासादिभिरभिभूयते । न व्यालवेतालादयो हिंसन्ति । न बध्यते
घनकर्मबन्धनैः । एवमचिरादेव क्षीणप्रायकर्ममलः क्रमेण मोक्षमाप्नुयादित्यनेन विधिना ध्यानं विधायाष्टपुष्पिकां
जिनेशाय दद्यात् । तद्यथा ॐस्थिरतात्मने अवनिमूर्तये नमः ॥१॥ ॐनित्यात्मने व्योममूर्तये नमः ॥२॥ ॐते-
जोमयात्मने दहनमूर्तये नमः ॥३॥ ॐनिःसङ्गात्मने पवनमूर्तये नमः ॥४॥ ॐगाम्भीर्यात्मने आप्यमूर्तये नमः॥५॥
ॐधर्मात्मने आत्ममूर्तये नमः ॥६॥ ॐज्ञानात्मने तपनमूर्तये नमः ॥७॥ ॐसौम्यात्मने सोममूर्तये नमः । इति
जगद्व्यापकमर्हन्मूर्त्यष्टकं सम्पूज्य चन्दनेन तिलकं कृत्वा स्वशिरसि मूलमन्त्रेण पुष्पं विनिक्षिपेत् । विसर्ज-
नार्थमर्घ्यं दत्वा संहारमुद्रया स्वस्थाने गच्छगच्छेत्यनेन मूलमन्त्रेण पूजां द्वादशान्तमानीय शिरस्यारोप्य पूर-
केण हृत्कमले संयोज्य सापेक्षं क्षमस्वेति विसर्जयेत् । पर्वसु च विशेषपूजां कुर्यात् । ततः देवा देवार्चनार्थं ये पुरा-
हूताश्चतुर्विधाः । ते विधायार्हतः पूजां यान्तु सर्वे यथागताः ॥ इति गन्धं पुष्पं धूपं च दर्शयित्वा रेचकेन संहार-
मुद्रया विसर्ज्य । पत्रिकामीशान्यां प्रक्षिप्यार्घपात्राम्भसा पट्टं प्रक्षाल्योपरि पुष्पमेकं दत्त्वा समुत्थाय गृहमध्ये

१ दत्त्वा इति क॰ पाठः ।

वृत्तमण्डलकं विधाय गन्धपुष्पधूपनैवेद्यादिकं दत्त्वा ॐवास्तोष्पतये ब्रह्मणे नमः। इति वास्तुं सम्पूज्य मध्यस्तम्भाधः ॐस्कन्दाय गृहाधिपतये नमः। शयनीयशिरसि ॐकामाय कुसुमायुधाय नमः। गृहप्रधानपट्टे ॐश्रीं-भवनदेवतायै नमः। गृहप्रधानद्वारे ॐमहायक्षराजाय नमः। इति गृहदेवतागणं पूजयेत्। ततो मध्याह्ने पुनरपि भट्टारकं सम्पूज्य सर्वमन्नं पात्रे समाहृत्य गृहदेवताभ्यो बलिं दत्त्वा बहिर्निर्गत्य दिग्देवताभ्यः ॐह्रीं इन्द्र प्रतिगृह्ण नमः। ॐह्रीं ऐन्द्रि प्रतिगृह्ण नमः। एवं शेषा अपि अग्नये आग्नेय्यै यमाय याम्यै नैर्ऋतये नैर्ऋत्यै वरुणाय वारुण्यै वायवे वायव्यै कुबेराय कौबेर्यै ईशानाय ईशान्यै नागाय नागमात्रे ब्रह्मणे ब्रह्माण्यै नमः। इति पुष्पगन्धधूपसहितं बलिं दद्यात्। तदनु–योगिन्यो भीषणा रौद्रा देवताः क्षेत्ररक्षकाः। आगत्य प्रतिगृह्णन्तु जिनेष्टानुविधायिनः ॥ १ ॥ ये रुद्रा रुद्रकर्माणो रौद्रस्थाननिवासिनः। सौम्याश्चैव तु ये केचित्सौम्यस्थाननिवासिनः ॥२॥ सर्वे सुप्रीतमनसः प्रतिगृह्णन्त्विमं बलिम्। सिद्धिं यच्छन्तु नः क्षिप्रं भयेभ्यः पान्तु नित्यशः॥३॥ इत्यनेन मन्त्रेण बलिं प्रक्षिप्य गन्धपुष्पान्वितं शेषमन्नं भूमौ निक्षिपेत्। ततो हस्तौ पादौ च प्रक्षाल्याचामेदिति॥

इति निर्वाणकलिकाभिधानायां प्रतिष्ठापद्धतौ नित्यकर्मविधिः समाप्तः ॥

॥ अथ दीक्षाविधिः ॥

तत्राचार्यः कृतावश्यको देववन्दनादिकं कर्म कृत्वा पूजागृहमुपविश्य आत्मनो रक्षां विधाय भगवन्तं सम्पूज्य क्षेत्रपालानां बलिं दत्त्वा निर्वर्तितशान्तिकर्मविधिः मण्डपाद्बहिर्मण्डलके शिष्यं समुपवेश्य दन्तधावनं

मुखवासं च दद्यात् । दन्तधावनविधिः प्रातः प्रागुदगीशानपश्चिमेषु शस्तः अन्यत्र कृते शान्तिकर्म कुर्यात् । ततो रात्रावपि वासनामन्त्रेण त्रिपञ्चसप्तवारान् अधिवास्य शुद्धायां भूमौ दर्भशयने अस्त्रशतालम्भे प्राचीने मस्तके हृन्मन्त्रेण शिष्यं समारोप्य शिखया बद्धशिखं विधाय धर्मजसवाससा प्रच्छाद्य शाययेत् । शयनीयस्य बहिर्भस्मसर्षपशिरोस्त्राभिमन्त्रितैस्तिस्रो रेखाः कृत्वा भूतबलिं दत्त्वा स्वयमप्युपोषितो भूत्वा दीक्षितैः सह शयीत। ततः प्रातरुत्थाय समाप्तनित्यकर्मविधिः शिष्यानाहूय स्वप्नदर्शनं पृष्ट्वा अशुभे शान्तिकर्म कृत्वा शुभे तु विशेषपूजापुरःसरं मण्डलेषु मन्त्रान् सम्पूजयेत्। तत्र मण्डलानि सर्वतोभद्रादीनि। तत्र सर्वतोभद्रस्य मुख्यत्वात्त-द्वेवोच्यते। तस्मिन् चतुरस्रं क्षेत्रं साधयेत्। शुद्धां दर्पणोदराकृतिं भुवं निष्पाद्य पुष्यपौष्णमघावेधान् मण्डलस्य-शङ्कुच्छायाप्रवेशनिर्गमाभ्यां वा पूर्वापरे संसाध्य पूर्वापरायतं सूत्रमास्फाल्य ब्रह्मस्थानं सङ्कल्प्य तस्मात्पूर्वापर-गतं समान्तरमङ्कद्वयं दत्त्वा तत्समं तत्र पूर्वयोरङ्कयोर्धृत्वा दक्षिणोत्तरमत्स्यद्वयं सम्पाद्य मत्स्योदरे दक्षिणोत्तराय-तं सूत्रं प्रसार्य ततः क्षेत्रार्धमानेन मध्यादिष्टाङ्कं विधाय तदङ्कसमसूत्रेण विदिक्षु त्वनुलोमविलोमतो मत्स्यचतुष्कं दत्त्वा तेषु सूत्रचतुष्टयदानात् चतुरस्रं संसाध्य ततो मण्डलं विदध्यात्। तत्र चतुरस्रमष्टधा विभज्य चतुःप-त्रिपदं कृत्वा मध्यकोष्ठकचतुष्टये पद्मं सम्पाद्य तदनु पङ्क्तौ पद्मार्धेन वीथीवदनन्तरं पक्षयोश्चतुर्दिक्षु पद्मासनानि चत्वारि द्वाराणि द्वारार्धमानात् कण्ठोपकण्ठं कपोलोपकपोलौ कुर्यात्। एवं विभज्य ब्रह्मस्थानात् सूत्रभ्रमेण

१ मुपवासं इति क. ख. पाठः ।

अङ्गुलानि चत्वारि वृत्तानि कृत्वा दिक्षु विदिक्षु तत्सन्धिषु सन्ध्यन्तरेषु च द्वात्रिंशत्सूत्राणि दत्त्वा तृतीयवृत्ते सन्ध्यन्तरसूत्राद्बहिः पार्श्वभ्रमणात् षोडशार्धं चन्द्रं कृत्वा दिक्षु विदिक्षु अर्धचन्द्रद्वयं मध्ये चतुर्थवृत्ते दलाग्राणि तृतीयवृत्ते दलसन्धीन् द्वितीयवृत्ते केसराग्राणि प्रथमवृत्ते तद्वृत्तप्रमाणां पीतां कर्णिकां तन्मध्ये नीलवर्णानि नव बीजानि मूलमध्याग्रेषु शुक्लरक्तपीतं केसरजालं दलानि प्रवारणया सह शुक्लवर्णानीति पद्मं निष्पादयेत्। तत्रोत्पन्नतद्दलाग्रं भुक्तिकामस्य प्राञ्जलं मुक्तिकामस्य सरादियोगे तीक्ष्णाग्रम् । दिक्पालानां अधराग्रं सरस्वत्यम्बिकादीनां अश्वत्थपत्रवद्दलं विधेयं कर्णिकार्धसमम्। बहिःपीठे नीलसन्धानकीलकोपेतं श्वेतपीतरक्तकृष्णपादकं विचित्रगात्रकं विधाय तद्बहिर्वीथीषु त्रीन् द्वारार्धेन द्वारकण्ठान्तं ततो दक्षिणोत्तरनिःसृतं तावदेवोपकण्ठं तदूर्ध्वं तावदेव कपोलं तस्माद्दक्षिणोत्तरमन्तःसम्मुखं तावदेवोपकपोलं तद्बहिः शुक्लरक्तकृष्णरेखात्रयं सत्वरजस्तमोरूपं कृत्वा एताश्च रेखाः प्रथमा अङ्गुलप्रमाणाः अन्ये तु यवोने यवान्तराश्च सर्वा मुक्तिकामस्य भुक्तिकामस्य च समाः कार्याः। द्वारकण्ठोपकण्ठकपोलोपकपोलरेखां संरक्ष्य प्रतिकोणं शेषरेखाः परिलोपयेत्। सर्वतोभद्रसर्वमण्डलेषु पद्मद्वाराण्यनेनैव मार्गेण स्युरिति । शालिपिष्टेन श्वेतं तदेव हरिद्रान्वितं पीतं सिन्दूरधात्विष्टकादिना रक्तं दग्धजवादिना कृष्णं शुष्कशमीपत्रादिना नीलं तद्वर्णकार्थं रजः कार्यम् । विशेषसिद्धिकामो मुक्ताविद्रुमादिना एतदेव कुर्यात् एतन्मण्डलं निष्पाद्य सपरिकरं भगवन्तं सम्पूज्य द्वारे मण्डलं विधाय प्रणवेनासनं दत्त्वा शिष्यमूर्ध्वकायमुदङ्मुखं कृताञ्जलिं सन्निवेश्य स्वयं प्राग्वदनो मूलमन्त्रा-

॥ ६ ॥

मिमस्त्रिनेन शान्तिकुम्भाम्भसा स्नापयेत्। पुष्पाक्षतादिना मुद्रास्त्रेण सन्ताड्य दूर्वाप्रवालेन नाभेरूर्ध्वमधश्च शिखा समुल्लिख्य अस्त्रप्रोक्षितकवचावगुण्ठनहृदयसंस्कृतवाससा सर्वाङ्गमाच्छाद्य पूजागृहं प्रवेश्य पुष्पाञ्जलिक्षेपं कारयित्वा भगवन्तं दर्शयेत्। तदनु भगवतो दक्षिणदिग्भागमण्डलके प्रणवासनं दत्त्वा तत्रोपविश्य धारणादिभिर्देहशुद्धिं सकलीकरणं च कृत्वा निजहस्ते मन्त्रान्संपूज्य तेजोरूपान् ध्यात्वा शिष्यमस्तके सन्निवेश्य मूलमन्त्रं समुच्चरन् सर्वाङ्गालंभनं विदध्यात्। तदन्वस्त्रेण प्रोक्षणताडने विधाय रेचकेन शिष्यदेहे सम्प्रवेश्य सुविश्लेषच्छदा वस्त्रेण संपिधाय अङ्कुशमुद्रया तच्चैतन्यमाकृष्य द्वादशान्ते समानीय संहारमुद्रया स्वहृदये पूरकेण प्रवेश्य कुम्भकेन समरसीकृत्य रेचकेन ब्रह्मादिदेवताः संचिन्त्य द्वादशान्तमानीय सुषुम्नायां नाडीप्राणवायूनेकीभूतान् संचिन्त्य तत्र शिष्यचैतन्यं शुद्धस्फटिकप्रख्यं सम्भाव्य जिह्वां तालुके संयोज्य ईषद्व्यावृतवक्त्रे दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् समुन्नतकायो मन्त्रमुच्चार्य श्रोत्रविवरेण स्वकीयप्राणेन सह मूलमन्त्रं शिष्यस्य हृदि सन्निवेशयेत्। ततः शिष्यः स्वहस्तेन भगवन्तं सम्पूज्य नैवेद्यादिकं दत्त्वा गुरवे सुवर्णं दक्षिणां दद्यात्। एवं समयसंस्कारसंस्कृतः पूजाहोमश्रवणाध्ययनादिषु योग्यः स्याज्जैनं च पदं लभत[1] इति। ततोऽर्घपात्रोदकेनाभिषिच्याष्टौ समयान् श्रावयेत्। देवगुरुच्छात्रसाधकादिभक्तेन भवितव्यम् १। प्राणिनं न हन्यात् २। अनृतं न [2]भापयेत् ३। परस्य द्रव्यं न गृह्णीयात् ४। परस्त्रीं न कामयेत् ५। नियतपरिग्रहेण भवितव्यम् ६। रात्रौ

१ लम्भतं इति पाठः। २ भाषेत इति पाठः।

शि. स. २

नाश्नीयात् ७। मद्यमांसादिकं न भक्षयेत् ८। गुरोराज्ञां न लङ्घयेत् इति समयाचारांश्च तत्र मन्त्रतन्त्रकल्पानदीक्षितान्न श्रावयेत्। नापि तत्पार्श्वाल्लेखयेत्। अज्ञानस्वरूपं[1] न दीक्षयेत्। त्रिर्द्विरेककालं वा भगवन्तं पूजयेत्। नमस्कारं च जपेत्। देवगुरुयतीनामनिवेद्य नाश्नीयात्। यथाशक्ति अतिथिदीनानाथकृपणेभ्योऽन्नादिकमनुकम्पया दद्यात्। पर्वसु विशेषपूजां गुरौ जिने च कुर्यात्। आचार्यादीन् सदा भजेत्। अष्टमीचतुर्दशीपञ्चदशीषु च स्त्रीतैलक्षुरकर्म वर्जयेत् चतुर्थमेकभक्तं वा कुर्यात्। कन्यायोनिं गोयोनिं नग्नां प्रकटस्तनीं च स्त्रीं न पश्येत्। भीतत्रस्ताध्वखिन्नविह्वलरोगिसमयज्ञजिनभक्तांश्च पालयेत्। देवद्रव्यं गुरुद्रव्यं न भक्षयेत्। स्मशानचत्वरैकवृक्षशून्यवेश्मदेवतादिगृहेषु मूत्राद्युत्सर्गं न कारयेदिति। निन्दितैः सह संसर्गादिकं वर्जयेत्। ततो भगवन्तं सम्पूज्य मण्डलपूजादिकं पूर्ववद्विसर्ज्य तपोधनवर्गं साधर्मिकवर्गं च भोजयेत्। ततो गच्छं सङ्घं च स्वशक्त्या वस्त्रादिदानादिना सम्पूज्य दीनानाथादिदानं कृपया दापयेत्। इत्येवमुत्तरोत्तराध्यवसाययुक्तेन कल्याणिना प्रतिदिनं प्रवर्तितव्यम्। इति दीक्षाविधिः ॥

॥ अथाचार्याभिषेकः ॥

आभिषेकिकनक्षत्रे स्वानुकूले सतारे चन्द्रे षट्त्रिंशद्गुणालङ्कृतस्य श्रुतशीलगुणाचारसम्पन्नस्य कुर्यात्। तत्र दिक्पालानां बलिं दत्वा शुभेऽह्नि मङ्गलपूर्वकमविधवानारीभिस्तैलादिकर्मविधिना वर्णकं समारोप्य द्वादशाहं

१ अज्ञानरूपं इति क. पाठः। २ अध्वनि इति क. पाठः।

द्व्याहं वा श्रीराम्लभोजिनं पञ्चनमस्कारजपनिरतं शिष्यं विधाय आसन्नलग्नदिने संध्यायां व्याघाताद्येकतमं कालं संशोध्य प्रातरुत्थाय शुद्धकालं प्रवेश्य स्वाध्यायं प्रस्थाप्य ततश्चैशान्यां मण्डपवेदिकायां चतुर्हस्तं रजोभिश्च पञ्चवर्णैरुपशोभितं मध्यलिखितद्वात्रिंशदङ्गुलं शुक्लपद्मं द्वात्रिंशदङ्गुलायामं षोडशाङ्गुलं विस्तृतावाहनीयद्वारा- भिमुखसर्वरजोमुक्तपादपीठसहितं बाह्यचित्रवल्लीद्वारमक्षकोणस्थकन्दुकाद्युपशोभितं स्वस्वदिक्स्थावाहनीय- द्वारपूर्वदिग्वाश्रितद्वारं वा मण्डलमालिखेत्। तत्र वीथ्यन्तर्गतान् पूर्वादिक्रमेण शुक्लरजसाऽष्टौ शङ्खान् आ- नन्द-सुनन्द-नन्दि-नन्दिवर्धन-श्रीमुख-विजय-तार-सुतार-संज्ञान् सुभद्र-विजयभद्र-सुदन्त-पुष्पदन्त- जय-विजय-कुम्भ-पूर्णकुम्भसंज्ञांश्च तथाविधान् कुम्भानालिखेत्। मण्डलस्योपरि धवलं विचित्रं वा किङ्कि- णीघण्टायुक्तं मुक्ताजालगवाक्षकोपेतं मणिदामोपशोभितं सचामरपट्टवस्त्रोपेतं लम्बमानप्रतिसरकन्दुकाद्यल- ङ्कृतं वितानकं विदधीत। मण्डपस्याभ्यन्तरं क्वचित्पद्मिनीपत्रसंछन्नमन्तरालेषु बहिश्च गौरसर्षपलाजाखण्डत- ण्डुलयवदूर्वाकाण्डरजोभिश्च विचित्रं कुर्यात्। तोरणं चास्य ध्वजाङ्कुशचीरै[3]मण्डितं चन्दनमालायुक्तं पूर्वस्यां न्यग्रोधं, दक्षिणस्यामौदुम्बरं, पश्चिमायामाश्वत्थं, उत्तरस्यां प्लाक्षं, विनिवेश्य विदिक्षु प्रशस्तद्रुमजातानि च निवेशयेत्। शङ्खान् कलशांश्च मूर्तिमतो गोरोचनारचितस्वस्तिकाष्टकार्चितकण्ठान् सर्वरत्नैः सर्वबीजैः सर्वौषधिगन्धैरद्भिश्च पूरितान् वस्त्रस्रग्दामकण्ठान् चन्दनोपलेपितान् शतकृत्वोऽभिमन्त्रितान् पीठिकाया

१ विभद्र इति ग. पाठः। २ जय इति ग. पाठः। ३ चारमंडितं इति ग. पाठः। ४ नैयग्रोधं इति पार्श्वपाठः। ५ कृत्वाभि इति क. ग. पाठः।

बहिर्दिक्षु विदिक्षु च स्थापयेत्। तत्रायत आनन्दः। नात्यायतः सुनन्दः। महाकुक्षिर्नन्दी। सुनाभिर्नन्दिवर्धनः। ह्रस्वनाभिः श्रीमुखः। नाभिमण्डली विजयः। सुनिर्घोषस्तारः। उच्चस्वनः सुतारश्चेति। कलशाश्च–मन्थरसुभद्रः। किञ्चिदुन्नतो विभद्रः। पृथुलोष्ठः सुदन्तः। ह्रस्वोष्ठः पुष्पदन्तः। मन्थरग्रीवो जयः। शोभनग्रीवो विजयः इति मण्डलस्योत्तरे[1] दुःस्वरं[2] सदशाहतसितवस्त्रच्छन्नं भद्रासनं विन्यस्य तस्मिन् शिष्यं शङ्खतूर्यवीणावेणुस्वस्तिपुण्याहमङ्गलध्वनिभिः कृतमङ्गलं पूर्वद्वाराभिमुखं समुपवेश्य जातबीजशरावैश्चित्रमुखैर्गुणैरङ्गलिकारकैर्नागैरभिन्नपुटकोकाभिर्निर्मृश्य वल्मीकाग्र–पर्वताग्र–नदीतीर–महानदीसंगम–कुशबिल्वमूल–चतुष्पथ–दन्तिदन्त–गोशृङ्ग–एकवृक्षगृहीताभिर्मृद्भिः प्रथमं, तदनु पञ्चामृतेन, ततो वासचन्दनपञ्चपल्लवकषायैः सर्वगन्धैश्च संस्नाप्य प्रदक्षिणोपनीतैः पूर्वविन्यस्तकुम्भैराचार्यमन्त्रमनुस्मरन्नभिषिञ्चेत्। ततः स्नानवस्त्रं परित्यज्य शुक्ले वाससी परिधाय्याखण्डतण्डुलैः स्नापयेत्। तैश्च प्रवृद्धैः प्रवृद्धां समैः समां हीनैश्च हीनामुन्नतिं जानीयात्। तदनु मूलमण्डपवेदिकायां पञ्चवर्णेन रजसा रत्नकाञ्चनरजतमयप्राकारत्रयोपेतं गोपुर–चतुष्कालङ्कृतं तोरण–ध्वज–पुष्करिणीपुष्प–प्राकारोपशोभितं समवसरणमालिख्य मध्ये च पद्मरागादिभिर्निर्मिते मृगाधिपासने चतुर्मुखमष्टप्रातिहार्योपेतं भगवन्तं संस्थाप्य वेदीयवारकवितानकपुष्पगृहादिकं पूर्ववत्कृत्वा शिष्यं तत्रानीय सकलिकां विधाय मन्त्रैरालभ्य मुक्तपुष्पैः सम्पूज्यालङ्कारैरलङ्कृत्याक्षतानाचार्यमन्त्रेणाभिमयानुय-

१ स्यान्तरे इति ग. पाठः। २ सुनृदुःस्वरं इति क. ख. पाठः।

योगगणानुज्ञार्थं चैत्यवन्दनं श्रुतादिदेवतानां च कायोत्सर्गाणि कृत्वा पञ्चनमस्कारपूर्वकं नन्दिसूत्रमावर्तयेत्। शिष्योऽपि मुखवस्त्रिकया स्थगितमुखकमलः शृणुयात् । अनन्तरमाचार्यो भगवत्पादयुगे वासान् प्रक्षिप्य गोमयशालिपुष्पादिचूर्णमयान् सङ्घभट्टारकस्य वासान् दत्वा एवं ब्रूयात्–'अहमस्य साधोरनुयोगमुक्तलक्षणमनुजानामि क्षमाश्रमणानां हस्तेन द्रव्यगुणपर्यायैर्व्याख्याङ्गरूपैरेषोऽनुज्ञातः' इत्यत्रान्तरे वन्दित्वा शिष्यः 'संदिशत यूयं किं भणामि' इत्यादिवर्णजातं यथैव सामायिकैः तथात्रैव द्रष्टव्यमिति। तदनु वासःक्षेपपूर्वकं प्रदक्षिणात्रयं कारयित्वाऽनुयोगानुज्ञां[1] दद्यात् । तदर्थं कायोत्सर्गं कृत्वा निपद्यायामुपविश्य आत्मनो दक्षिणभागे शिष्यमुपवेश्य लग्नवेलायां कुम्भकयोगेनाचार्यपरम्परागतं पुस्तकादिपु लिखितमाचार्यमन्त्रं निवेदयेत्। ततो गन्धपुष्पाक्षतान्वितं मुष्टित्रयमक्षाणां दत्त्वा तदनु छत्र–चामर–हस्त्यश्व–शिविका–राजाज्ञानि योगपट्टक–खटिका–पुस्तका–ऽक्षसूत्र–पादुकादिकं च दद्यात् । स्वशाखानुगतं च नाम दत्त्वा स्वगच्छेन सह द्वादशावर्तवन्दनकं दत्त्वा गणं समर्प्याज्ञां श्रावयेत्–'अद्यप्रभृति दीक्षाप्रतिष्ठाव्याख्यादिकं ज्ञात्वा परीक्ष्य च त्वया विधेयम्' इति। ततश्च 'व्याख्यानं कुरु' इत्यनुज्ञातो नन्द्यादिव्याख्यानं यथाशक्त्या करोत्यभिनवाचार्यः। तदनु मूलाचार्यो निपद्यायां समुपविश्य–"षट्त्रिंशद्गुज्ज्वलमहागुणरत्नधुर्यैरेतत्पदं प्रथितगोतममुख्यपुम्भिः। आसेवितं सकलदुःखविमोक्षणाय निर्वाहणीयमशठं भवतापि नित्यम् ॥ १ ॥ आरोप्यते

१ नुयोगाज्ञां इति ग. पाठः ।

पदमिदं बहुपुण्यभाजो निर्वाहयन्ति च निरन्तरपुण्यभाजः । आराध्य शुद्धविधिना धनमेकमेकं संप्राप्नुवन्ति शनकैः शिवधामसौख्यम् ॥ २ ॥ नास्मात्पदाज्जगति साम्प्रतमस्ति किंचिदन्यत्पदं शुभतरं परमं नराणाम् । येनात्र पञ्चपरमेष्ठिपदेषु मध्येऽतिक्रान्तमाद्ययुगलं खलु कालदोषात् ॥ ३ ॥” इत्यादिवाक्यैराचार्योऽनुशास्तिं दद्यात् । तदनु भगवते निवेद्य ‘आचार्योऽयं त्वदनुज्ञातो मया कृतो भवत्प्रसादादधिकारं निर्विघ्नेन करोतु’ इति विज्ञापयेत् । पुनर्भगवते प्रणिपातं कारयित्वा भगवन्तं क्षमापयेत् । स च लब्धाधिकारो गुरुपारम्पर्यागतमधिकारं कुर्यादिति ॥ एवमनेन विधिना राज्यकामस्य[1] भ्रष्टराज्यस्य पुत्रकामसौभाग्यकामयोश्चाभिषेकं कुर्यादिति ॥ अत्र शङ्खादीनां मन्त्राः । ॐ आं इं उं आनन्दात्मने नमः । एवं शेषा अपि पूर्वोत्तरान्ता विज्ञेयाः । ॐ आं ईं ऊं सर्वरत्नेभ्यो विश्वात्मकेभ्यो नमः । रक्षामन्त्रः । सर्वबीजेभ्यः इन्द्रात्मकेभ्यो नमः । बीजमन्त्रः । सर्वौषधिभ्यः सोमात्मिकाभ्यो[2] नमः । औषधिमन्त्रः । सर्वगन्धेभ्यः पार्थिवात्मकेभ्यो नमः । गन्धमन्त्रः । सर्वमृद्भ्यः पृथिव्यात्मिकाभ्यो[3] नमः । मृत्तिकामन्त्रः । न्यग्रोधात्मने सुराधिपतोरणाय नमः । १ । पलाशात्मने तेजोधिपतोरणाय नमः । २ । उदुम्बरात्मने धर्मराजतोरणाय नमः । ३ । सिद्धकात्मने रक्षोधिपतोरणाय नमः । ४ । अश्वत्थात्मने सलिलाधिपतोरणाय नमः । ५ । मधुकात्मने पवनाधिपतोरणाय नमः । ६ । प्लक्षात्मने यक्षाधिपतोरणाय नमः । ७ । बिल्वात्मने विद्याधिपतोरणाय नमः । ८ । तोरणमन्त्रः ॥ इति आचार्याभिषेकः ॥

१ कामभ्रष्ट इति ग. पाठः । २ सोमात्मकेभ्यः इति क. ख. ग. पाठः । ३ पृथिव्यात्मकेभ्य इति क. ख. ग. पाठः ।

॥ अथ भूपरीक्षा ॥

अथ प्रासादं चिकीर्षुः प्रागेव सुपरीक्षितां भुवं गृह्णीयात्। तत्र भूमिः शुक्ला आज्यगन्धा मधुरा ब्राह्मणस्य। रक्ता रक्तान्तगन्धा कषाया क्षत्रियस्य। पीता तिक्तान्तगन्धा वैश्यस्य। विगन्धा कटुका कृष्णा मद्यगन्धा शूद्रस्य। शेषा चतूरूपाऽपि खातवारिदीपगुणादिना परीक्षणीया। तत्र हस्तमात्रं खातं तत्रत्यमृदा यस्याः पूर्यते सा मध्यमा। या उद्धरति मृत्तिका सा श्रेष्ठा। यत्राऽपरिपूर्णा मृत्तिका साऽधमा। उदकेन च खातमापूरितं पदशतगमनागमनपर्यन्तं यत्र सम्पूर्णं दृश्यते सा ज्यायसी। अङ्गुलोनं मध्यमा। बहुभिरङ्गुलैरूनं निकृष्टेति। आमकुम्भस्य वा उपरि घृतपूर्णामशरावे[1] चतुर्दिक्षु सितरक्तपीतकृष्णवर्तिचतुष्टयं प्रज्वालयेत्। (प्रज्वालितं हृदयादिमन्त्रसम्पूजितमास्नेहान्तं[2]) यदि पश्येत्तदा सर्ववर्णानां भूः प्रशस्तेति जानीयात्। अथ निर्वाणा यावन्त्यस्तावतां सा न प्रशस्तेति। एवं परीक्ष्य तस्यां यथोक्तं मण्डपं कुण्डसहितं कारयित्वा द्वारपालपूजादिमन्त्रतर्पणान्तं कर्म कृत्वा मूलमन्त्रेण सहस्रं हुत्वा कुम्भपञ्चकं ससधान्यानामुपरि स्थितं पुण्योदकपूर्णं प्रशस्तौषधीरत्नगर्भं चूताश्वत्थादिपल्लवबीजपूरादि[3]फलोपशोभितं वस्त्रयुगावृतं स्रक्सूत्रकण्ठं शासनेन साङ्गेन भगवता समधिष्ठितं सम्पूज्य लग्नकाले प्रासादस्य मध्यस्थाने कुम्भजलं प्रक्षिप्य पूर्वदक्षिणपश्चिमो-

---

१ घृतपूर्णशरावे इति ग. पाठः। २ धनुश्चिह्नान्तर्वर्ती भागः क. ख. योर्नास्ति। ३ बीजपूगादि इति ग. पाठः।

त्तरसीमासु च ततो मध्यस्थखातात्तस्मात् मृदमादाय नैर्ऋत्यां दिशि प्रक्षिपेत्। कुम्भावशिष्टजलेन खातं चाप्लाव्य कुद्दालादिकं संस्थाप्य पूजयेत्। ततः परं पूर्णकुम्भं वस्त्रयुगच्छन्नास्यमिन्द्रस्य[1] स्कन्धे निधाय गीतवाद्यादिब्रह्मघोषेण बहुजनसाक्षिकं यावदभिप्रेतं पुरः पूर्वसीमान्तं[2] नयेत्। तत्र च मुहूर्तमात्रं स्थित्वा प्रदक्षिणमार्गे आग्नेयादिईशानदिगन्तं भ्रामयेत्। ततः प्रासादभूमौ शङ्कष्टकं प्रासादसीमाविनिश्चयार्थं चतुर्षु कोणेषु विन्यस्य सूत्रेण संयोज्य सुवर्ण–रजत–मुक्ता–दध्यक्षतादिभिरेषां प्रदक्षिणां कुर्यादिति भूमिपरिग्रहं विधाय। मनोवृत्त्या वास्तुं संकल्प्याऽशल्यं निरूपयेत्। तत्र यजमानाङ्गकण्डूयनादिना क्षेत्रे शृगालादिप्रवेशेन वा लग्नेन वा ध्वजाद्यायैर्वा कचटतपयसहयजैर्नवभिर्वर्णैः प्रश्नैर्वा शल्यं जानीयात्। तत्र शिरःकण्डूयने शिरःशल्यम्। तत्प्रमाणेन अन्यदङ्गकण्डूयनादिना विकृतिं करोति तदङ्गेन तत्प्रमाणेन शल्यम्। द्विरूपे द्विरूपं शल्यम्। सर्वाङ्गिके विकारे सर्वत्र शल्यम्। ज्ञात्वा खनित्वा शल्यमुद्धृत्य हस्तापूरपाषाणैरष्टाङ्गुलोद्धृतमृदं तैर्जलाप्लावितैर्मुद्गरकुट्टितैः पादत्रयान्तमापूर्य समप्लवां सुघटितां सुश्लक्ष्णां भुवं विधाय छायाशङ्कादिना प्राचीं दिशं संसाध्य शिलासु लाञ्छनानि कृत्वा सम्पूजयेत्। इति भूपरीक्षा (भूपरिग्रहः) समाप्ता ॥

---

१ मिन्द्रस्कन्धे इति ग. पाठः। २ सीमन्तं इति क. पाठः।

॥ अथ शिलान्यासविधिः ॥

तत्र प्रासादक्षेत्रमष्टधा विभज्य चतुष्षष्टिकोष्टकान् कृत्वा चैशान–नैऋत्य–मूर्ध्ववंशं आग्नेयाश्च वायव्यान्तं तिर्यग्वंशद्वयं दत्त्वा द्विपदं षट्पदं च रक्षाष्टकं विन्यस्य मर्माणि ज्ञात्वा ईशानकोणार्धे ईशं दत्त्वा 'पर्जन्यजयमाहेन्द्ररविसत्यभृशान्पदिकान् सम्पूज्य अग्निकोणकोष्ठके व्योमपावकौ विन्यस्य पूषावितथग्रहक्षतयमगन्धर्वभृङ्गान् पदिकान् दत्त्वा नैऋत्यकोणकोष्टके मृगपितरौ विन्यस्य दौवारिकसुग्रीवपुष्पदन्तवरुणअसुरशोपान् पदिकान् सम्पूज्य तदनु वायव्यकोणकोष्टके रोगवायू विन्यस्य नागमुख्यभल्लाटसोमदितिअदित्यन्तान् पदिकान् सम्पूज्य ईशानकोणे अदितिं संपूजयेत् ॥ मध्ये पदचतुष्टये ब्रह्माणं तस्यैशान्यां पदिकौ आपवत्सौ प्राच्यां षट्पदं मरीचिं आग्नेय्यां सवितासावित्रौ पदिकौ दक्षिणस्यां षट्पदं विवस्वन्तं नैऋत्यामिन्द्रजयौ पदिकौ वारुण्यां षट्पदं मित्रम् वायव्यां रुद्ररुद्रदासौ पदिकौ उत्तरस्यां षट्पदं धराधरं इति आपवत्सादिक्रमेण दूर्वादध्यक्षतादिभिः सम्पूज्य ईशानादिदिक्षु चरकी स्कन्दा विदारी अर्यमा ललना जम्भा पूतना पापराक्षसी विलिपिच्छान्तैर्बहिर्दैवताष्टकं पूजयेदिति । एकाशीतिपदे गृहवास्तौ मध्ये ब्रह्मा नवपदे मरीचाद्याः षट्पदा ईशानाद्याः आपचन्द्राद्या द्विपदाः पदिकाबहिर्दैवताश्च पूर्ववादसरक्षादिकं चेति एवं वास्तुं सम्पूज्य मर्माणि परिहृत्य शिलाप्रतिष्ठादिकं विदध्यात् । शिलाप्रतिष्ठाविधिः समासः ॥

१ कोणके इति ख. ग. पाठः । २ भल्लाट इति क. ख. ग. पाठः । ३ आयवत्सो इति क. ख. पाठः । ४ वर्द्ध इति ख. ग. पाठः ।

॥ अथ प्रतिष्ठाविधिः ॥

तत्र [1]स्थाप्यस्य जिनबिम्बादेर्भद्रपीठादौ विधिना न्यसनं प्रतिष्ठा। तस्याश्च स्थापकत्रयं शिल्पी १ इन्द्रः २ आचार्य ३ श्चेति। तत्राद्यः सर्वाङ्गावयवरमणीयः क्षान्तिमार्दवार्जवसत्यशौचसम्पन्नः मद्यमांसादिभोगरहितः कृतज्ञो विनीतः शिल्पी सिद्धान्तवान् विचक्षणः धृतिमान् विमलात्मा शिल्पिनां प्रधानो जितारिषड्वर्गः कृतकर्मा निराकुल इति १। इन्द्रोऽपि विशिष्टजातिकुलान्वितो युवा कान्तशरीरः कृतज्ञो रूपलावण्यादिगुणाधारः सकलजननयनानन्दकारी सर्वलक्षणोपेतो देवतागुरुभक्तः सम्यक् रत्नालङ्कृतः व्यसनासङ्गपराङ्मुखः शीलवान् पञ्चाणुव्रतादिगुणयुतो गम्भीरः सितदुकूलपरिधानः कृतचन्दनाङ्गरागो मालतीरचितशेखरः कनककुण्डलादिभूषितशरीरस्तारहारविराजितवक्षस्थलः स्थपतिगुणान्वितश्चेति २। सूरिश्चा[2]र्यदेशसमुत्पन्नः क्षीणप्रायकर्ममलो ब्रह्मचर्यादिगुणगणालङ्कृतः पञ्चविधाचारयुतो राजादीनामद्रोहकारी श्रुताध्ययनसम्पन्नः तत्त्वज्ञो भूमिगृहवास्तुलक्षणानां ज्ञाता दीक्षाकर्मणि प्रवीणो निपुणः सूत्रपातादिविज्ञाने स्रष्टा सर्वतोभद्रादिमण्डलानामसमः प्रभावे आलस्यवर्जितः प्रियंवदो दीनानाथवत्सलः सरलस्वभावो वा सर्वगुणान्वितश्चेति। स च षष्ठाष्टमादितपोविशेषं विधाय कारापकानुकूले लग्ने हस्तादारभ्य नवहस्तान्तानां प्रतिमानामाद्यासु तिसृषु अष्टनवदशहस्तं इतरासु चतुर्हस्तादिप्रतिमासु हस्तद्वयवृद्ध्या, यद्वा एकहस्तादिक्रमेणैव द्वादशद्विहस्तवृद्ध्या

१ स्थाप्यजित इति ग. पाठः। २ श्चोपदेश इति क. ग. पाठः।

प्रागेव मण्डपं प्रासादस्याग्रतः कारयित्वा तस्य प्राच्यामीशान्यां वा स्नानमण्डपमधिवासनामण्डपार्धेन निवेश्य लघुप्रतिमासु पञ्चषट्सप्तहस्तानि तोरणानि इतरासु च वसुवेदाङ्गुलाग्राणि न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षद्रुमसमुद्भवानि पूर्वादारभ्य शान्तिभूतिबलारोग्यसंज्ञकानि तोरणान्यस्त्रशुद्धानि वर्मावगुण्ठितानि प्रणवेन विन्यस्य हन्मन्त्रैः स्वनामभिरभ्यर्च्य तच्छाखयोर्मेघमहामेघौ कालनीलौ जलाजलौ अचलभूलितौ प्रणवादिस्वाहान्तैः स्वनामभिः सम्पूज्य, ततो द्वारेषु कमलश्वेतइन्द्रमायरक्तकृष्णनीलमेघपीतपद्मवर्णाः पताकाश्च दत्त्वा मध्ये श्वेतचित्रे वा ध्वजे सम्पूज्य पाश्चात्यद्वारेण प्रविशेत्। ततः पश्चिमायां पूर्वाभिमुखो वा मण्डपनिरीक्षणप्रेक्षणताडनाभ्युक्षणावकिरणपूरणसमीकरणसेवनाकुट्टनसन्मार्जनोपलेपनाचक्रीकरणान्तैः कर्मभिः स्वस्वमन्त्रोपेतैः संस्कृत्य चन्दनच्छटाभिः सम्प्रोक्ष्योज्ज्वलस्वच्छभूतान्विचिन्तयन्[2] विनिक्षिप्य पुनस्तान् दर्भकूर्चिकया समाहृत्य[3] मण्डपस्य मध्ये यवाङ्कुरोपशोभितां[4] छत्रचामरभृङ्गारकलशध्वजदर्पणव्यजनसुप्रतीकाष्टमङ्गलकान्वितां वेदीं संस्थाप्य ततो वासुकिनिर्मोकलघुनी प्रत्यग्रवाससी दधानः कराङ्गुलीविन्यस्तकाञ्चनमुद्रिकः प्रकोष्ठदेशनियोजितकनककङ्कणः तपसा विशुद्धदेहो वेदिकायामुदङ्मुखमुपविश्य भूतशुद्धिं विधाय सकलीकरणार्घपात्रं कृत्वा इन्द्रादीनां कवचं विधाय सत्पुष्पाक्षतगन्धधूपपक्वान्नमनोहरं सर्वविघ्नशान्तये स्वयमाचार्य इन्द्रादिमूर्तिधरैः सह सर्वासु दिक्षु बलिं प्रक्षिप्य क्षेत्राधिपं पुष्पधूपाक्षतनैवेद्यदीपादिना सम्पूज्य हस्तौ

---

१ स्नीग इति क. पाठः। २ विचिन्तयित्वा इति पाठः। ३ समधृत्य इति ख. ग. पाठः। ४ यवारोप इति ग. पाठः।

पादौ च प्रक्षाल्य कृताचमनो वेदिकायामुपविश्य पञ्चवर्णेन रजसा स्वर्णवाहनायुधालङ्कृतान् लोकपालान् संलिख्य दधिदूर्वाक्षतादिभिर्वाहनायुधसमन्वितान् सम्पूज्य अनन्तरं मण्डपाद् बहिः कुमुदाञ्जनचमरपुष्पदन्ताभिधानान् क्षेत्रपालान् पूजयेत् । ततो हेमाद्येकतमं कुम्भमानीय गालिताम्भसा प्रपूर्य संहृतविकारेष्वासनं दत्त्वा तत्र मूर्तिरूपं कुम्भं विन्यस्य साङ्गं जिनेशं सम्पूज्य पूर्वद्वारि प्रशान्तशिशिरौ । दक्षिणे पर्जन्याशोकौ । पश्चिमे भूतसंजीवनामृतौ । उत्तरे धनेशश्रीकुम्भौ सवस्त्रौ स्रक्सूत्रकण्ठौ सहिरण्यौ चूताश्वत्थदलभूषितवक्त्रौ बीजपूरादिफलसहितौ नन्द्यादिद्वाराधिष्ठितौ सम्पूज्य यथाक्रमं स्वस्वदिक्षु इन्द्रादिधरणेन्द्रान्तं लोकपालाधिष्ठितं कुम्भदशकम् ततोऽखण्डधारया भृङ्गारेण सह कुम्भमाभ्राम्य भो भोः शक्र यथा स्वस्यां दिशि विघ्नप्रशान्तये सावधानेन स्नानान्तं यावद्भवितव्यमिति । अनेन क्रमेण लोकपालान् सम्बोध्य । ततः स्नानमण्डपं दुग्धदधिसर्पिश्चन्दनं कुङ्कुमं सुमनसो धूपं तथा रत्नानि मृत्तिकाः कषायादिकं प्रतिष्ठोपयोगकारकव्रातं तथा रत्नफलसस्यौषधीअष्टवर्गादिसंज्ञकान् कुम्भान्विन्यस्य अस्त्रप्रोक्षितान् कवचावगुण्ठितान् स्वसंज्ञाभिरभ्यर्च्य क्षीरदधिसर्पिरिक्षुसमुद्ररूपान् परिकल्प्य बहिरन्यानपि कुम्भान् संस्थाप्य लोकपालायुधाङ्कितं शिलानवकं पञ्चकं वा तासु कलशोपेतं समानीय स्नानमुपक्रमेत् । सप्तधान्येन रत्नसमूहेन मृद्भिः कषायवर्गेण मूलिकाभिरष्टवर्गेणोदकान्तरचन्दनेन तीर्थाम्भोभिः पञ्चगव्यादिना संस्नाप्य रक्तवस्त्रैराच्छाद्य मण्डपं

१ सवस्त्रौ सूत्र इति ख. ग. पाठः ।

प्रदक्षिणीकृत्य पाश्चात्यद्वारेण प्रवेश्य वेदिकायां संस्थाप्य अधिवासनामन्त्रेणाधिवास्य पुष्पवासधूपादिभिः समभ्यर्च्य मुद्रान्यासं कृत्वा धर्माभिजस्रवाससा संच्छाद्य नैवेद्यं दत्त्वा अर्हदादीनि पञ्च तत्त्वानि विन्यस्य क्ष्माप्तेजोवाताकाशगन्धरसरूपस्पर्शशब्दोपस्थपायुपादपाणिवाक्नासिकाजिह्वाचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनोऽहङ्कारबुद्धय इति निष्ठुरया संनिरोध्य शिलां पूजयेत्। पूर्वादिशिलासु च तत्त्वानि सर्वाणि विन्यस्य निरोध्य पूजयेत् ॥

अथ शिलाकुम्भनामानि–नन्दा भद्रा जया रिक्ता चेति हस्तप्रमाणा अष्टाङ्गुलोच्छ्रिताः स्वस्तिकाङ्किताः शैलमये शैलमयाः इष्टिकामये तन्मयाः पद्म–महापद्म–शङ्ख–मरकत–समुद्राख्याः कुम्भा इति पञ्चमूर्तिपक्षः। नवपक्षे तु सुभद्र–विभद्र–सुदन्त–जय–विजय–पूर्व–उत्तर–संज्ञकाः शिलाः। सुनन्दा भद्रा जया पूर्णा अजिता विजया मङ्गला धरणीसंज्ञकाः मध्यस्था ब्रह्मरूपिणीति। ततः शिलां कुम्भांश्चादाय प्रासादस्थानमागत्य गर्तासु ॐअर्हं जिनाय नमः इति मध्यमगर्तायां कुम्भं विन्यस्य लग्नकाले सिद्धशक्तिं विन्यस्य संचिन्त्य ॐह्रीं जिनाय स्वाहेति मन्त्रमुच्चार्य नमस्कारेण शिलां निवेशयेत्। ततः पूर्वादिगर्तासु सिद्धानां शक्तिं विन्यस्य तदनन्तरं। ॐलूं इन्द्राय नमः। ॐरूं अग्नये नमः। ॐसूं यमाय नमः। ॐपूं नैर्ऋतये नमः। ॐवूं वरुणाय नमः। ॐगूं वायवे नमः। ॐयूं कुबेराय नमः। ॐहूं ईशानाय नमः। ॐनागाय नमः। ॐब्रह्मणे नमः इति लोकेशमन्त्रैस्ताम्रमयकुम्भान् घृतमधुपूरितान् कृतस्रक्सूत्रकण्ठान् विन्यस्य तेषामुपरि शिलाः सं-

---

१ हस्ता अष्टाङ्गुल इति ख. पाठः। २ संतकाः शिला इति ख. पाठः। ३ ॐह्रीं इति ख. पाठः। ४ ॐल्लूं इत्यन्यत्र पाठः।

स्थाप्य धर्मादिचतुष्कं अधर्मादिचतुष्कं च शिलानामधिष्ठायकत्वेन विन्यस्य विशेषतः पूजां विधाय ततः संघादिकं पूजयेदिति । पादकास्ते तु संकल्पाः प्रासादस्य तु देशिकैः । सिद्धशक्तिं तु संयोज्य व्योमप्रासादमध्यगाम् ॥ इति पादप्रतिष्ठा प्रथमा ॥

॥ अथ द्वारप्रतिष्ठाविधिः ॥

तत्र पूर्ववत् द्रव्यव्रातमाहृत्य द्वारपालपूजादिकं कर्म कृत्वा द्वाराङ्गानि कषायादिभिः संस्नाप्य रक्तयुगया संछाद्य मण्डपमध्ये वेदिकायामारोप्य अथ औदुम्बर आयान्तं क्ष्मापतेजोवाताकाशगन्धरसस्पर्शशब्दोपस्थपायुपादपाणिवाक्घ्राणजिह्वाचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनोहङ्कारबुद्धिरागविद्याकलानियतिकालमायेति तत्र व्रातमारोप्य गन्धपुष्पाक्षतादिभिः सम्पूज्य स्वमन्त्रेणाधिवास्य द्वारदेशे वास्तुं सम्पूज्य रत्नादिपञ्चकं विन्यस्य प्रणवासनं दत्त्वा सूरिः स्वमन्त्रेण लग्नवेलायां द्वारं विन्यस्य यवसिद्धार्थकक्रान्ता[1]ऋद्धिवृद्ध्यमृतमोहनागोशृङ्गमृद्वरोत्पलकुष्ठतिलाभिषवलक्ष्मणारोचनासहदेवी[2]दधिदूर्वेति द्रव्यसमूहं विचित्रकार्पटे बद्ध्वा ऊर्ध्वोदुम्बरे यक्षेशश्रियं चात्मनो दक्षिणवामशाखयोः कालगङ्गे महाकालयमुने विन्यस्येदिति देवताषट्कं जिनाज्ञया संनिरोध्य दूर्वादध्यक्षता[3]दिभिः सम्पूजयेत् । पूर्ववत् शान्तिबलिं दत्वा भगवन्तं सम्पूज्य सङ्घं प्रपूजयेत् ॥ इति द्वारप्रतिष्ठा द्वितीया ॥

१ कान्ता इति ग. पाठः । २ सहदेवा इति ख. पाठः । ३ दूर्वाक्षतादिभिः इति ख. पाठः ।

॥ अथ विम्बप्रतिष्ठाविधिः ॥

तत्र पूर्ववत् मण्डपद्वयं कृत्वा कारकसमूहमाहरेत् । सुवर्णरजतताम्रमयं मृन्मयं वा स्नानार्थं कलशाष्टकम् । आम्रकुम्भचतुष्कम् । वारकाणामष्टोत्तरशतं चतुरङ्गो वेदी मल्लकानां पञ्चाशत् वेणुयववारकान् शरावप्ररूढांश्च स्थपतिकुम्भं यवव्रीहिगोधूमतिलमापमुद्गवल्लचणकमसूरतुवरीवणबीजनीवारश्यामकादिधान्यवर्गः ॥ १ ॥ हेमरजतताम्रकृष्णलोहत्रपुरीतिवज्रसूर्यकान्तनीलमहानीलमौक्तिकपुष्परागपद्मरागवैडूर्यादिरत्नवर्गः ॥ २ ॥ हेमरजतताम्रकृष्णलोहत्रपुरीतिकाकांस्यसीसकादिलोहवर्गः ॥ ३ ॥ न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थचम्पकाशोककदम्बाम्रजम्बूवकुलार्जुनपाटलावेतसकिंशुकादिकपायवर्गः ॥ ४ ॥ वल्मीकपर्वताग्रनद्युभयतटमहानदीसंगमकुशबिल्वमूलचतुष्पथदन्तिदन्तगोशृङ्गराजद्वारपद्मसरएकवृक्षादिमृत्तिकावर्गः ॥ ५ ॥ गङ्गायमुनामहीनर्मदासरस्वतीतापीगोदावरीसमुद्रपद्मसरस्ताम्रपर्णीनदीसङ्गमादिपानीयवर्गः ॥ ६ ॥ सहदेवीजयाविजयाजयन्तीअपराजिताविष्णुक्रान्ताशङ्खपुष्पीवलाअतिबलाहेमपुष्पीविशालानाकुलीगन्धनाकुलीसहवाराहीशतावरीमेदामहामेदाकाकोलीक्षीरकाकोलीकुमारीबृहतीद्वयं चक्राङ्कामयूरशिखालक्ष्मणादूर्वादर्भपतंजारीगोरम्भारुद्रजटालज्जालिकामेषशृङ्गीऋद्धिवृद्ध्याद्यौषधिवर्गः ॥७॥ प्रियङ्गुवचारोध्रयष्टीमधुकुष्ठदेवदारुउशीरऋद्धिवृद्धिशतावरीप्रभृत्यष्टकवर्गः ॥ ८ ॥ वालकामलकजातिपत्रिकाहरिद्राग्रन्थिपर्णकमुस्ताकुष्ठादिसर्वौषधिवर्गः ॥ ९ ॥ सिल्हककुष्ठकमांसीमुरमांसीश्रीखण्डागुरुकर्पूरनखपूतिकेशादिगन्धवर्गः ॥ १० ॥ वासाश्रीखण्डकुङ्कुमकर्पूरमुद्रिकाकङ्कणमदनफलानि रक्तसूत्रं ऊर्णासूत्रं लोहमुद्रिका

ऋद्धिवृद्धियुतं कङ्कणं यवमालिका[1]तर्कुका शिलागोरोचनाश्वेतसर्षपासितयुगाद्वयं पट्टाच्छादनं पटलकानि घण्टाः धूपदहनकानि रजतवट्टिकां[2] सुवर्णशलाकां कांस्यवट्टिकां आदर्शः नालिकेरबीजपूरककदलकनारङ्गाम्रजम्बूकूष्माण्डवृन्ताकामलकबदरादिप्रशस्तफलवर्गः । पूगीफलनागवल्लीदलानि मातृपुटिकानां शतमष्टोत्तरम् । अखण्डतण्डुलानां सेतिका इक्षुयष्टिका पुष्पाणां चय इति प्रचुरमानीयोत्तमवेदिकायां कारकजातं विन्यस्य हस्तशतप्रमाणायां भुवि जीवरक्षादिना क्षेत्रशुद्धिं विदध्यात् । तथाचोक्तम् ॥ काउं[3] खेत्तविसुद्धिं मङ्गलकोउयजुयं मणभिरामम् । वत्थुं जत्थ पइट्ठा कायव्वा वीयरायस्स ॥ १ ॥ इति तदनु पूर्ववत् मण्डपप्रदेशं विधाय ततो मङ्गलार्थमादौ चैत्यवन्दनं शान्त्यर्थं देवतानां च कायोत्सर्गाणि कृत्वा तदनु वेदिकायामुपविश्य ॐनमो अरिहंताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उवज्झायाणं नमोलोएसव्वसाहूणं ॐनमोसव्वोसहिपत्ताणं ॐनमोविज्जाहराणं ॐनमो आगासगामीणं ॐ कं क्षं नमः अशुचिः[4] शुचिर्भवामि स्वाहेति पञ्चसप्तवारान् सुरभिमुद्रया शुचित्वापादनायात्मनि शुचिविद्यां विन्यस्य श्रीमदर्हदादिमन्त्रैरात्मनो रक्षां कुर्यात् । तथाचागमः ॥ सुइ[5]विज्जाए सुइणा पंचंगावद्धपरियरेण चिरा । निसिऊण जहाठाणं दिसि देवयमाइए सव्वे ॥ १ ॥ एवं सन्नद्धगत्तो य सुइ दक्खो जिइंदिओ । सियवत्थपाउरंगो पोस-

१ मालिकाशिला इति ग. पाठः । २ पट्टिकां इति ग. पाठः । ३ कृत्वा क्षेत्रविशुद्धिं मङ्गलकौतुकयुतं मनोभिरामम् । वस्तु यत्र प्रतिष्ठा कर्तव्या वीतरागस्य ॥ १ ॥ ४ अशुचिं इति क. पाठः । ५ शुचिविद्यया शुचिना पंचंगाबद्धपरिकरेण चिरात् । न्यस्य यथास्थानं दिशि देवतादिकाः सर्वे ॥ १ ॥ एवं संनद्धगात्रश्च शुचिर्दक्षो जितेन्द्रियः । सितवस्त्रप्रावृताङ्गः पौषधिकः करोति च प्रतिष्ठाम् ॥ २ ॥

हिओ कुणइ अ पइट्ठम् ॥ २ ॥ ततश्च श्रद्धायुक्तं शुचितपसा शुद्धदेहं शेखरकटककेयूरकुण्डलमुद्रिकाहारवैक-क्षादिषोडशाभरणोपेतं देवस्य दक्षिणभुजाश्रितमिन्द्रं परिकल्पयेत्। उक्तंच । उइयदिशासु विणिवेसियस्स दक्खिणभुयाणुमग्गेण । उत्तमसियवत्थविनसिएणं कयसुकयकम्मेणं ॥ १ ॥ तदनन्तरमिन्द्रस्य मन्त्रमयं कवचं कृत्वा ॐनमोअरिहन्ताणं नमोसिद्धाणं नमोआयरियाणं नमोआगासगामीणं नमोचारणाइलद्धीणं जे इमे किंनरकिंपुरिसमहोरगगरुलसिद्धगन्धव्वजक्खरक्खसभूयपिसायडाइणिपभइ जिणघरणिवासिणो नियनिय-निलयट्ठिया य वियारिणो सन्निहिया य असन्निहिया य ते सव्वे विलेवणपुप्फधूवपईवसणाहं बलिं पडिच्छन्तु तुट्ठिकरा भवन्तु सिवंकरा भवन्तु सन्तिकरा भवन्तु सत्थयणं कुणन्तु सव्वजिणाणं संनिहाणं भावओ पसन्न-भावेण सव्वत्थ रक्खं कुणंतु सव्वदुरियाणि नासन्तु सव्वासिवं उवसमन्तु सन्तिपुट्ठितुट्ठिसिवसत्थयणकारिणो भव-न्तु स्वाहेत्यादिमन्त्रेण विघ्नोच्चाटनाय भूतबलिं प्रक्षिपेत् । ततः प्रतिमाकोणेषु स्रक्सूत्रफलान्वितान् चतुःकुम्भान् संस्थाप्य ॐह्रां ललाटे । ॐह्रीं वामकर्णे । ॐह्रूं दक्षिणकर्णे ॐह्रौं शिरसि पश्चिमभागे । ॐह्रः मस्तकोपरि । ॐक्ष्मां नेत्रयोः । ॐक्ष्मीं मुखे । ॐक्ष्मूं कण्ठे । ॐक्ष्मौं हृदये । ॐक्ष्मः बाह्वोः । ॐक्रों उदरे । ॐह्रीं कट्यां । ॐह्रूं जङ्घयोः । ॐक्ष्मूं पादयोः । ॐक्ष्मः हस्तयोरिति कुङ्कुमश्रीखण्डकर्पूरादिना चक्षुःप्रतिस्फोटादिनिवारणाय प्रति-

---

१ उचितदिशासु विनिवेशितस्य दक्षिणभुजानुमार्गेण । उत्तमसितवस्त्रविन्यसितेन कृतसुकृतकर्मणा ॥१॥ २ रगहुलइति ख. पाठः । ३ सिवकरा इति क. पाठः । ४ क्षीं पाठान्तरम् । ५ ह्रूं पाठान्तरम् । ६ ह्रूं पाठान्तरम् । ७ अः पाठान्तरम् ।

मायां विलिखेत् । तदनु ॐ हूं क्ष्रूं फुट् किरिटि किरिटि घातय घातय परविघ्नानास्फोटयास्फोटय सहस्रखण्डान् कुरु कुरु परमुद्रां छिन्द छिन्द परमन्त्रान् भिन्द भिन्द क्षः फट् स्वाहेत्यनेन श्वेतसर्षपान् परिक्षिप्य दिग्बन्धाय पूर्वादिकाष्ठासु विनिक्षिप्य तदनु चाचार्यश्चतुरः कलशान् गालिताम्भसा प्रपूर्य पुष्पाक्षतादिभिः सम्पूज्य मन्त्रैरालभ्य स्थपतिं च वस्त्रालङ्कारताम्बूलादिना संपूज्य मुद्रितं कलशं समर्प्य शेषांश्चेन्द्रादीनां समर्प्येष्टांशसमये सूत्रधारकलशपुरःसरां प्रतिमां स्नापयेत् । इति प्रथमं कलशस्नानम् ॥ ततः सप्तधान्यरत्नमृत्तिकाकषायौषधिअष्टवर्गसर्वौषधिपञ्चामृतगन्धवासचन्दनकुङ्कुमकर्पूरतीर्थोदकादियुक्तैः स्वस्वमुद्राभिमन्त्रितैः कुम्भैः स्नापयेदिति ॥ अत्र स्नानमन्त्राः । ॐ नमो यः सर्वशरीरावस्थिते महाभूते आङजलं गृह्ण गृह्ण स्वाहेति प्रथमस्नानषट्कस्यायं मन्त्रः । ॐ नमो यः सर्वशरीरावस्थिते पृथु विपृथु विपृथु गन्धं गृह्ण गृह्ण स्वाहेत्यष्टवर्गादिस्नानसमूहस्यायं मन्त्रः । ॐ नमो यः सर्वशरीरावस्थिते मेदिनि पुरु पुरु पुष्पवति पुष्पं गृह्ण गृह्ण स्वाहेति समस्तस्नानानां पुष्पमन्त्रोऽयम् । ॐ नमो यः सर्वशरीरावस्थिते दह दह महाभूते तेजोधिपतये धूपं गृह्ण गृह्ण स्वाहेति समस्तस्नानानां धूपमन्त्रोऽयम् । तदेवमाकारशुद्धिं विधाय परमेष्ठिमुद्रया प्रतिमायां भगवन्तमावाहयेत् । ॐ नमोऽर्हत्परमेश्वराय चतुर्मुखपरमेष्ठिने त्रैलोक्यनताय अष्टदिक्कुमारीपरिपूजिताय देवाधिदेवाय दिव्यशरीराय त्रैलोक्यमहिताय आगच्छ[1] आगच्छ स्वाहा । ततोऽभिमन्त्रितचन्दनेन प्रतिमां सर्वाङ्गां समालिप्य[2] अञ्जलिमुद्रया पुष्पाण्यधिरोप्य धूपं चोद्ग्राह्य वासान् प्रक्षिप्य

१ आगच्छ २ इत्यन्यत्र । २ समालभ्या क. ख. पाठः ।

श्वेतवाससा प्रच्छाद्य मूलमन्त्रेण संपूज्य हृदये संस्थाप्य मण्डपं प्रदक्षिणीकृत्य हिरण्यकांस्यवसुरक्षकरम्यकप-
र्दकप्रक्षेपपूर्वकं नीत्वा मण्डपाग्रे हृदये रथात्समुत्तार्य पश्चिमद्वारेण मण्डपं प्रवेश्य भद्रपीठे संस्थाप्य अग्रतः
पीठिकायां नन्दावर्ताख्यमण्डले मन्त्रान् सम्पूजयेत् । तत्र चन्दनानुलिप्ते श्रीपर्णीफलके पूर्ववत् चतुरस्रं क्षेत्रं
संसाध्य ब्रह्मस्थानात् सूत्रभ्रमेण सप्तवृत्तानि कृत्वा प्रथमवृत्ते तद्वृत्तप्रमाणां कर्णिकां तन्मध्ये नवकोणं नन्दावर्तं,
पूर्वादिदिक्षु वज्रयवाङ्कुशसुमनोदामानि च लिखित्वा । ततो द्वितीयवृत्ते मूलमध्याग्रेषु शुक्लरक्तपीतं केसरजालं
चतुर्विंशतिमातृयुतं तृतीयादिवृत्तेषु चतुर्विंशतिषोडशाष्टपत्रसंख्यया क्रमेण पद्मानि च निष्पाद्य आग्नेयनैर्ऋ-
तवायव्यैशानासु द्वादशगणान्विलिखेत् । बहिश्चतुर्द्वारान्वितं प्राकारत्रयं श्रीशान्तिभूतिबलारोग्यसंज्ञकैस्तो-
रणैरलङ्कृतं धर्ममानगजसिंहध्वजैः समन्वितमालिख्यानन्तरं प्रथमप्राकारपूर्वादिद्वाराभ्यन्तर उभयपार्श्वे कन-
कपीतसितारक्तकृष्णवर्णानि वैमानिकव्यन्तरज्योतिष्कभवनपतिदेवानां युगलानि प्रथमप्राकारद्वारपालान्
खड्गदण्डधनुःपरशुसमन्वितान् सोमयमवरुणकुबेराख्यान्मध्ये च यष्टिहस्तं तुम्बुरुदेवं विलिख्य । ततो द्वितीय-
प्राकारद्वारेषु जया विजया अजिता अपराजिताभिधाना द्वारपालीः । तृतीयप्राकारद्वारेषु तुम्बुरुं चाभिलिख्य तदनु
द्वितीयप्राकारान्तरे तिरश्चः तृतीयप्राकारान्तरे वाहनानि बाह्यभूमौ मनुष्यदेवानालिख्य । चतुर्द्वारोभयपार्श्वेषु
पद्मिनीखण्डमण्डिताः पुष्करिणीर्विलिखेत् । ततो वज्रलाञ्छितमिन्द्रपुरं दत्वा दिक्षु परविद्याक्षः फुट् कोणेषु परमं-

१ कर्णिकान्तर्मध्ये इति ख. पाठः । २ नन्द्यावर्तं इति पाठः । ३ तंबुरुं क. तुंबरुं इति पाठः । ४ तिरि—तृतीय इति क. पाठौ ।

त्रा क्षः फुट् चतुःकोणेषु पद्मासनानि समारोप्य पद्मपिधानांश्चतुरो मङ्गलकलशान् लिखित्वा बाह्ये वायुभवनं दद्यात्। इत्येतत्सर्वं कर्पूरगोरोचनामृगमदमिश्रेण कुङ्कुमरसेन काञ्चनतूलिकया सन्मण्डलं विलिखेत्। तदनु तन्मध्यकर्णिकायां भगवन्तमावाह्य पुष्पाक्षतचन्दनादिभिः सम्पूज्य पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरासु सिद्धादिचतुष्कं आग्नेयनैर्ऋतवायव्यैशानेषु ज्ञानादिचतुष्कं च पूजयेत्। ततो दक्षिणभागे देवस्य शक्र[1]श्रुतदेवते उत्तरतश्चेशानशान्तिदेवते सम्पूज्य केसरेषु मातृगणं प्रणवादिनमोन्तं सम्पूजयेत्। तदनु पत्रेषु जयादिदेवताचतुष्टयमाग्नेयादिषु जम्भादिदेवतागणं बहिश्चतुर्विंशत्यब्जपत्रेषु लोकान्तिकदेवतागणं अनन्तरषोडशपत्रेषु विद्याषोडशकमभ्यर्च्य। उपरि[2]तनपद्मद्वये क्रमेण वैमानिकदेवान् सदेवीकान् दिक्पालांश्च सम्पूज्य ततो द्वादशगणादिकमशेषमपि देवतागणं मण्डलध्वजतोरणादिकं च पुष्पाक्षतादिभिरभ्यर्चयेत्। तथाचोक्तम्। *मज्झे य नसेयव्वं नन्दावज्जं जवं कुसं सुमणम्। तस्सोवरि ठविज्जा पडिमा देवस्स इत्था(च्छा)ए ॥१॥ मज्झे निरञ्जणजिणो पुं[3]वावरदाहिणोत्तरदिसासु। तह सिद्धसुरुवज्झायसाहूसुति(इ?)रयणतियनासो ॥२॥ केसरनिलये तह मायरो य [1]मरुदेवि वि[4]जये सेणा[3] य। सिद्धत्था[4] तह

1 शक्तश्रुत इति क. पाठः। 2 उपरिपद्म इति क. पाठः। 3 पुवेवर इति ग. पाठः। 4 विजयमाणाय इति क. पाठः।

* मध्ये च न्यासयितव्यं नन्दा(वर्त)वर्ज्यं यवमङ्कुशं सुमनः। तस्योपरि स्थापयेत् प्रतिमां देवस्य इच्छायाः ॥ १ ॥
मध्ये निरञ्जनजिनः पूर्वापरदक्षिणोत्तरदिशासु। तथा सिद्धसूर्युपाध्यायसाधुशुचिरत्नत्रयन्यासः ॥ २ ॥
केसरनिलये तथा मातरश्च मरुदेवी विजया सेना च। सिद्धार्था तथा मङ्गला सुसीमा पृथ्वी च लक्ष्मणा ॥ ३ ॥

मङ्गलैसुसीमैपुहवीयलक्खणया ॥ ३ ॥ रामो नन्दा विण्हू जेयसामा सुजसं सुवया अइरा । सिरिदेवीय पहा-
वइ तत्तो पउमावई वप्पा ॥ ४ ॥ सिवं वम्मा तिसलाविय मायाए नामरूवा उ । ॐनमो पुव्वं अन्ते साह त्ति
तओ य वत्तव्वम् ॥ ५ ॥ लोयंतियदेवाणं तत्तो चउवीसपरिगणो नमिउं । सगमंतेहिं विहिणा सोलसविज्जा-
गणो य तओ ॥ ६ ॥ पुव्वोत्तराइ(सु)रोहिणीपन्नत्ती वज्जसंकला तह य । वज्जंकुशीय अप्पडिचक्का तह पुरिसदत्ता य
॥ ७ ॥ काली य महाकाली गौरी गंन्धारी जालमाला य । माणवि वइरोट्टाऽच्छुत्ता माणसि महामाणसी चेव
॥ ८ ॥ वेमाणिया य देवा तओ य चउविहा सदेवीया । इंदाइ दिसाइवई नसेज्ज नियएहिं मंतेहिं ॥ ९ ॥
दारे य ठाइ सोमो यमवरुणोय तह कुबेरोय । हत्थेसुं यं रइउं धणुदण्डपासगयगाहिणो तहय ॥ १० ॥

रामा नन्दा विष्णुर्जया श्यामा सुयशाः सुव्रता अचिरा । श्री देवी च प्रभावती ततः पद्मावती वप्रा ॥ ४ ॥

शिवा वामा त्रिशलापि च मातॄणां नामरूपापि तु । ॐनमः पूर्वं अन्ते स्वाहेति ततश्च वक्तव्यम् ॥ ५ ॥

लोकान्तिकदेवानां ततश्चतुर्विंशतिपरिगणं नत्वा । स्वमन्त्रैर्विधिना षोडशविद्यागणश्च ततः ॥ ६ ॥

पूर्वोत्तरादिषु रोहिणी प्रज्ञप्तिर्वज्रशृङ्खला तथाच । वज्राङ्कुशी च अप्रतिचक्रा तथा पुरुषदत्ता च ॥ ७ ॥

काली च महाकाली गौरी गन्धारी ज्वालामाला च । मानवी वैरोट्या अच्छुप्ता मानसी महामानसी चैव ॥ ८ ॥

वैमानिकाश्च देवास्ततश्च चतुर्विधाः सदेवीकाः । इन्द्रादिदिशाधिपतीन्न्यसेत् निजैर्मन्त्रैः ॥ ९ ॥

द्वारे च तिष्ठति सोमः यमो वरुणश्च तथा कुबेरश्च । हस्तेषु च रचयित्वा धनुर्दण्डपाशगदाग्राहिणस्तथाच ॥१०॥ १ वर इति प्रत्यन्तरे पाठः।

सक्को य जिणासन्नो णाणादेवा जहोइया वारे। पडिहारोविय तुंबरु मंतोय णमो तओ साहा ॥११॥ एवं नसिउं सव्वं पुज्जेउं विविहगन्धमल्लेहिं । नसियव्वो पञ्चंगो मंतो पडिमा य जत्तेणं ॥ १२ ॥ इति। अथ नन्दावर्त्तपूजामन्त्राः। ॐनमो अर्हते जिनाय रजोहननायाऽघोरस्वभावाय निरतिशयपूजार्हाय अरुहाय भगवते ह्रां अर्हत्परमेष्ठिने स्वाहा। ॐनमः स्वयम्भुवे अजराय मृत्युंजयाय निरामयाय अनिधनाय भगवते निरञ्जनाय ह्रीं सिद्धपरमेष्ठिने स्वाहा। ॐनमः पञ्चविधाचारवेदिने तदाचरणशीलाय तत्प्रवर्तकाय ह्रूं आचार्यपरमेष्ठिने स्वाहा। ॐनमो द्वादशाङ्गपरमस्वाध्यायसमृद्धाय तत्प्रदानोद्यताय ह्रौं उपाध्यायाय ब्रह्मणे स्वाहा। ॐनमः स्वर्गापवर्गसाधकाय ह्रः साधुमहात्मने स्वाहा ॥ पञ्चपरमेष्ठिपूजामन्त्राः। ॐनमः परमाभ्युदयनिःश्रेयसहेतवे ज्ञानाय नमः। रत्नत्रयादीनां मन्त्राः। ॐनमः शुचित्वापादिकायै शुचिविद्यायै स्वाहा। ॐनमः सौधर्मकल्पोत्तरस्थितये ऐरावतवाहनाय वज्रपाणिशचीपतिविबुधाधीशभास्वत्किरीटप्रच्युतिसमनन्तरापवर्गभाक्शक्राय स्वाहा। ॐनमो दक्षिणपार्श्वासीनधवलमूर्तिवरदपद्माक्षसूत्रपुस्तकालङ्कृतानेकपाणिद्वादशाङ्गश्रुतदेवाधिदेवते सरस्वत्यै स्वाहा। ॐनमो ईशानकल्पोत्तरस्थितये गजवाहनसदेवीकदिव्यायुधपाणिदेवाधीशकनककिरीटोद्भासिने ईशानाय स्वाहा। ॐनमो

शक्रश्च जिनासन्नो नानादेवा यथोदिता द्वारे। प्रतिहारोपि च तुम्बरुः मन्त्रश्च नमस्ततः स्वाहा ॥ ११ ॥

एवं न्यस्य सर्वं पूजयित्वा विविधगन्धमाल्यैः। न्यासयितव्यः पञ्चाङ्गो मन्त्रः प्रतिमा च यत्नेन ॥ १२ ॥

१ देवादिदेव इति ग. पाठः। २ मरुदेवीक इति ख. पाठः।

ग्रामपार्श्वासीनधवलद्युतिवरदकमलपुस्तककमण्डलुभूपितानेकपाणिसकलजनशान्तिकारिके शान्तिदेव्यै स्वाहा।
ॐनमो दिव्यरत्नात्मने नन्दावर्ताय स्वाहा । ॐनमः सर्वरक्षाविधायिने वज्राय स्वाहा । ॐनमो जयाभ्युदया-
त्मने यवाय स्वाहा । ॐनमः समस्तविघ्नविनाशकाय अङ्कुशाय स्वाहा । ॐनमो मङ्गलात्मने सुमनोदामाय
स्वाहा । इति शक्रादीनां मन्त्राः । ॐनमो मरुदेव्यै सपुत्रिकायै स्वाहा । इत्यादिमातृकादिगणमन्त्राः ।
ॐनमः पूर्वोत्तरादिग्निवासिभ्यः सारस्वतेभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥ ॐनमः पूर्वदिग्निवासिभ्य आदित्येभ्यः स्वाहा
॥ २ ॥ ॐनमः पूर्वदक्षिणदिग्निवासिभ्यो वह्निभ्यः स्वाहा ॥३॥ ॐनमो दक्षिणदिग्निवासिभ्यो वरुणेभ्यः स्वाहा
॥ ४ ॥ ॐनमो दक्षिणापरदिग्निवासिभ्यो गर्दतोयेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ ॐनमो अपरदिग्निवासिभ्यस्तुषिते-
भ्यः स्वाहा ॥ ६ ॥ ॐनमो अपरोत्तरदिग्निवासिभ्योऽव्याबाधेभ्यः स्वाहा ॥७॥ ॐनम उत्तरदिग्निवासिभ्यो
ऽरिष्टेभ्यः स्वाहा ॥८॥ ॐनमः सारस्वतादित्यान्तरनिवासिअग्न्याभ ॥ ९ ॥ सूर्याभेभ्यः स्वाहा ॥ १० ॥ ॐनमः
आदित्यवह्न्यन्तरनिवासिचन्द्रायस्वाहा ॥ ११ ॥ सत्याभेभ्यःस्वाहा ॥ १२ ॥ ॐनमोवह्निवरुणान्तरनिवासिश्रेयस्कर
॥ १३ ॥ क्षेमंकरेभ्यः स्वाहा ॥ १४ ॥ ॐनमोवरुणगर्दतोयान्तरनिवासिवृषभाभ [1] ॥ १५ ॥ कामचारेभ्यः [2] स्वाहा
॥ १६ ॥ ॐनमो गर्दतोयतुषितान्तरनिवासिनिर्माणराजो ॥ १७ ॥ दिशान्तरक्षितेभ्यः स्वाहा ॥ १८ ॥ ॐन-
मस्तुषिताव्याबाधान्तरनिवास्यात्मरक्षित ॥ १९ ॥ सर्वरक्षितेभ्यः स्वाहा ॥ २० ॥ ॐनमो अव्याबाधारिष्टान्तर-

---

१ तोयोन्तर इति ख. ग. पाठः । २ कामवरेभ्य इति ख. पाठः ।

निवासिमरु ॥ २१ ॥ वसुभ्यः स्वाहा ॥ २२ ॥ ॐनमो अरिष्टसारस्वतान्तरनिवास्यश्च ॥ २३ ॥ विश्वेभ्यः स्वाहा ॥ २४ ॥ एते चतुर्विंशतिनिकाये लोकान्तिकदेवानां पूजामन्त्राः ॥ ॐनमः पूर्वदिग्दलासीनइन्दुधवलविग्रहशङ्ख-कार्मुकादिप्रहरणानेकपाणिरोहिण्यै स्वाहा ॥ ॐनमः पूर्वदिग्दलान्तरासीनकुवलयद्युतिदेहशक्त्यादिप्रहरणानेक-पाणिप्रज्ञप्तिकायै स्वाहा। ॐनमः पूर्वदक्षिणदिग्दलासीनहेमावदाततनुलोहशृङ्खलाद्यायुधविविधकरवज्रशृङ्खलायै स्वाहा। ॐनमः पूर्वदक्षिणदिग्दलान्तरासीनकनककान्तिमूर्तिवज्राङ्कुशकुन्तादिशस्त्रबहुभुजभीममहावज्राङ्कुशायै स्वाहा। ॐनमः दक्षिणदिग्दलासीनजाम्बूनदाभविशुद्धशरीरवचश्चचक्रवज्राद्यलङ्कृतानेककराप्रतिचक्रायै स्वाहा। ॐनमः दक्षिणदिग्दलान्तरासीनसुवर्णवर्णमूर्ति–सितनिवसनाद्यनेकहेतिप्रायबाहुपुरुषदत्तायै स्वाहा । ॐनमो दक्षिणापरदिग्दलासीनस्निग्धाञ्जननिभतनुगदाद्यायुधाद्यनेककरकलितकालिकायै स्वाहा। ॐनमो दक्षिणापरदि-ग्दलासीनातसीकुसुमकान्तिमूर्तिवज्राद्यायुधानेककर्ममहाकालिकायै स्वाहा। ॐनमो अपरदिग्दलासीनकनक-कान्तिकायपद्मायुधवरबाहुगौर्यै स्वाहा । ॐनमो अपरदिग्दलान्तरासीनशुककान्तिमूर्तये वज्रमुशलाद्यायु-धसमृद्धानेककरगन्धार्यै स्वाहा । ॐनमो अपरोत्तरदिग्दलासीनामृतफेनपिण्डपाण्डुरशरीराकारज्वलन्महाज्वा-लादिमहाभयङ्करकरप्रहरणानेकभीमभुजज्वालामा[1]न्त्रे स्वाहा। ॐनमः अपरोत्तरदिग्दलान्तरासीनमरकतश्यामा-ङ्गोन्मूलिततरुवरादिप्रहरणानेकभीमकरमानव्यै स्वाहा। ॐनमः उत्तरदिग्दलासीनप्रियङ्गुपुष्पद्युतितनुभीमभुज-

१ ज्वालायै इति पाठान्तरम् ।

कनकान्तितनुकार्मुकाद्यनेकायुधानेक-
गाद्यनेकायुधानेककरवैरोट्यायै स्वाहा। ॐनमः उत्तरदिग्दलान्तरासीनकनककान्तितनुकार्मुकाद्यनेकायुधानेककरमानस्यै स्वाहा। ॐनमः
कराच्छुप्तायै स्वाहा। ॐनमः उत्तरपूर्वदिग्दलासीनपद्मरागाङ्गद्युतिशक्त्यादिशस्त्रानेककरमहानस्यै स्वाहा॥ इति विद्यादे-
उत्तरपूर्वदिग्दलान्तरासीनविद्युद्विलासभास्वरशरीरवाला(वाणा)द्यायुधानेककरमहानस्यै स्वाहा। ॐनमः पूर्वदक्षिणदिग्व्यवस्थिततद्देवीभ्यः
वीनां पूजामन्त्राः॥ ॐनमः पूर्वदिग्व्यवस्थितसौधर्मेन्द्रादिभ्यः स्वाहा। ॐनमो दक्षिणापरदिग्व्यवस्थिततद्देवीभ्यः स्वाहा।
स्वाहा। ॐनमोदक्षिणदिग्व्यवस्थितचमरेन्द्रादिभ्यः स्वाहा। ॐनमो अपरोत्तरदिग्व्यवस्थिततद्देवीभ्यः स्वाहा। ॐनमः
ॐनमो अपरदिग्व्यवस्थितचन्द्रेन्द्रादिभ्यः स्वाहा। ॐनमो उत्तरपूर्वदिग्व्यवस्थिततद्देवीभ्यः स्वाहा॥ इति वैमानि-
उत्तरदिग्व्यवस्थितकिन्नरेन्द्रादिभ्यः स्वाहा। ॐनमः पूर्वदिगन्तराध्यासिने तदधीशाय बाणकार्मुकव्यग्रकराय इन्द्राय स्वाहा।
कादिदेवानां देवीनां मन्त्राः॥ ॐनमः पूर्वदिगन्तराध्यासिने तत्स्वामिने ज्वलन्महाज्वालाधरायाग्नये स्वाहा। ॐनमो दक्षिणदिगन्त-
ॐनमः पूर्वदक्षिणदिगन्तराध्यासिने तत्स्वामिने ज्वलन्महाज्वालाधरायाग्नये स्वाहा। ॐनमो दक्षिणापरदिगन्तराध्यासिने तन्नाथाय
राध्यासिने तदधिष्ठात्रे महादण्डधारिणे यमाय स्वाहा॥ ॐनमो दक्षिणापरदिगन्तराध्यासिने तन्नाथाय
खड्गहस्ताय नैर्ऋतये स्वाहा। ॐनमोऽपरदिगन्तराध्यासिने तन्निवासिने पाशहस्ताय वरुणाय स्वाहा। ॐनमो
अपरोत्तरदिगन्तराध्यासिने तत्प्रभवे वज्रप्रहरणाय वायवे स्वाहा। ॐनमः उत्तरदिगन्तराध्यासिने तत्पालकाय
गदायुधाय कुबेराय स्वाहा। ॐनमः उत्तरपूर्वदिगन्तराध्यासिने तन्नाथाय शूलपाणये ईशानाय स्वाहा। ॐनमो
अधोदिगन्तराध्यासिने शिखामणिप्रभाभासुरभीषणफणासहस्राय पद्मावतीसहिताय सपरिकराय धरणेन्द्राय

स्वाहा । ॐनमः ऊर्ध्वदिगन्तराध्यासिने अच्युतोत्तरस्थितये अप्रतिहतपरमानन्दाय ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ॥ इति दिग्देवतानां पूजामन्त्राः॥ ॥ ॐनमः पूर्वदिग्दलासीनरक्तद्युतिअक्षसूत्रकमण्डलुपाणिसकलजनकर्मसाक्षिणे आदित्याय स्वाहा । ॐनमो अपरोत्तरदिग्दलासीनधवलद्युतिअक्षमालाकमण्डलुपाणिअमृतात्मने सोमाय स्वाहा ॥ ॐनमो दक्षिणदिग्दलासीनरक्तप्रभाक्षवलयकुण्डिकालङ्कृतपाणितेजोमूर्तये मङ्गलाय स्वाहा। ॐनमः उत्तरदिग्दलासीनहेमप्रभाक्षसूत्रकमण्डलुव्यग्रपाणये बोधात्मने बुधाय स्वाहा ॥ ॐनमः उत्तरपूर्वदिग्दलासीनहरितालद्युतिअक्षसूत्रकुण्डिकायुतपाणित्रिदशमन्त्रिणे बृहस्पतये स्वाहा ॥ ॐनमः पूर्वदक्षिणदिग्दलासीनधवलवर्णाक्षसूत्रकमण्डलुपाणिअसुरमन्त्रिणे शुक्राय स्वाहा ॥ ॐनमो अपरदिग्दलासीनासितद्युतिअक्षवलयकुण्डिकालङ्कृतपाणिलम्बकूर्चभासुरमूर्तये शनैश्चराय स्वाहा ॥ ॐनमो दक्षिणापरदिग्दलासीनातिकृष्णवर्णपाणिद्वयविहितार्घमुद्रमहातमःस्वभावाय राहवे स्वाहा ॥ ॐनमः पूर्वदिग्दलासीनधूम्रवर्णद्युतिअक्षसूत्रकुण्डिकालङ्कृतपाणिद्वयानेकस्वभावात्मने केतवे स्वाहा ॥ इति ग्रहदेवतानां पूजामन्त्राः॥ ॐनमो दक्षिणदिग्भागासीनस्निग्धाञ्जनद्युतिमुद्गरपाशडमरुकाद्यनेकशस्त्रालङ्कृतानेकपाणिकामचारिणे क्षेत्रपालाय स्वाहा । ॐनमः पूर्वदक्षिणदिग्व्यवस्थितगणधरादित्रिकाय स्वाहा । ॐनमो दक्षिणापरदिग्भागावस्थितभवनपत्यादिदेवीत्रिकाय स्वाहा । ॐनमो अपरोत्तरदिग्व्यवस्थितभवनपत्यादिदेवत्रिकाय स्वाहा । ॐनमः उत्तरपूर्वदिग्व्यवस्थितवैमानिकादित्रिकाय स्वाहा ॥ इति द्वादशगणपूजामन्त्राः ॥ ॐनमः प्रथमप्राकारपूर्वद्वाराभ्यन्तरतोरणोभयपार्श्वव्यवस्थितकन

कावदातद्युतिवैमानिकयुगलकाभ्यां स्वाहा । ॐनमः प्रथमप्राकारदक्षिणद्वाराभ्यन्तरतोरणोभयपार्श्वव्यवस्थित-
धवलद्युतिव्यन्तरयुगलकाभ्यां स्वाहा । ॐनमः प्रथमप्राकारपश्चिमद्वाराभ्यन्तरतोरणोभयपार्श्वव्यवस्थितरक्तद्यु-
तिज्योतिष्कयुगलकाभ्यां स्वाहा । ॐनमः प्रथमप्राकारोत्तरद्वाराभ्यन्तरतोरणोभयपार्श्वाश्रितकृष्णद्युतिभवनप-
तियुगलकाभ्यां स्वाहा ॥ इति वैमानिकादियुगलानां मन्त्राः ॥ ॐनमः पूर्वदिग्लोकाधिपतिकार्मुकव्यग्रपाणिपू-
र्वद्वारे तिष्ठ २ सोमाय स्वाहा । ॐनमो दक्षिणदिग्लोकेशदण्डव्यग्रपाणि दक्षिणद्वारे तिष्ठ २ यमाय स्वाहा ।
ॐनमो अपरदिग्लोकाधिरक्षपाशहस्तापरद्वारि तिष्ठ २ वरुणाय स्वाहा । ॐनम उत्तरदिग्लोकपालमहागदाव्य-
ग्रहस्तोत्तरद्वारि तिष्ठ २ वैश्रवणाय स्वाहा ॥ इति प्रथमप्राकारद्वारपालपूजामन्त्राः ॥ ॐनमः पूर्वदिग्द्वाराधिदेवते
सितद्युतिअभयपाशाङ्कुशमुद्गरव्यग्रपाणि पूर्वद्वारि तिष्ठ २ जये स्वाहा । ॐनमो दक्षिणदिग्द्वाराधिदेवते रक्त-
द्युतिअभयपाशाङ्कुशमुद्गरालङ्कृतपाणि दक्षिणद्वारे तिष्ठ २ विजये स्वाहा । ॐनमो अपरदिग्द्वाराधिदेवते कन-
कप्रभे अभयपाशाङ्कुशमुद्गरव्यग्रपाणि पश्चिमद्वारे तिष्ठ २ अजिते स्वाहा । ॐनम उत्तरदिग्द्वाराधिदेवते श्या-
मद्युतिअभयपाशाङ्कुशमुद्गरालङ्कृतपाणि उत्तरद्वारे तिष्ठ २ अपराजिते स्वाहा ॥ इति द्वितीयप्राकारद्वारपालानां
पूजामन्त्राः ॥ ॐनमो भगवदर्हत् प्रतिपन्नप्रतिहारभावत्वेनाधिष्ठितद्वाराभ्यन्तराय जटामुकुटधारिणे नरशिरः-
कपालमालाभूषितशिरोधराय खट्वाङ्गपाणये तुम्बरवे स्वाहा ॥ इति तुम्बरुपूजामन्त्रः ॥ ॐनमो न्यग्रोधात्मकेभ्यः

१ व्यग्र इति पाठान्तरम् ।

सुराधिपतोरणेभ्यः स्वाहा । ॐनम उदुम्बरात्मकेभ्यः धर्मराजतोरणेभ्यः स्वाहा । ॐनम अश्वत्थात्मकेभ्यः सुराधिपतोरणेभ्यः स्वाहा । ॐनमः प्लक्षात्मकेभ्यः यक्षाधिपतोरणेभ्यः स्वाहा ॥ इति तोरणपूजामन्त्राः ॥ ॐनमः पूर्वद्वारव्यवस्थितेभ्यो धर्मध्वजेभ्यः स्वाहा । ॐनमो दक्षिणद्वारव्यवस्थितेभ्यो मानध्वजेभ्यः स्वाहा । ॐनमः पश्चिमद्वारव्यवस्थितेभ्यो गजध्वजेभ्यः स्वाहा । ॐनमः उत्तरद्वारव्यवस्थितेभ्यः सिंहध्वजेभ्यः स्वाहा ॥ इति ध्वजानां पूजामन्त्राः ॥ ॐनमः पीतद्युतिवज्रलाञ्छितकठिनात्मने पृथिवीमण्डलाय स्वाहा । ॐनमः कृष्णद्युतिषड्बिन्दुलाञ्छितवृत्तात्मने वायुमण्डलाय स्वाहा ॥ इति मण्डलपूजामन्त्रः ॥ एवमुक्तानुक्तमपि प्रणवादिस्वाहान्तैः स्वस्वनामभिः पूज्यम् ॥ इति नन्दावर्तपूजा ॥ ॥ ततो धूपमुत्क्षिप्य नानाकन्दमूलफलपक्वान्नहृद्यो बलिः प्रदेयः । सदशेन सितवाससा नूतनेन पट्टमाच्छाद्य पुष्पाक्षतचन्दनादिना वस्त्रोपरि सम्पूज्य स्थिरप्रतिमां तत्कर्णिकायां परिकल्प्य चलप्रतिमां तत्रैव स्थापयेदिति । ततः पुष्पाक्षतचन्दनवासयवालिकाकङ्कणसदशवस्त्रोपरि सम्पूज्य मदनफलानि सौभाग्यमन्त्रेणाधिवासनामन्त्रेण वा मुद्राभिश्चाभिमन्त्र्य प्रतिमासमीपं गत्वा चन्दनेन प्रतिमां सर्वाङ्गां विलेपयेत् । ततः पुष्पाण्यारोप्य वासक्षेपं कृत्वा तदनु कपाटजिनचक्रमुद्राभ्यां शक्तिं तेजस्विनीं कृत्वा पञ्चस्वष्टसु चाङ्गेष्वाचार्यमन्त्रेण द्वितीयेन मन्त्रन्यासं विधाय पश्चात्सौभाग्यमुद्रया सौभाग्यमन्त्रं न्यसेत् । तत्राङ्गानि शिरउभयांसकुक्षिद्वयपर्यवसानानि पञ्च तथा शिरोहृदयनाभिपृष्ठिबाहुद्वयोरुयुगलसंज्ञकान्यष्टा-

१ सलिलाधिप इति पाठः । २ वस्त्रमदन इति क. पाठः ।

चिति । ॐनमो भगवओ उसभसामिस्स पढमतित्थयरस्स सिज्झउमे भगवई महाविज्जा जेण सव्वेण इंदेण
सर्वदेवसमुदयेण मेरुम्मि सव्वोसहीहिं सव्वे जिणा अहिसित्ता तेण सव्वेण अहिवासयामि सुवयं दढवयं सिद्धं
गुद्धं मम्मं दंसणमणुपत्तं हिरि हिरि सिरि सिरि मिरि मिरि गुरु गुरु अमले अमले विमले विमले सुविमले सुविमले
मोक्खमग्गमणुपत्तो स्वाहा । अहवा ॐनमो खीरासवलद्धीणं ॐनमो महुआसवलद्धीणं ॐनमो संभिण्णसो-
इंणं ॐनमो पयाणुसारीणं ॐनमो कुट्ठबुद्धीणं जमियं विज्जं पउंजामि सा मे विज्जा पसिज्झउ[1] ॐक्षः स्वाहा ॥
अधिवासने विधे ॥ ॐनमो वग्गु २ निवग्गु २ सुमिणे [3]सोमणसे महु महुरे जयंते अपराजिए स्वाहा ॥ सौभाग्य-
विद्या ॥ अनन्तरमाचार्यः सौभाग्यमन्त्रेण सप्तवारान् परिजप्य कङ्कणं मदनफलं यवमालिकां च निबन्धयेत् ॥
तदनु क्ष्मातेजोवाय्वाकाशपादपाणिपायुउपस्थवाक्घ्राणजिह्वाचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनःप्रभृतीनि तत्त्वानि संस्थाप्य
अनन्तरमारोग्यकान्तिसौरभ्यप्रस्वेदरहिततत्त्वमसृक्मांसयोः शुभ्रत्वं आहारनीहारयोरदृश्यत्वं निःश्वाससुगन्ध-
तेति सहजगुणकदम्बकं विन्यसेत् । ॐनमो विश्वरूपाय अर्हते केवलज्ञानदर्शनधराय हूं ह्रौं सः सहज-
गुणान् जिनेशे स्थापयामि स्वाहा ॥ सहजगुणस्थापनमन्त्रः ॥ ततो मन्त्रजसवाससाच्छादयेत् । तथाचागमः ।
[4]सदसनवधवलवत्थेण छाइउं वासपुप्फधूपेणं । अहिवासिज्ज तिन्नि वाराओ सूरिणो सूरिमन्तेण ॥ १॥ ततश्च पुष्पा-

१ कुरुकुरु इति ग. अधिकम् । २ पसीयउ इत्यन्यत्र । ३ सुमणे इत्यन्यकल्पेपु । ४ सदशनवधवलवस्त्रेण छादयित्वा वासपुष्पधूपेन ।
अधिवासयेयुः त्रीणि वाराणि सूरयः सूरिमन्त्रेण ॥ १ ॥

क्षतचन्दनादिकमुपरि प्रक्षिप्य रत्नफलमिश्रेण ससधान्येनाभिषिञ्चेत्। ततो नववस्त्राच्छादितायाः प्रतिमायाः चतुर्दिक्षु श्वेतकलशान् यवशरावयवारकान्वितान् स्थापयेत् ॥ तथाचागमः। [1]चत्तारि पुरो कलसा सलिलक्खय-कणयरूप्पमणिगब्भा। वरकुसुमदामकण्ठोवसोहिया चन्दणवलित्ता ॥ २ ॥ जववारयसयवत्ताइघट्टिया रयणमालियाकलिया। [3]सुह[2]पुण्णचत्तचउतंतुगोत्थया होंति पासेसु ॥ ३ ॥ ततो घृतगुडपूर्णान् मङ्गलप्रदीपान् प्रज्वालयेत्। तथाचोक्तम्। मं[4]गलदीवा य तहा घयगुलपुण्णा तहेखु[5]रखा य ॥ वरवन्नअक्खयविचित्तसोहिया तह य कायव्वा ॥ ४ ॥ तदनु कन्दमूलफलसम्मिश्रो विचित्रपक्वान्नमनोहरसप्तसराविकायुतः—तासां च द्रव्याणि पायसं गुडपिण्डाः कृसरा दध्योदनं सुकुमारिका शाल्योदनं सिद्धपिण्डकाश्चेति मनोहरो बलिर्देयः ॥ उक्तंच। [6]ओसहिफलवत्थसुवण्णरयणसुत्ताइयाइं विविहाइं। अन्नाइंवि गरुयसुदंसणाइं दव्वाइं विमलाइं ॥१॥ चित्तबलिगन्धमल्लविचित्तकुसुमाइं चित्तवासाइं। विविहाइं धन्नाइं सुहाइं रुवाइं उवणेह ॥२॥ ततो यववारकवेदिकादीन्यष्टमङ्गलकानि चतुरिकायां स्थापयेत्। चतुरिकावेद्यौ रक्तसूत्रेण वेष्टयेत्। चतुःकोणेषु रक्षार्थं कुलिशरूपानस्त्राभिम-

१ चत्वारः पुरः कलशाः सलिलाक्षतकनकरूप्यमणिगर्भाः। वरकुसुमदामकण्ठोपशोभिताश्चन्दनावलिप्ताः ॥२॥ यववारकशतपत्रादिघट्टिता रत्नमालिकाकलिताः। मुखपूर्णचत्रचतुस्तन्तुकावस्तुता भवन्ति पार्श्वेषु॥ ३ ॥ २ पुण्ण इति पाठान्तरम्। ३ सुह इति पाठान्तरम्। ४ मङ्गलदीपाश्च तथा घृतगुडपूर्णास्तथेक्षुरकाश्च। वरवर्णाक्षतविचित्रशोभितास्तथा च कर्तव्याः॥४॥ ५ तहेखुरुखा इति पाठान्तरम्। ६ ओषधिफलवस्त्रसुवर्णरत्नसूत्रादिकानि विविधानि। अन्यान्यपि गुरुकसुदर्शनानि द्रव्याणि विमलानि ॥ १ ॥ चित्रबलिगन्धमाल्यविचित्रकुसुमानि चित्रवासांसि। विविधानि धन्यानि शुभानि रूपाणि उपनयत ॥२॥

श्रितान् काण्डान् निवेशयेत्। तदनु रूपयौवनलावण्यवत्यो रचितोदारवेषा अविधवाः सुकुमारिकाः गुडपिण्ड-
पिहितमुखान् चतुरः कुम्भान् कोणेषु संस्थाप्य कांस्यपात्रीविनिहितदूर्वादध्यक्षततर्कुकाद्युपकरणसमन्विताः
सुवर्णादिदानपुरस्सरमष्टौ चतस्रो वा नार्यो रक्तसूत्रेण स्पृशेयुः। शेषाश्च मङ्गलानि दद्युः॥ तथाचागमः।
चउ नारीओमिणणं नियमा अहियासु नत्थि उ विरोहो। नेवत्थं व इमासि जं पवरं तं इहं सेयं॥१॥ दिक्खिय जिण-
ओमिणणा दाणाउ ससत्तिओ तहेयंमि। वेहव्वं दालिद्दं न होइ कइयावि नारीणं॥२॥ तासां च लवणगुडादि
दत्वा लवणारात्रिकमुच्चारयेत्। तथाचोक्तम्। आरत्तियमवयारणमङ्गलदीवं च निम्मिउं पच्छा। चउनारीहिं
निम्मच्छणं च विहिणा उ कायव्वं॥३॥ ततो वर्धमानस्तुतिभिः संघसहिताश्चैत्यवन्दनमधिवासनादिदेवतानां
कायोत्सर्गाणि कुर्यात्। उक्तं च। वंदितु चेइयाइं उस्सग्गो तह य होइ कायव्वो। आराहणानिमित्तं पवयणदे-
वीए संघेण॥४॥ विश्वाशेषसु वस्तुषु मन्त्रैर्याजस्रमधिवसति वसतौ। सास्यामवतरतु श्रीजिनतनुमधिवासनादेवी
॥५॥ प्रोत्फुल्लकमलहस्ता जिनेन्द्रवरभवनसंस्थिता देवी। कुन्देन्दुशङ्खवर्णा देवी अधिवासना जयति॥६॥ एवमनेन

१ पात्रविनिहित इति क. पाठः। २ कुङ्कुमाद्युप इति क. ख. पाठः। ३ चतुर्नार्यवमानं नियमात् अधिकासु नास्ति तु विरोधः। नेपथ्यं च आसां यत् प्रवरं तत् इह श्रेयः॥ १॥ दीक्षितजिनानां अवमानात् दानात् स्वशक्तितः तथा अस्मिन्। वैधव्यं दारिद्र्यं न भवति कदापि नारीणाम्॥ २॥ ४ आरार्तिकावतारणं मङ्गलदीपं च निर्माय पश्चात्। चतुर्नारीभिर्निर्मञ्छणं विधिना तु कर्तव्यम्॥३॥
५ वन्दित्वा चैत्यानि उत्सर्गस्तथा च भवति कर्तव्यः। आराधनानिमित्तं प्रवचनदेव्याः सङ्घेन॥ ४॥

विधिना श्रीमद्भगवन्तमधिवास्य गन्धधूपपुष्पाद्यधिवासितायां स्वास्तीर्णायां विद्रुमशय्यायां शाययेत् । [1]वर्म-जसाऽरक्तवाससा चाच्छादयेत् । तदनु ससगीतवाद्यमङ्गलादिना चतुर्विधश्रमणसङ्घेन सह । ततः प्रभातायां शर्वर्यामुदये प्राप्ते वासरे सूरिः प्रतिष्ठां कुर्यात् ॥ उक्तं च ॥ [2]इय विहिणा अहिवासेज्ज देवबिम्बं निसाए सुद्धमणो । तो उग्गयम्मि सूरे होइ पइट्ठासमारम्भो ॥ १ ॥ इति अधिवासनाविधिः ॥ ततः काञ्चित् कालकलां विलम्ब्य पूर्ववच्छान्तिबलिं प्रक्षिप्य चैत्यवन्दनादिकं कर्म कृत्वा वस्त्रमपनीयाऽविधवनायिकायाः समर्पयेत् । ततो रजतमयवर्तिकानिहितमधुदिव्यया सुवर्णशलाकया अर्हन्मन्त्रमुच्चार्य ज्ञानचक्षुरुन्मीलयेत् ॥ तथा चागमः ॥ [3]कल्लाणसलायाए महुघयपुण्णाए अच्छि उग्घाडे[4] । अण्णेण वा हिरण्णेण नियय जहसत्तिविहवेण ॥२॥ दृष्टिन्यासे च दृष्टेराप्यायननिमित्तं घृतादर्शदधीनि संदर्शयेत् । तदनु योजनेऽपि कोटिसहस्रावस्थानं वचनस्य स्वस्वभाषया परिणमनं रुग्वैरमारिदुर्भिक्षडमरादीनामभावः । अतिवृष्ट्यनावृष्टी न भवतः । इति कर्मक्षयोत्पन्नगुणान् जिने-न्द्राणां स्थापयेत् । ॐ नमो भगवते अर्हते घातिक्षयकारिणे घातिक्षयोत्पन्नगुणान् जिने संस्थापयामि स्वाहा । घातिकर्मक्षयोत्पन्नैकादशातिशयस्थापनामन्त्रः ॥ पश्चादाचार्यः स्वमन्त्रोच्चारपुरस्सरं प्रासादं गत्वा विम्बानु-त्साद्य रत्नादिपञ्चकं विन्यसेत् । तत्र पूर्वस्यां वज्रं, आग्नेय्यां सूर्यकान्तं, दक्षिणस्यां नीलं, नैर्ऋत्यां महानीलं,

१ धर्म इति स्यात् । २ इति विधिना अधिवासयेत् देवबिम्बं निशायां शुद्धमनाः । तत उद्गते सूर्ये भवति प्रतिष्ठासमारम्भः ॥ १ ॥
३ कल्याणशलाकया मधुघृतपूर्णया अक्षी उद्घाटयेत् । अन्येन वा हिरण्येन नियतयथाशक्तिविभवेन ॥ २ ॥ ४ उघारे इति ग. पाठः ।

पश्चिमस्यां मौक्तिकं, वायव्यां पुष्परागं, उत्तरस्यां पद्मरागं, ईशान्यां वैडूर्यमिति पूर्वादिगर्तासु विन्यस्य। मध्य-गर्तायां समस्तानीति। ततो हेमताम्रकृष्णलोहत्रपुरौप्यरीतिकाकांस्यसीसकाद्यपि पूर्वादिगर्तासु मध्ये सम-ग्राणि देशशक्तिमनुस्मरन् न्यस्येत्। तदनु हरितालीं मनःशिलां तौरिकां सुवर्णमाक्षिकां पारदं हैमगैरिकं गन्धकां अभ्रकामिति धातून् स्मृतिबीजात्मकान् पूर्वादिगर्तासु। मध्ये समस्तानि। अथोशीरविष्णुक्रान्तारक्त-चन्दनकृष्णागुरुश्रीखण्डं उत्पलसारिकं कुष्टं शङ्खपुष्पिकाद्यौपधीरारोग्यशक्तिमनुसंधाय यथासंख्यं पूर्वादिग-र्तासु मध्यगर्तायामखिलाश्न्यसेदिति॥ यद्वा सर्वरत्नाभावे वज्रं लोहानां सुवर्णं धातूनां हरितालं औषधीनां सहदेवी बीजानां यवाः एकं वा पारदं सर्वगर्तासु विन्यस्य। मध्यमगर्तायां सिंहासनपाण्डुकम्बलशिलालङ्कृतं हेममयं ताम्रमयं मृन्मयं मेरुं स्थापयेदिति। स्थिरप्रतिष्ठायामयं विधिरितरायां रत्नगर्भाकुलालचक्रमृत्तिकां दर्भांश्च स्थापयेदिति। ततो धर्मजसवाससा प्रच्छाद्य लोकपालानां वलिं दत्वा जयशब्दादिमङ्गलैः सतूर्यनि-र्घोषै रत्नकरम्बकं संक्षिप्य अधिवासनामण्डपात् भगवन्तं भद्रपीठे समुत्तार्य स्थिरो भवेत्युक्त्वा छादिकाभिः सूत्रान्तरेण प्रगुणं विधाय लग्नकालमवलोकयेत्। अनन्तरमाचार्यो मध्यमया चन्दनं अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां वासान् मुष्टौ पुष्पाक्षतान् संगृह्य स्वमंत्रेण[1] कुम्भकविधिना सृष्टिमार्गमनुस्मरन्[2] सूत्रधारोपनीतछदिकं प्राणेन सह प्रतिष्ठाप्य। ॐअर्हं इति मन्त्रेणोत्तमाङ्गादिषु वासादिक्षेपं कुर्यात्। तत आचार्यमन्त्रेण। ॐनमो अरिहंताणं।

१ समन्त्रेण इति ग. पाठः। २ मनुसरन् इति क. पाठः।

ॐनमो सिद्धाणं। ॐनमो आयरियाणं। ॐनमो उवज्झायाणं। ॐनमो लोएसव्वसाहूणं। ॐनमो ओहिजिणाणं। ॐनमो परमोहिजिणाणं। ॐनमो सव्वोहिजिणाणं। ॐनमो अणन्तोहि जिणाणं। ॐनमो केवलिजिणाणं। ॐनमो भवत्थकेवलिजिणाणं। ॐनमो भगवओ अरहओ महई महावीरवद्धमाणसामिस्स सिज्झउ मे भगवई (इमा) महई महाविज्जा वीरे २ महावीरे जयवीरे सेणवीरे वद्धमाणवीरे जये विजये जयन्ते अपराजिए अणिहए माचल २ वृद्धिदे[2] २ हूं २ ह्रीं २ सः[3] २ ओहिणि[4] मोहिणि स्वाहेत्यादिना प्रतिष्ठामन्त्रेणाचार्यमन्त्रेण वा चक्रमुद्रया प्रतिमायां त्रिपञ्चसप्तवारान् मन्त्रन्यासं विधाय ॐ ह्रीं अर्हन्मूर्तये नमः इति पुनः प्रवचनमुद्रया मूर्तिं प्रतिबोध्य स्थावरे तिष्ठ २ स्वाहा इति जिनमुद्रया स्थिरीकरणं कृत्वा आचार्यः धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्याऽस्त्रमन्त्रेण गरुडमुद्रया दुःखविघ्नादीनुत्साद्य सौभाग्यमन्त्रेण योनिमुद्रया सौभाग्यमारोप्य ऋषभाद्येकतमं जिने नाम कृत्वा गन्धपूष्पधूपादिभिः सम्पूज्य नमस्कारमुद्रया नमस्कृतिं विदध्यात् ॥ तदनु कनककमलपातश्चतुरङ्गताकण्टकानामधोमुखीभावो रोमनखानामवस्थितत्वमिन्द्रियार्थानुकूलता सर्वर्तूनां प्रादुर्भावो गन्धोदकवृष्टिः शकुनानां प्रदक्षिणगतयो द्रुमाणामवनतिः प्रभञ्जनानुकूलता भवनपतिप्रभृतीनां जघन्येन कोटिमात्रावस्थानमित्येवं सुरकृतातिशयप्रातिहार्ययक्षयक्षेश्वरीधर्मचक्रमृगद्वन्द्वरत्नध्वजप्राकारत्रयादीन् प्रत्येकं स्वस्वमन्त्रैः संस्थापयेत् ॥ तत्रातिशयादीनां स्थापनमन्त्राः। ॐनमो भगवते अर्हते सुरकृतातिशयान् जिनस्य शरीरे

१ सव्वत्थ इति पाठान्तरम्। २ बुद्धिदे इति ग. पाठः। ३ सा २ इति पाठान्तरम्। ४ अरिणि इत्यन्यकल्पेषु दृश्यते।

स्थापयामि स्वाहा। ॐनमो भगवते अर्हते असिआउसा जिनस्य प्रातिहार्याष्टकं स्थापयामि स्वाहा। ॐयक्षेश्वराय
स्वाहा। ॐ ह्रीं हूं ह्रीं शासनदेव्यै स्वाहा। ॐधर्मचक्राय स्वाहा। ॐमृगद्वन्द्वाय स्वाहा। ॐरत्नध्वजाय
स्वाहा। ॐनमो भगवते अर्हते जिनप्राकारादित्रयं स्थापयामि स्वाहा॥ इति अतिशयादीनां स्थापनामन्त्राः॥
ततोऽविधवानारीभिः प्राग्वत् स्पर्शनादिकं कर्म कृत्वा लवणारात्रिकमुत्तार्य चतुर्विधश्रमणसङ्घसहितो देवव-
न्दनं प्रतिष्ठादिदेवतानां कायोत्सर्गाणि कुर्यात्॥ तथा चागमः॥ तो चेइयाइं विहिणा वन्दिज्जा सयलसङ्घ-
संजुत्तो। परिवड्ढमाणभावो जिणदेवे दिन्नदिट्ठीओ॥ १॥ ततोच्चिय पवयणदेवयाए पुणरवि करेज्ज उस्सग्गो।
आराहणथिरकरणट्ठयाए परमाए भत्तीए॥ २॥ यदधिष्ठिताः प्रतिष्ठाः सर्वाः सर्वास्पदेषु नन्दन्ति। श्रीजिन-
बिम्बं सा विशतु देवता सुप्रतिष्ठमिदम्॥ ३॥ जइ सग्गे पायाले अहवा खीरोदहिम्मि कमलवणे। भयवइ क-
रेहि सत्तिं सन्निज्झं सयलसङ्घस्स॥४॥ अट्ठविहकम्मरहियं जा वन्देइ जिणवरं पयत्तेण। सङ्घस्स हरउ दुरियं
सिद्धा सिद्धाइया देवी॥ ५॥ ततोऽञ्जलिमुद्रया सिद्धादिमङ्गलोद्घोपणपूर्वकमुत्तरोत्तरपूजाभिवृद्धये सङ्घेन सह

१ लुं इलन्यत्र। २ वत्सायेति पाठान्तरम्। ३ ततश्चैत्यानि विधिना वन्देत सकलसङ्घसंयुक्तः। परिवर्धमानभावो जिनदेवे दत्तदृष्टिकः॥ १॥ ततश्चैव प्रवचनदेवतायाः पुनरपि कुर्यादुत्सर्गः। आराधनस्थिरीकरणार्थकया परमया भक्त्या॥ २॥ यदि स्वर्गे पाताले अथवा क्षीरोदधौ कमलवने। भगवती करोति शक्तिं सान्निध्यं सकलसङ्घस्य॥ ४॥ अष्टविधकर्मरहितं या वन्दते जिनवरं प्रयत्नेन। सङ्घस्य हरतु दुरितं सिद्धा सिद्धायिका देवी॥ ५॥ ४ मङ्गलाघोपण इति पाठः।

पुष्पगन्धादिमिश्रस्य सप्तधान्यकस्य प्रक्षेपं कुर्यात् । उक्तं च । वन्दितु चेइयाइं इमाइं तो सरभसं पढेज्जा । सुमङ्गलसाराइं तहा थिरत्तसारेण सिद्धाइं ॥१॥ तद्यथा । जह सिद्धाण पइट्ठा तिलोयचूडामणिम्मि सिद्धिपए । आचन्दसूरियं तह होइ इमा सुप्पइट्ठत्ति ॥ २॥ गेविज्जगकप्पाणं सुपइट्ठा वण्णिया जहा समए । आचन्दसूरियं तह होइ इमा सुप्पइट्ठत्ति ॥ ३ ॥ जह मेरुस्स पइट्ठा[2] असेससेलाणमज्झयारम्मि । आचन्दसूरियं तह होइ इमा सुप्पइट्ठत्ति ॥ ४ ॥ कुलपव्वयाणवक्खारवट्टवेयट्टदीहियाणं च । कूडाण जमगकंचणवित्तविचित्ताइयाणं च ॥ ५ ॥ अञ्जणगरुयगकुण्डलमाणुसइसुयारमाइयाणं च । सेलाण जह पइट्ठा तह एसा होइ सुपइट्ठा ॥ ६ ॥ जह लवणस्स पइट्ठा असेसजलहीण मज्झयारम्मि । आचन्दसूरियं तह होइ इमा सुप्पइट्ठत्ति ॥ ७ ॥ कुण्डा-

---

१ वन्दित्वा चैत्यानि इमानि ततः सरभसं पठेत् । सुमङ्गलसाराणि तथा स्थिरत्वसारेण सिद्धानि ॥ १ ॥ यथा सिद्धानां प्रतिष्ठा त्रिलोकचूडामणौ सिद्धिपदे । आचन्द्रसूर्यं तथा भवति इमा सुप्रतिष्ठा इति ॥ २ ॥ ग्रैवेयककल्पानां सुप्रतिष्ठा वर्णिता यथा समये । आचन्द्रसूर्यं तथा भवति इमा सुप्रतिष्ठा इति ॥ ३ ॥ यथा मेरोः प्रतिष्ठा अशेषशैलानां मध्ये (मध्यकारे) । आचन्द्रसूर्यं तथा भवति इमा सुप्रतिष्ठा इति ॥ ४ ॥ कुलपर्वतानां वक्षस्कारवृत्तवैताढ्यदीर्घिकाणां च । कूटानां यमलकांचनवित्तविचित्रादिकानां च ॥ ५ ॥ अञ्जनरुचककुण्डलमानुपोत्तरइषुकारआदिकानाम् । शैलानां यथा प्रतिष्ठा तथा एषा भवति सुप्रतिष्ठा ॥६॥ यथा लवणस्य प्रतिष्ठा अशेषजलधीनां मध्ये (मध्यकारे) । आचन्द्रसूर्यं तथा भवति इमा सुप्रतिष्ठा इति ॥ ७ ॥ कुण्डानां द्रहाणां तथा महानदीनां च यथा सुप्रतिष्ठा ।

२ पइट्ठो इति क. पाठः ।

जह य सुपइट्ठा । आकालमीतहेसा वि होउ निच्चन्तु सुपइट्ठा ॥८॥ जम्बुद्दीवाईणं दी-
णा दहाणं तह महानईणं व
यसमुद्दाणं सव्वकालंमि । जह एयाण पइट्ठा सुपइट्ठा होउ तह एसा ॥ ९ ॥ धम्माधम्मागासत्थिकायमइयस्स
सव्वलोयस्स । जह सासया पइट्ठा एसावि तहेव सुपइट्ठा ॥ १० ॥ पञ्चण्हवि सुपइट्ठा परमेट्ठीणं जहा सुए
भणिया । नियया अणाइणिहणा तह एसा होउ सुपइट्ठा ॥ ११ ॥ तह पवयणस्स गमभंगहेउनयनीइकालकलि-
यस्स । जह एयस्स पइट्ठा निच्चा तह होउ एसावि ॥ १२ ॥ तह संघनराहिवजणवयाण रज्जस्स तहय ठाणस्स ।
गोट्ठीए सव्वकालंपि सासया होउ सुपइट्ठा ॥ १३ ॥ इय एसा सुपइट्ठा गुरुदेवजईहिं तह य भविएहिं । निउणं
पुट्ठा सद्देण चेव कप्पट्ठिआ होइ ॥ १४ ॥ सोउं मङ्गलसद्दं सउणं ति जहेव इट्ठ सिद्धत्ति । एत्थंपि तहा सम्मं

आकालमीवहेषापि भवतु नित्यं तु सुप्रतिष्ठा ॥ ८ ॥ जम्बुद्वीपादीनां द्वीपसमुद्राणां सर्वकाले । यथा एषां प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठा भवतु तथा
एषा ॥ ९ ॥ धर्माधर्माकाशास्तिकायमयस्यास्य सर्वलोकस्य । यथा शाश्वता प्रतिष्ठा एषापि तथैव सुप्रतिष्ठा ॥ १० ॥ पञ्चानामपि सुप्रतिष्ठा
परमेष्ठीनां यथा श्रुते भणिता । नियता अनादिनिधना तथा एषा भवतु सुप्रतिष्ठा ॥ ११ ॥ तथा प्रवचनस्य गमभङ्गहेतुनयनीतिकालक-
लितस्य । यथा एतस्य प्रतिष्ठा नित्या तथा भवतु एषापि ॥ १२ ॥ तथा सङ्घनराधिपजनपदानां राज्यस्य तथैव स्थानस्य । गोष्ठ्याः
सर्वकालमपि शाश्वता भवतु सुप्रतिष्ठा ॥ १३ ॥ इति एषा सुप्रतिष्ठा गुरुदेवयतिभिः तथाच भविकैः । निपुणं पुष्टा सद्देन चैव कल्पस्थिता
भवति ॥ १४ ॥ श्रुत्वा मङ्गलशब्दं शकुनं इति यथैव इष्टं सिध्यति । अत्रापि तथा समं ज्ञातव्यं बुद्धिमद्भिः ॥ १५ ॥

१ सव्वद्दुविमाणाणं उद्धलोयंमि जहय सुपइट्ठा । आचन्दसूरियं तह होइ इमा सुपइट्ठत्ति इत्यधिकम् । २ सउणि इति पाठान्तरम् ।
३ सिद्धित्ति इति श्रीहरिभद्रकृताष्टमपञ्चाशके ।

नायव्वं बुद्धिमन्तेहिं ॥ १५ ॥ राया बलेण वड्ढइ जसेण धवलेइ सयलदिसिभाए । पुण्णं वड्ढइ विउलं सुपइट्ठा जस्स देसंमि ॥ १६ ॥ उवहणइ रोगमारी दुब्भिक्खं हणइ कुणइ सुहभावे । भावेण कीरमाणा सुपइट्ठा सयललोयस्स ॥ १७ ॥ जिणबिंबपइट्ठं जे करिंति तह कारविंति भत्तीए । अणुमण्णन्ति पइदिणं सव्वे सुहभाइणो होंति ॥ १८ ॥ दव्वं तमेव भणई जिणबिम्बपइट्ठणंमि धण्णाणं । जं लग्गइ तं सयलं दोग्गइजणणं हवइ सेसं ॥ १९ ॥ एवं नाऊण सया जिणवरबिम्बस्स कुणह सुपइट्ठं । पावेह जेण जरमरणवज्जियं सासयं ठाणं ॥ २० ॥ ततो मुखोद्घाटनकं कृत्वा शान्त्यर्थं शान्तिबलिं क्षिपेत् । ॐनमो भगवते अर्हते शान्तिनाथस्वामिने सकलकलातिशेषमहासम्पत्समन्विताय त्रैलोक्यपूजिताय नमोनमः शान्तिदेवाय सर्वामरसुसमुहस्वामिसम्पूजिताय भुवनपालनोद्यताय सर्वदुरितविनाशनाय सर्वाशिवप्रशमनाय सर्वदुष्टग्रहभूतपिशाचमारिशाकिनीप्रमथनाय नमो भगवति जये विजये अजिते अपराजिते जयन्ति जयावहे सर्वसङ्घस्य भद्रकल्याणमङ्गलप्रदे

राजा बलेन वर्धते यशसा धवलयति सकलदिशिभागे । पुण्यं वर्धते विपुलं सुप्रतिष्ठा यस्य देशे ॥ १६ ॥ उपहन्ति रोगमारी दुर्भिक्षं हन्ति करोति सुखभावे । भावेन क्रियमाणा सुप्रतिष्ठा सकललोकस्य ॥ १७ ॥ जिनविम्बं प्रतिष्ठितं ये कुर्वन्ति कारयन्ति भक्त्या । अनुमन्यन्ते प्रतिदिनं सर्वे सुखभागिनो भवन्ति ॥ १८ ॥ द्रव्यं तदेव भणति जिनविम्बप्रतिष्ठाने धन्यानाम् । यद् लगति तत् सकलं दुर्गतिजनकं भवति शेषम् ॥ १९ ॥ एवं ज्ञात्वा सदा जिनवरविम्बस्य कुरुत सुप्रतिष्ठाम् । प्राप्नुथ येन जरामरणवर्जितं शाश्वतं स्थानम् ॥ २० ॥

१ वंधियमिति पाठान्तरम् ।

साधूनां श्रीशान्तितुष्टिपुष्टिदे स्वस्तिदे भव्यानां सिद्धिवृद्धिनिर्वृत्तिनिर्वाणजनने सत्वानामभयप्रदानरते भक्तानां शुभावहे सम्यग्दृष्टीनां धृतिरतिमतिबुद्धिप्रदानोद्यते जिनशासनरतानां श्रीसम्पत्कीर्तियशोवर्धनि रोगजलज्वलनविषविषधरदुष्टज्वरव्यन्तरराक्षसरिपुमारिचौरईतिश्वापदोपसर्गादिभयेभ्यो रक्ष २ शिवं कुरु २ शान्तिं कुरु २ तुष्टिं कुरु २ पुष्टिं कुरु २ ॐनमो नमः हूं हः क्षः ह्रीं फट् २ स्वाहा ॥ शान्तिबलिमन्त्रः ॥ तदनु सङ्घादिपूजा दीनानाथादिदानं बन्धमोक्ष इति प्रवचनोद्भासनानिमित्तमवश्यं कर्तव्यमिति ॥ उक्तंच ॥ सत्तीए सङ्घपूया विसेसपूया य बहुगुणा एसा । जं एस सुए भणिओ तित्थयराणंतरो सङ्घो ॥ १ ॥ गुणसमुदओ य सङ्घो पवयण तित्थन्ति होइ एगट्ठा । तित्थयरोवि य एयं नमए गुरुभावओ चेव ॥ २ ॥ तप्पुव्विया अरहया पूइयपूया य विणयकम्मं य । कयकिच्चो(किचो)वि जह कहं कहेइ नमए तहा तित्थं ॥ ३ ॥ एयंमि पूइयंमि नत्थि तयं जं न पूइयं होइ । भुवणेवि पूयणिज्जं न गुणट्ठाणं जओ अन्नं ॥ ४ ॥ तप्पूयापरिणामो हंदि महाविसयमो मुणे-

१ शक्त्या सङ्घपूजा विशेषपूजा च बहुगुणा एषा । यत् एषः श्रुते भणितः तीर्थकरानन्तरः सङ्घः ॥ १ ॥ गुणसमुदयश्च सङ्घः प्रवचनं तीर्थमिति भवन्ति एकार्थाः । तीर्थंकरोपि च एनं नमति गुरुभावतश्चैव ॥ २ ॥ तत्पूर्विका अर्हत्ता पूजितपूजा च विनयकर्म च । कृतकृत्यो (कृतकृत्यो) पि यथा कथं कथयति नमति तथा तीर्थम् ॥ ३ ॥ एतस्मिन् पूजिते नास्ति (तकत्) तत् यत् न पूजितं भवति । भुवनेपि पूजनीयं न पुनः स्थानं यतः अन्यत् ॥ ४ ॥ तत्पूजापरिणामो हन्त महाविषयो मन्तव्यः । तद्देशपूजनेपि देवतापूजादि

१ गुरुभाव इति क. पाठः । २ गुणठाणं इति पञ्चाशके ।

यव्वो । तद्देसपूयणम्मि वि देवयपूयाइ नाएण ॥ ५ ॥ आसन्नसिद्धियाणं लिंगमिणं जिणवरेहिं पन्नत्तं । सङ्घंमि
चेव पूया सामन्नेणं गुणनिहिम्मि ॥ ६ ॥ एसा य महादाणं एसच्चिय होइ भावजन्नत्ति । एसो गिहत्थसारो एस-
च्चिय सम्पयामूलम् ॥ ७ ॥ एईए फलं एयं परमं निव्वाणमेव नियमेण । सुरनरसुहाइं अणुसंगियाइं इह किसि-
पलालं व ॥ ८ ॥ कयमत्थपसंगेणं उत्तरकालोइयं इयह्लिम्पि । अणुरूपं कायव्वं तित्थुन्नइकारगं नियमा ॥ ९ ॥
जइओ जणोवयारो विसेसओ णवरसयणवग्गम्मि । साहम्मियवग्गम्मि य एयं खलु परमवच्छल्लम् ॥ १० ॥
तदनन्तरमष्टाहिका देशकालकार्यवशात्र्यहिका वा नियमतः कर्तव्येति ॥ तथाचोक्तम् ॥ अट्ठाहिया य महिमा
सम्मं अणुबन्धसाहिया केइ । अहवा तिन्नि य दियहे निओगओ चेव कायव्वा ॥ ११ ॥ तदनु तथाविधकार्यवशात्

ज्ञातेन ॥ ५ ॥ आसन्नसिद्धिकानां लिङ्गमिदं जिनवरैः प्रज्ञप्तम् । सङ्घे चैव पूजा सामान्येन गुणनिधौ ॥ ६ ॥ एषा
च महादानं एषा चैव भवति भावयज्ञ इति । एष गृहस्थसारः एषापि च सम्पदामूलम् ॥ ७ ॥ अस्याः फलं एतत् परमं निर्वाणमेव नियमेन ।
सुरनरसुखानि आनुषङ्गिकाणि इह कृषिपलालमिव ॥ ८ ॥ कृतमर्थप्रसङ्गेण उत्तरकालोदितं इदानीमपि । अनुरूपं कर्तव्यं तीर्थोन्नति-
कारकं नियमात् ॥ ९ ॥ जनितो जनोपकारः विशेषतः नवरं स्वजनवर्गे । साधर्मिकवर्गे च एतत् खलु परमवात्सल्यम् ॥ १० ॥

१ कारणं इति ग. पाठः । २ अष्टाहिका च महिमा सम्यग् अनुबन्धसाधिका केचित् । अथवा त्रीन् च दिवसान्
नियोगतश्चैव कर्तव्या ॥ ११ ॥

प्रथमदिने तृतीयदिने वा विशेषपूजां विधाय लोकपालान् सम्पूज्य सुवासिनीमङ्गलपूर्वकं । ॐ ह्रूं भ्रूं क्ष्वीं सः इत्यनेन मन्त्रेण प्रतिसरोन्मोचनकं कृत्वा नन्दावर्तसंनिधौ गत्वा विसर्जनार्थमर्घं दत्वा भोगाङ्गानि पूर्वोक्तन्यायेन संहृत्य देवे संयोज्य संहारमुद्रया स्वस्थानं गच्छ गच्छ इत्यनेन मन्त्रेण पूजां द्वादशान्तमानीय शिरस्यारोप्य पूरकेण सापेक्षं क्षमस्वेति हृत्कमले विसर्जयेत् ॥ उक्तंच । अट्ठाहियावसाणे पडिस्सरोमुयणमेव कायवं । भूयबलिदीणदाणं एत्थंपि ससत्तिओ कुज्जा ॥ १ ॥ ततो घृतदुग्धदध्यादिभिः स्नानं विधाय अष्टोत्तरशतेन वारकाणां स्नापयेत् । ततो मासं प्रति द्वादश स्नपनानि कृत्वा पूर्णे संवत्सरे अष्टाहिकापूर्विकां विशेषपूजां विधाय दीर्घायुर्ग्रन्थिं नियन्धयेदित्येवमुत्तरोत्तरं विशेषपूजादिकं निःश्रेयसार्थिना सर्वदैवावहितेन कर्तव्यमिति । ईय सत्तिविहवसत्ताणुसारओ वण्णिया पइट्ठाउ । विहवाभावासत्तीए असढभावो इयं कुज्जा ॥ १ ॥ पुहइमयं पिहु अङ्गुट्ठमेत्तयं तणकुडाए विसुओ य । सुइभूओ जिणबिंबं ठविज्ज इमिणा विहाणेण ॥ २ ॥ संसारविरागमणो गरहानिंदाजुगुच्छियप्पाणो । काऊण भावमंगल पंचनमुक्काररूवं तु ॥ ३ ॥

१ तु अन्यत्रपुस्तके । २ अष्टाह्निकावसाने प्रतिसरोन्मोचनमेव कर्तव्यं भूतबलिदीनदानं अत्रापि स्वशक्तितः कुर्यात् ॥ ३ देवदाणमित्यन्यत्रपुस्तके । ४ इति शक्तिविभवसत्त्वानुसारतो वर्णिता प्रतिष्ठा तु । विभवाभावाशक्त्या अशठभाव इमां कुर्यात् ॥ १ ॥ पृथ्वीमयं पृथु अङ्गुष्ठमात्रकं तृणकुट्यां विश्रुतश्च । शुचिभूतो जिनविम्बं स्थापयेत् अनेन विधानेन ॥ २ ॥ संसारविरागमना गर्हानिन्दाजुगुप्सितात्मा । कृत्वा भावमङ्गलं पञ्चनमस्काररूपं तु ॥ ३ ॥

[1]कासस्स य कुसुमेहिं [2]पुण्हउ (सुरहि) सुरहिकुसुमविरहंमि। कारिज्ज पइट्ठं परमभत्तिबहुमाणसंजुत्तो ॥ ४ ॥ कलसाईणमभावे विरहे तह सेसमङ्गलाणं च। पञ्चनमुक्कारो चिय भावोत्तममंगलं नियमा ॥ ५ ॥ पज्जत्तमिणे णियमा मायालोहेहिं विप्पमुक्कस्स। पञ्चनमोक्कारेणं जं कीरइ मंगलाईयं ॥ ६ ॥ सव्वत्थ भावमङ्गल-पञ्चनमोक्कारपुव्विया किरिया। कायव्वा जिणबिंबाण सव्वभावेण सुपइट्ठा ॥ ७ ॥ मणिकयसुवन्नरीरीपडिमं पाहाणणिम्मिए भुवणे। जो ठवइ भत्तिजुत्तो तस्स दुहं नैव कइयावि ॥ ८ ॥ इय सामन्नपइट्ठा-विहाणमेयं समासओ भणियं। इण्हिं भणिमो लिप्पाइयाण अचलाण पडिमाणं ॥ ९ ॥ ॥ तत्र पूर्ववत् भूतबलिं दत्वा चैत्यवन्दनादिकं कर्म निवर्तयित्वा शुद्धदर्पणमानीय प्रतिमाभिमुखं स्नानमण्डपपीठिकायां प्रतिमावदादर्शप्रतिबिम्बितां शान्ताकृतिमभिषिच्य शेषं पूर्वविधिना निखिलमपि कर्म कर्तव्यमिति। एवमनेन विधिना

१ काशस्य च कुसुमैः पुण्यस्तु सुरभि सुरभिकुसुमविरहे। कारयेत् प्रतिष्ठां परमभक्तिबहुमानसंयुक्तः ॥ ४ ॥
कलशादीनामभावे विरहे तथा शेषमङ्गलानां च। पञ्चनमस्कारश्चैव भावोत्तममङ्गलं नियमात् ॥ ५ ॥
पर्याप्तमस्मिन् नियमात् मायालोभैर्विप्रमुक्तस्य। पञ्चनमस्कारेण यत् करोति मङ्गलादिकम् ॥ ६ ॥
सर्वत्र भावमङ्गलपञ्चनमस्कारपूर्विका क्रिया। कर्तव्या जिनबिम्बानां सर्वभावेण सुप्रतिष्ठा ॥ ७ ॥
मणिकट(काष्ठ)सुवर्णरीतिप्रतिमां पाषाणनिर्मिते भुवने। यः स्थापयति भक्तियुक्तस्तस्य दुःखं नैव कदापि ॥ ८ ॥
इति सामान्यप्रतिष्ठाविधानमेतत् समासतो भणितम्। इदानीं भणामो लेपादिकानां अचलानां प्रतिमानाम् ॥ ९ ॥
२ पुण्ह ॐ इति पाठान्तरम्। कचित् पुण्ह ॐ सुरहि सुरहि इति पाठो दृश्यते।

गयावत् विज्ञागाभ्यस्य चाभिमानादिरहितेनार्येण प्रतिष्टादिकं कर्तव्यमन्यथाकरणे भवपातः । तथाचोक्तम् । अविग्याणी उणियविहिं जिणविंबं जो ठवेइ मूढमणो । अहिमाणलोहजुत्तो निवडइ संसारजलहिम्मि ॥ १ ॥ सरस्वत्यादिप्रतिमानां च पूर्ववत् मण्डलादिकं कर्म कृत्वा स्वेन स्वेन मन्त्रेण प्रतिष्ठा कर्तव्येति । तत्र तासां प्रतिष्ठादिमन्त्राः । ॐ क्षूं नमः । ॐ ह्रीं हं ह्रीं नमः । ॐ जये श्रीं हँ सुभद्रेइं स्वाहा ॥ समस्तवैयावृत्यादीनामभिवासनाप्रतिष्ठासौभाग्यमन्त्रः । इदानीं विवरणे ॐ इं ह्रीं श्रीं ह्रीं इं सरस्वति अवतर २ तिष्ठ २ स्वाहा । ॐ ह्रीं माणिभद्रयक्ष अवतर २ तिष्ठ २ स्वाहा । ॐ ह्रीं वं ब्रह्मणे शान्ति अवतर २ तिष्ठ २ स्वाहा । ॐ ह्रीं अं अम्बिके अवतर २ तिष्ठ २ स्वाहा ॥ इति बिम्बप्रतिष्ठा तृतीया ॥ ॥ अथ मृतप्रतिष्ठाविधिः ॥ तत्र पूर्ववत् मण्डपप्रवेशं विधायोत्तरवेदिकायां यथाविभवतो हेममयं पुरुषं संनिधाय पूर्ववत् संस्नाप्य चन्दनादिना विलिप्य वस्त्रैः संछाद्य निवासमण्डपं समानीय वेदिकायां संस्थाप्य जिनाज्ञया यद्वाधितं द्वादशान्तात् समानीय तदनु । ॐ ह्रां आत्मन् त्वया जिनाज्ञया अत्र शरीरे संस्थातव्यमिति रेचकेन विन्यस्य कलाविद्यारागप्रभृतिबुद्धिअहङ्कारमनःश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाकाशवायुतेजोजलपृथ्वीलक्षणं साधिपानभिवाहिकं देहं विन्यस्य ॥ तद्यथा ॐ ह्रां कलायै नमः । ॐ ह्रां कलाधिपतये नमः । ॐ कलाधिपास्य

१ आचार्येण इति पाठान्तरम् । २ ॐ क्षुं ह्रीं क्षूं ह्रीं नमः । ॐ जये श्रीं ह्रीं सुभद्रे इँ स्वाहा इत्यन्यत्र ।

* अविद्यानी न्यूनविधि जिनबिम्बं यः स्थापयति मूढमनाः । अभिमानलोभयुक्तो निपतति संसारजलधौ ॥

कर्तृत्वव्यक्तिं कुरु २। ॐ हां विद्यायै नमः। ॐ हां विद्याधिपतये नमः। विद्याधिपास्य ज्ञानाभिव्यक्तिं कुरु २। ॐ हां रागाय नमः। ॐ हां रागाधिपतये नमः। रागाधिपास्य विषयेषु रागं कुरु २। ॐ हां बुद्ध्यै नमः। ॐ हां बुद्ध्यधिपतये नमः। बुद्ध्यधिपास्य बोधं कुरु २। ॐ हां अहङ्काराय नमः। ॐ हां अहङ्काराधिपतये नमः। अहङ्काराधिपास्याभिमानं कुरु २। ॐ हां मनसे नमः। ॐ हां मनोधिपतये चन्द्राय नमः। मनोधिपास्य संकल्पविकल्पं कुरु २। ॐ हां श्रोत्राभ्यां नमः। ॐ हां श्रोत्राधिपतये आदित्याय नमः। श्रोत्राधिपास्य शब्दग्राहकत्वं कुरु २। ॐ हां त्वचे नमः। ॐ हां त्वगधिपतये वायवे नमः। त्वगधिपास्य स्पर्शग्राहकत्वं कुरु २। ॐ हां चक्षुषे नमः। ॐ हां चक्षुरधिपतये रक्ताय नमः। चक्षुरधिपास्य रूपग्राहकत्वं कुरु २। ॐ हां घ्राणाय नमः। ॐ हां घ्राणाधिपतये अश्विभ्यां नमः। घ्राणाधिपास्य गन्धग्राहकत्वं कुरु २। ॐ हां वाचे नमः। ॐ हां वाचाधिपतये अग्नये नमः। वाचाधिपास्य वाचं कुरु २। ॐ हां पाणिभ्यां नमः। ॐ हां पाण्यधिपतये इन्द्राय नमः। पाण्यधिपास्य पदार्थग्राहकत्वं कुरु २। ॐ हां पादाभ्यां नमः। ॐ हां पादाधिपतये विष्णवे नमः। पादाधिपास्य गमनोत्साहं कुरु २। ॐ हां पायवे नमः। ॐ हां पाय्वधिपतये मित्राय नमः। पाय्वधिपास्य वायूत्सर्गं कुरु २। ॐ हां उपस्थाय नमः। ॐ हां उपस्थाधिपतये ब्रह्मणे नमः उपस्थाधिपास्यानन्दं कुरु २। ॐ हां शब्दाय नमः। ॐ हां स्पर्शाय नमः। ॐ हां रूपाय नमः। ॐ हां रसाय नमः। ॐ हां गन्धाय नमः। ॐ हां आकाशाय नमः। ॐ हां वायवे नमः। ॐ हां तेजसे नमः। ॐ हां अद्भ्यो नमः। ॐ हां पृथिव्यै नमः। एवं शेषतत्त्वजातं विन्यस्य

पुनरिडा पिङ्गला सुषमना सावित्री शङ्खिनी कूष्माण्डी यशोवती हस्तिजिह्वा पूषा अलम्बुषाख्यं नाडीदशकं
प्राणापानसमानोदानव्याननागकूर्मकृकदेवदत्तधनञ्जयाख्यवायुदशकं विन्यसेत्। ॐ हां इडायै नमः एवं सर्वा
अपि धनञ्जयान्ता विन्यसेत्। तदन्वाचार्यैः गन्धपुष्पाक्षतादिभिः सम्पूज्य मुद्राभिरालभ्यार्हदाज्ञया प्रासाद-
स्थितिपर्यन्तं त्वया स्थातव्यमित्यनेन मार्गेण धरान्तं निरोधयेत्। ततः शुकनासोर्ध्वं गर्भगृहे खट्वायां हेमाद्येक-
तमं कुम्भं मूर्तिभूतं विन्यस्य मधुघृताभ्यामापूर्य रत्नादिपञ्चकं विन्यस्य चन्दनादिना आलिप्य शुक्ले वाससी परि-
धाप्य रत्नपुरुषं विन्यसेत्। ततो भगवन्तं संपूज्याचार्याणां यथाशक्त्या पूजां विधाय भगवन्तं क्षामयेत्॥ ॥ इति
ध्वजप्रतिष्ठा चतुर्थी॥ ॥ अथ चूलिकादिप्रतिष्ठाविधिः॥ तत्र पूर्ववत् मण्डपवेदिकादिकं विधाय प्रतिष्ठोपयोगिद्रव्य-
जातमानीय भूतबलिं विधाय चैत्यवन्दनं कुर्यात्। तदनु चोत्तरवेदिकायां चूलकं कलशं ध्वजं धर्मचक्रं द्रव्य-
जातं चानीय रत्नौषधिकषायाष्टवर्गमृच्चन्दनसर्वौषध्यादिजलकलशैः संस्थाप्य श्वेते वाससी परिधाप्य अधिवा-
सनामण्डपं प्रदक्षिणीकृत्य पूर्वद्वारेणान्तः प्रविश्य मूलवेदिकायां पर्यङ्के निवेश्य प्रतिमावत् सर्वेषां विधा-
यात्ममन्त्रेण गन्धधूपपुष्पाक्षतादिभिरधिवास्य बलिं निवेदयेत्। तदनु प्रासादं गत्वा कुम्भकजङ्घाशिखरक-
ण्ठामलसारकेषु ब्रह्मपञ्चकं पृथिव्यादीनि च तत्त्वानि विन्यस्य पुष्पाक्षतादिभिर्मूलमन्त्रेण प्रासादमधिवास-
येत्। ततो ध्वजं स्वर्णनेत्रपट्टांशुकादिनिर्मितं कनकघण्टिकाघर्घरिकोपशोभितं विचित्रपुष्पकटकालङ्कृते धूप-

१ सुषुम्ना इति स्यात्।

भादिचिह्निते दण्डे संयोज्य ईशान्यां मण्डलके कुम्भं विन्यस्य तस्योपरि तलिकायां महाध्वजं प्रासादायतिमानं लग्नसमये कृत्वा देशिकः शिल्पी वाऽन्यतमो वा प्रासादं प्रदक्षिणीकृत्य शुभाशयः प्रासादमधिरोहयेत्। ततश्चारुशक्तिं चूलकाधारे रत्नपञ्चकं विन्यस्य वाममार्गानुगामिना प्राणेन चूलकं कलशं ध्वजं धर्मचक्रं च यथाक्रमं स्थापयेत्। ततश्च लग्नसमये ध्वजाधारे रत्नपञ्चकं निक्षिप्य प्रणवासनं दत्वा वामनाडीप्राणेन सहोर्ध्वीभूतं दण्डं मूलमन्त्रेण निवेशयेत्। ततो मुद्रासहिताभिमन्त्रितकलशेन तत्कालोचितफलैर्धान्यैश्च घटमापूर्य कलशस्याभिषेकं कृत्वा श्वेतवाससी परिधापयेत्। तदनु मङ्गलशङ्खतूर्यादिनिर्घोषैर्महाध्वजं प्रसार्य चतुर्विधश्रीश्रमणसङ्घेन स्वबान्धवयुतेन यजमानेन सह प्रदक्षिणात्रयं विधाय आचार्यो ध्वजाग्रं श्रीमद्देवपादमूले संनिरोध्य शान्तिबलिं प्रक्षिप्य देवं सम्पूज्य क्षमापयेत्। तदनुकारापकायध्वजचटापनफलं श्रावयेत्॥ तद्यथा॥ देवस्यायतने भक्त्या ध्वजमारोपयन्ति ये। त्रैलोक्यश्रीस्तनोत्सङ्गे स्वं[1] समारोपयन्ति ते॥ १॥ धत्ते ध्वजोत्र धन्यानां सुरसद्मशिरःस्थितः। तरङ्गिततनुः साक्षात् स्वर्गनिःश्रेणिरूपताम्॥२॥ यावन्तः प्राणिनस्तत्र लग्नाः कुर्युः प्रदक्षिणाः। तावन्तः प्राप्नुवन्त्यत्र शिवस्थानकमुत्तमम्॥ ३॥ स च श्रुत्वा कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानो देवगुरुसङ्घपूजां विधाय दीनानाथानां चानुकम्पया स्वविभवानुरूपमन्नदानादिकं दद्यादिति॥ दण्डं च नूतनं वेणुमयं अव्यङ्गं सत्वचं सरलं शुभदेशजं प्रवर्धमानपर्व सर्वलक्षणसंयुतमाचार्यो गृहीत्वा देव-

१ त्वामिति पाठान्तरम्।

प्रासादमानेन प्रमाणं परिकल्पयेत् । तच्च हस्तात्प्रभृति नवहस्तपर्यन्तेषु प्रतिमाप्रासादेषु चतुष्करादारभ्य त्रिवृद्ध्या दण्डप्रमाणमवसेयम् । ध्वजं चायामतो जङ्घार्धलम्बिजङ्घान्तं दण्डप्रमाणं च कर्तव्यम् । विस्तरतस्तु दशाद्यावत्षोडशाङ्गुल इति । मुक्ते हस्तोच्छ्रिते कलशात्कर्ता रोगातङ्कवर्जितः स्यात् । द्विहस्तोच्छ्रिते बहुप्रजो भवति । त्रिहस्तोच्छ्रिते धनधान्यैर्वर्धते । चतुर्हस्तोच्छ्रिते नृपवृद्धिः । पञ्चहस्तोच्छ्रिते सुभिक्षं राष्ट्रवृद्धिश्चेति । तथा प्राच्यां गते कर्ता सर्वकामावाप्तिं आग्नेय्यां तापं याम्यां व्याधिभयं नैर्ऋत्यां रोगातङ्कं वारुण्यां मित्रभावं वायव्यां धान्यसम्पदं उदीच्यां धनलाभं ऐशान्यामायुर्वृद्धिं प्राप्नोतीति ॥ तत्राशुभाशागते केतौ नमस्कारसहस्रं जपित्वा विशेषपूजां विधाय शान्तिं कुर्यात् ॥ इति शङ्कुप्रतिष्ठा पञ्चमी ॥

॥ अथ वेदिकालक्षणम् ॥ तत्र नन्दा सुनन्दा प्रबुद्धा सुप्रभा सुमङ्गला कुमुदमाला विमला पुण्डरीकिण्याख्या अष्टवेदिकाः । तत्रायामविस्ताराभ्यां हस्तप्रमाणा चतुरङ्गुलोच्छ्रया नन्दा । शेषास्तु विष्कम्भायामयोर्यथोत्तरं ह्रासवृद्ध्या पिण्डे चतुरङ्गुलाधिक्येनोत्तरोत्तरप्रवृद्धाः स्युः । तासां च मध्ये पूर्ववच्चतुरस्रं क्षेत्रं संसाध्य नन्दादिष्वेकतमां विचित्रमणिमयेन रजसा वेदिकां निष्पाद्य तत्कोणेषु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां यथाक्रमं पलाशन्यग्रोधोदुम्बरशमीमयान् कीलकान्निवेशयेत् । यद्वा सर्वेषां वर्णानां वंशमयाः शस्तास्ते सर्वेऽप्येकदारुमया निर्व्रणा ऊर्ध्वशाखाश्रिता राजिकोटरवर्जिता निर्ग्रन्थयो द्वादशाङ्गुलप्रमाणाः कर्तव्याः । तेच काष्ठलोष्ठलोहाश्मभिर्न हन्तव्याः । वेधश्च त्याज्यः ॥ इति वेदिकालक्षणम् ॥

॥ अथ जीर्णोद्धारविधिः ॥

॥ तत्र खण्डितस्फुटितभग्नवलितपतितजीर्णदग्धसगर्भव्रणदूषितन्यूनाधिकवक्रविकरालभीषणदोषदुष्टं मन्त्रासन्निधानात् पिशाचादीनामधिष्ठानभूतं बिम्बमुद्धृत्य बिम्बान्तरं प्रतिष्ठापयेत्। मन्त्राचार्यः[1] प्रातरुत्थाय कृतशौचस्नानविधिर्विहितसकलीकरणः खण्डितस्फुटितभग्नादिकारणैर्बिम्बान्तरं[2] कर्तुकामः शान्त्यर्थं दिक्पालानां बलिं दद्यात्। ततः ॐ इन्द्राय प्रतिगृह्ण स्वाहा। ॐ अग्नये प्रतिगृह्ण स्वाहा। ॐ यमाय प्रतिगृह्ण स्वाहा। ॐ नैर्ऋतये प्रतिगृह्ण स्वाहा। ॐ वरुणाय प्रतिगृह्ण स्वाहा। ॐ वायवे प्रतिगृह्ण स्वाहा। ॐ कुबेराय प्रतिगृह्ण स्वाहा। ॐ ईशानाय प्रतिगृह्ण स्वाहा। ॐ ब्रह्मणे प्रतिगृह्ण स्वाहा। ॐ नागाय प्रतिगृह्ण स्वाहा। इति स्वस्वदिक्षु यथाक्रमं बहिर्बलिं प्रक्षिप्य वायव्यां ॐ क्षं क्षेत्रपालाय स्वाहेति क्षेत्रपालाय बलिं दत्वा। ॐ सर्वभूतेभ्यो वषट् स्वाहेति भूतादीन् संतर्प्य चैत्यादिवन्दनं कृत्वा मण्डलसमीपमागत्य स्वासनं प्रणवेन संपूज्य समुपविश्य भूतशुद्धिं सकलीकरणं विशेषार्घपात्रद्रव्यशुद्धिं कृत्वा आसनपूजाप्रभृत्यावाहनान्तं कर्म कृत्वाऽर्घपाद्याचमनीयानि दत्वा नित्यविधिना साङ्गं भगवन्तं सम्पूज्य। ततः प्राच्यां। ॐ इन्द्राय स्वाहा। ॐ वज्राय स्वाहा। आग्नेय्यां ॐ अग्नये स्वाहा। ॐ शक्तये स्वाहा। याम्यायां ॐ यमाय स्वाहा। ॐ दण्डाय स्वाहा। नैर्ऋत्यां ॐ नैर्ऋतये स्वाहा। ॐ खड्गाय स्वाहा। वारुण्यां ॐ वरुणाय स्वाहा। ॐ पाशाय स्वाहा। वायव्यां ॐ वायवे स्वाहा।

१ तत्राचार्य इति पाठान्तरम्। २ खण्डितभग्नादि इति पाठः।

ॐ ध्वजाय स्वाहा । उत्तरस्यां ॐ कुबेराय स्वाहा । ॐ गदायै स्वाहा । ऐशान्यां ॐ ईशानाय स्वाहा । ॐ शू-
लाय स्वाहा । अत्रैव ॐ ब्रह्मणे स्वाहा । ॐ पद्माय स्वाहा । नैर्ऋत्यां ॐ नागाय स्वाहा । ॐ उत्तराय स्वाहा ।
एवं सास्त्राँल्लोकपालान् संपूज्य तदनु भो भोः शक्र त्वया स्वस्यां दिशि विघ्नप्रशान्तये सावधानेन शान्ति-
कर्मान्तं यावद्भगवदाज्ञया स्थातव्यमित्यनेन क्रमेण सर्वलोकपालान् भगवदाज्ञां श्रावयन्नक्षदुर्गमनुस्मरन्
मण्डपस्याभ्यन्तरे समन्तादर्घाम्भसां सेचनेन विघ्नोचाटनं विधाय देवसन्निधिं गत्वा सम्पूज्य प्रातिलोम्येन
विसर्जनार्थमर्घं दत्वा भगवन्तं बिम्बमिदमशेषदोषावहमस्य चोद्धारे सति शान्तिः स्यादिति भगवतोक्तं ।
अतोऽस्य समुद्धाराय समुद्यतं मामधितिष्ठैवं कुर्विति लब्धानुज्ञो हेमाद्येकतमं कुम्भमानीय गालिताम्भसा प्रपूर्य
चन्दनपुष्पाक्षतैः सम्पूज्य मूलमन्त्रेणाभिमन्त्र्य मुद्राभिरालभ्य देवं स्नपयेत् । तदनु बिम्बसंचालनार्थं साहस्रिकं
जपं कृत्वा सुवर्णपुष्पाणामष्टोत्तरशतेन बिम्बस्य पूजां विधाय प्रतिमासमीपमागत्य प्रतिमाङ्गस्थितं सत्वं
श्रावयेत् ॥ प्रतिमारूपमास्थाय येनादौ समधिष्ठिता । स शीघ्रं प्रतिमां त्यक्त्वा यातु स्थानं समीहितम् ॥ इति
एवमुक्त्वा ॐ विसर २ स्वस्थानं गच्छेत्यनेन मन्त्रेणार्घं दत्वा प्रतिमाधिष्ठायकं देवविशेषं विसर्जयेत् । ततो
हेमेन रानिश्रेणाक्षाभिमश्रितेनोत्थाप्य हेमपाशया रज्ज्वा शिखायां प्रतिमां सन्नह्य गजादिस्कन्धं संयोज्य
लोकैः सह शान्तिर्भवत्विति वहिर्देवं नीत्वा शैलमयं बिम्बमगाधेऽम्भसि शिखरिणि वा क्षिपेत् । तथा मृन्मयं

१ नागाय इति स्यात् । २ म्भसा इति ख. पाठः । ३ विघ्नोद्घाटनं इति पाठान्तरम् । ४ गजादेः स्कन्धमिति पाठान्तरम् ।

रत्नमयं वाअग्न्यादिदग्धमपि रत्नजं स्वतेजःस्थानवियुक्तं पूर्ववत् प्रतिष्ठापयेत् । सुवर्णादिलोहमयं तदेव समं विधाय तत्रैव स्थापयेत् । अनेनैव विधिना चूलकध्वजप्रासादादिकं वा दोषयुक्तं विसर्जयेत् ॥ प्रासादे चायं विशेषः ॥ प्रासादे मन्त्रानङ्गे समायोज्य बिम्बं संरक्ष्य प्रासादनिष्पत्तिपर्यन्तं षडङ्गं संपूजयेत् । निष्पन्ने च प्रासादे षडङ्गमन्त्रान् संहृत्य समुदायेन यथास्थानं मन्त्रन्यासः कार्य इति जीर्णोद्धारं विधाय प्रायश्चित्तजपं कुर्यात् । तदनु आचार्याणां दक्षिणां दत्वा क्षमस्वेति विसर्जयेत् । एवं जीर्णबिम्बादिकमुद्धृत्य तन्मयं तत्प्रमाणं तदाकारं अन्यत् बिम्बादिकं यथोक्तविधिना प्रतिष्ठापयेत् ॥ इति जीर्णोद्धारविधिः ॥

॥ अथ मुद्राविधिः ॥

तत्र दक्षिणाङ्गुष्ठेन तर्जनीमध्यमे समाक्रम्य पुनर्मध्यमामोक्षणेन नाराचमुद्रा ॥ १ ॥ किञ्चिदाकुञ्चिताङ्गुलीकस्य वामहस्तोपरि शिथिलमुष्टिदक्षिणकरस्थापनेन कुम्भमुद्रा ॥ २ ॥ इति शुद्धिमुद्राद्वयं ॥ बद्धमुष्ट्योः करयोः संलग्नसन्मुखाङ्गुष्ठयोः हृदयमुद्रा ॥१॥ तावेव मुष्टी समीकृतोर्ध्वाङ्गुष्ठौ शिरसि विन्यसेदिति शिरोमुद्रा ॥ २॥ पूर्ववत् मुष्टी बध्वा तर्जन्यौ प्रसारयेदिति शिखामुद्रा ॥ ३ ॥ पुनर्मुष्टिबन्धं विधाय कनीयस्यङ्गुष्ठौ प्रसारयेदिति कवचमुद्रा ॥ ४ ॥ कनिष्ठिकामङ्गुष्ठेन संपीड्य शेषाङ्गुलीः प्रसारयेदिति क्षुरप्रमुद्रा ॥ ५ ॥ दक्षिणकरेण मुष्टिं बध्वा तर्जनीमध्यमे प्रसारयेदिति अस्त्रमुद्रा ॥ ६ ॥ एता हृदयादीनां विन्यसनमुद्राः ॥ प्रसारिताधोमुखाभ्यां हस्ताभ्यां पादाङ्गुलीतलामस्तकस्पर्शान्महामुद्रा ॥ १ ॥ अन्योन्यग्रन्थिताङ्गुलीषु कनिष्ठिकानामिकयो-

मध्यमातर्जन्योश्च संयोजनेन गोस्तनाकारा धेनुमुद्रा ॥ २ ॥ हस्ताभ्यामञ्जलिं कृत्वा प्रकाममूलपर्वाङ्गुष्ठसंयोजनेनावाहनीमुद्रा ॥ ३ ॥ इयमेवाधोमुखी स्थापनी ॥ ४ ॥ संलग्नमुष्ट्युच्छ्रिताङ्गुष्ठौ करौ संनिधानी[1] ॥ ५ ॥ तावेव गर्भगाङ्गुष्ठौ निष्ठुरा ॥ ६ ॥ एता आवाहनादिमुद्राः ॥ बद्धमुष्टेर्दक्षिणहस्तस्य मध्यमातर्जन्योर्विस्फारितप्रसारणेन गोष्टपमुद्रा ॥१॥ बद्धमुष्टेर्दक्षिणहस्तस्य प्रसारिततर्जन्या वामहस्ततलताडनेन त्रासनीमुद्रा ॥२॥ एते नेत्रास्त्रयोः पूजामुद्रे ॥ अङ्गुष्ठे तर्जनीं संयोज्य शेपाङ्गुलीप्रसारणेन पाशमुद्रा ॥१॥ बद्धमुष्टेर्वामहस्तस्य तर्जनीं प्रसार्य किंचिदाकुञ्चयेदित्यङ्कुशमुद्रा ॥ २ ॥ संहतोर्ध्वाङ्गुलिवामहस्तमूले चाङ्गुष्ठं तिर्यग्विधाय तर्जनीचालनेन ध्वजमुद्रा ॥३॥ दक्षिणहस्तमुत्तानं विधायाधःकरशाखां प्रसारयेदिति वरदमुद्रा ॥४॥ एता जयादिदेवतानां पूजामुद्राः ॥ वामहस्तेन मुष्टिं बध्वा कनिष्ठिकां प्रसार्य शेपाङ्गुली कराङ्गुष्ठेन पीडयेदिति शङ्खमुद्रा ॥ १ ॥ परस्पराभिमुखहस्ताभ्यां वेणीबन्धं विधाय मध्यमे प्रसार्य संयोज्य च शेषाङ्गुलीभिर्मुष्टी[2] बन्धयेदिति शक्तिमुद्रा ॥२॥ हस्तद्वयेनाङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां वलके विधाय परस्परान्तःप्रवेशनेन शृङ्खलामुद्रा[3] ॥ ३ ॥ वामहस्तस्योपरि दक्षिणकरं कृत्वा कनिष्ठिकाङ्गुष्ठाभ्यां मणिबन्धं संवेष्ट्य शेपाङ्गुलीनां विस्फारितप्रसारणेन वज्रमुद्रा ॥ ४ ॥ वामहस्ततले दक्षिणहस्तमूलं संनिवेश्य करशाखा विरलीकृत्य प्रसारयेदिति चक्रमुद्रा ॥ ५ ॥ पद्माकारौ करौ कृत्वा मध्येऽङ्गुष्ठौ कर्णिकाकारौ विन्यसेदिति पद्ममुद्रा ॥६॥ वामहस्तमुष्टेरुपरि दक्षिणमुष्टिं कृत्वा गात्रेण सह किञ्चि-

१ संनिधापनी इति स्यात् । २ मुष्टिं इति ख. ङ. पाठः । ३ शङ्खलमुद्रा इति पाठः ।

दुन्नामयेदिति गदामुद्रा ॥ ७ ॥ अधोमुखवामहस्ताङ्गुलीर्घण्टाकाराः प्रसार्य दक्षिणेन मुष्टिं बध्वा तर्जनीमूर्ध्वां कृत्वा वामहस्ततले नियोज्य घण्टावचालनेन घण्टामुद्रा ॥ ८ ॥ उन्नतपृष्ठहस्ताभ्यां संपुटं कृत्वा कनिष्ठिके निष्कास्य योजयेदिति कमण्डलुमुद्रा ॥ ९ ॥ पताकावत् हस्तं प्रसार्य अङ्गुष्ठयोजनेन परशुमुद्रा ॥ १० ॥ यद्वा पताकाकारं दक्षिणकरं संहताङ्गुलिं कृत्वा तर्जन्यङ्गुष्ठाक्रमणेन परशुमुद्रा द्वितीया ॥ ११ ॥ ऊर्ध्वदण्डौ करौ कृत्वा पद्मवत् करशाखाः प्रसारयेदिति वृक्षमुद्रा ॥ १२॥ दक्षिणहस्तं संहताङ्गुलिमुन्नमय्य सर्पफणावत् किञ्चिदाकुञ्चयेदिति सर्पमुद्रा ॥ १३ ॥ दक्षिणकरेण मुष्टिं बद्ध्वा तर्जनीमध्यमे प्रसारयेदिति खड्गमुद्रा ॥ १४ ॥ हस्ताभ्यां संपुटं विधायाङ्गुलीः पद्मवद्विकास्य मध्यमे परस्परं संयोज्य तन्मूललग्नाङ्गुष्ठौ कारयेदिति ज्वलनमुद्रा ॥१५॥ बद्धमुष्टेर्दक्षिणकरस्य मध्यमाङ्गुष्ठतर्जन्योस्तलान्मूलाक्रमेण प्रसारयेदिति श्रीमणिमुद्रा ॥ १६ ॥ एताः षोडशविद्यादेवीनां मुद्राः ॥ ॥ दक्षिणहस्तेन मुष्टिं बद्ध्वा तर्जनीं प्रसारयेदिति दण्डमुद्रा ॥ १ ॥ परस्परोन्मुखौ मणिबन्धाभिमुखकरशाखौ करौ कृत्वा ततो दक्षिणाङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां वाममध्यमानामिके तर्जनीं च तथा वामाङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यामितरस्य मध्यमानामिके तर्जनीं समाक्रमयेदिति पाशमुद्रा ॥२॥ परस्पराभिमुखमूर्ध्वाङ्गुल्यौ करौ कृत्वा तर्जनीमध्यमानामिका विरलीकृत्य परस्परं संयोज्य कनिष्ठिकाङ्गुष्ठौ पातयेदिति शूलमुद्रा ॥३॥ यद्वा पताकाकारं करं कृत्वा कनिष्ठिकामङ्गुष्ठेनाक्रम्य शेषाङ्गुलीः प्रसारयेदिति शूलमुद्रा द्वितीया ॥ ४ ॥ एताः

१ दक्षिणमुष्टिं इति पाठः ।

पूर्वोक्ताभिः सह दिक्पालानां मुद्राः ॥ ॥ ग्राह्यस्योपरि हस्तं प्रसार्य कनिष्ठिकादितर्जन्यन्तानामङ्गुलीनां क्रमसङ्कोचनेनाङ्गुष्ठमूलानयनात् संहारमुद्रा विसर्जनमुद्रेयम् ॥ उत्तानहस्तद्वयेन वेणीबन्धं विधायाङ्गुष्ठाभ्यां कनिष्ठिके तर्जनीभ्यां च मध्यमे संगृह्यानामिके समीकुर्यादिति परमेष्ठिमुद्रा ॥१॥ यद्वा वामकराङ्गुलीरूर्ध्वीकृत्य मध्यमां मध्यमे कुर्यादिति द्वितीया ॥ २ ॥ पराङ्मुखहस्ताभ्यां वेणीबन्धं विधायाभिमुखीकृत्य तर्जन्यौ संश्लेष्य शेषाङ्गुलिमध्ये अङ्गुष्ठद्वयं विन्यसेदिति पार्श्वमुद्रा ॥३॥ एता देवदर्शनमुद्राः ॥ ॥ इदानीं प्रतिष्ठोपयोगिमुद्राः । उत्तानौ किञ्चिदाकुञ्चितकरशाखौ पाणी विधारयेदिति अञ्जलिमुद्रा ॥ १ ॥ अभयाकारौ समश्रेणिस्थिताङ्गुलीकौ करौ विधायाङ्गुष्ठयोः परस्परग्रथनेन कपाटमुद्रा ॥ २ ॥ चतुरङ्गुलमग्रतः पादयोरन्तरं किञ्चिन्न्यूनं च पृष्ठतः कृत्वा समपादकायोत्सर्गेण जिनमुद्रा ॥३॥ परस्पराभिमुखौ ग्रथिताङ्गुलीकौ करौ कृत्वा तर्जनीभ्यामनामिके गृहीत्वा मध्यमे प्रसार्य तन्मध्येऽङ्गुष्ठद्वयं निक्षिपेदिति सौभाग्यमुद्रा ॥ ४ ॥ वामहस्ताङ्गुलितर्जन्या कनिष्ठिकामाक्रम्य तर्जन्यग्रं मध्यमया कनिष्ठिकाग्रं पुनरनामिकया आकुञ्च्य मध्येऽङ्गुष्ठं निक्षिपेदिति योनिमुद्रा ॥ ५ ॥ आत्मनोऽभिमुखदक्षिणहस्तकनिष्ठिकया वामकनिष्ठिकां संगृह्याधःपरावर्तितहस्ताभ्यां गरुडमुद्रा ॥ ६ ॥ संलग्नौ दक्षिणाङ्गुष्ठाक्रान्तवामाङ्गुष्ठपाणीति नमस्कृतिमुद्रा ॥ ७ ॥ किञ्चित् गर्भितौ हस्तौ समौ विधाय ललाटदेशयोजनेन मुक्ताशुक्तिमुद्रा ॥ ८ ॥ जानुहस्तोत्तमाङ्गादिसंप्रणिपातेन प्रणिपातमुद्रा ॥ ९ ॥ संमुखहस्ताभ्यां वेणीबन्धं विधाय मध्यमाङ्गुष्ठकनिष्ठिकानां परस्परयोजनेन त्रिशिखमुद्रा ॥ १० ॥ पराङ्मुखहस्ताभ्यामङ्गुलीर्वि-

दर्भ्य मुष्टिं बध्वा तर्जन्यौ समीकृत्य प्रसारयेदिति भृङ्गारमुद्रा ॥ ११ ॥ वामहस्तमणिबन्धोपरि पराङ्मुखं दक्षिणकरं कृत्वा करशाखा विदर्भ्य किञ्चिद्वामवलनेनाधोमुखाङ्गुष्ठाभ्यां मुष्टिं बध्वा समुत्क्षिपेदिति योगिनीमुद्रा ॥ १२॥ ऊर्ध्वशाखं वामपाणिं कृत्वाऽङ्गुष्ठेन कनिष्ठिकामाक्रमयेदिति क्षेत्रपालमुद्रा ॥ १३ ॥ दक्षिणकरेण मुष्टिं बध्वा कनिष्ठिकाङ्गुष्ठौ प्रसार्य डमरुकवच्चालयेदिति डमरुकमुद्रा ॥ १४ ॥ दक्षिणहस्तेनोर्ध्वाङ्गुलिना पताकाकारेणाभयमुद्रा ॥ १५ ॥ तेनैवाधोमुखेन वरदा ॥ १६ ॥ वामहस्तस्य मध्यमाङ्गुष्ठयोजनेन अक्षसूत्रमुद्रा ॥ १७ ॥ बद्धमुष्टेर्दक्षिणहस्तस्य प्रसारिततर्जन्या वामहस्ततलताडनेन त्रासनी ॥१८॥ पद्ममुद्रेव प्रसारिताङ्गुष्ठसंलग्नमध्यमाङ्गुल्यग्रा बिम्बमुद्रा[1] ॥ १९ ॥ एताः सामान्यमुद्राः ॥ इति मुद्राविधिः ॥

॥ अथ प्रायश्चित्तविधिः ॥

तत्र श्रेष्ठबिम्बे नष्टे दग्धे तस्करादिहृते मूलमन्त्रस्य लक्षं जपित्वा बिम्बान्तरप्रतिष्ठापनेन शुद्ध्यति। हस्तात्पतिते व्यङ्गे दशसहस्रं जपित्वा पुनः पूजां कुर्यात्। द्विहस्तात्पतिते व्यङ्गे लक्षमेकं जपित्वा पुनः संस्कारेण शुद्ध्यति। पुरुषमात्रात्पतिते प्रयत्नपूर्वं सशलाके सर्वतो विशीर्णे प्रायश्चित्तं नास्तीति। अस्यायमर्थः—शलाकाभेदघातस्यातिगुरुत्वान्न प्रतिमादिना भवितव्यम्। स्थण्डिलेऽप्यावाहनादिषु[2] समासे पूजाकर्मण्यविसर्जित एव देवेशे[3] प्रमादादुपघाते जाते अर्चापुष्पादिभ्यो मन्त्रान् संहृत्य सहस्रपञ्चकं जपित्वा साधून् भोजयेत्। देवो-

१ विश्वमुद्रा इत्यन्यत्र। २ अथावाहनादिषु इति ख. ग. पाठः। ३ दैवेन इति ग. पाठः।

पकरणं पादेन स्पृष्ट्वा शतपञ्चकं जपेत् । सन्ध्यालोपे नीरुजः सोपवासं शतं जपेत् । सरुजः शतं जपेदेव । एकाहं देवस्यानर्चने त्रिरात्रमुपोषितः प्रत्यहं त्रिशतं जपेत् । निर्माल्यभक्षणे त्वकामान्नमस्कारायुतं (दशसहस्रं) जपेत् । ततो विशेषपूजया तपस्विदानेन शुद्ध्यति । कामतो लक्षं नमस्कारस्यावर्त्योपवासपञ्चकं कुर्यात् । निर्माल्यभेदाः कथ्यन्ते ॥ देवस्वं देवद्रव्यं नैवेद्यं निवेदितं निर्माल्यं चेति । देवसम्बन्धिग्रामादि देवस्वं । अलंकारादि देवद्रव्यम् । देवार्थमुपकल्पितं नैवेद्यम् । तदेवोत्सृष्टं निवेदितं । बहिर्निक्षिप्तं निर्माल्यम् । पञ्चविधमपि निर्माल्यं न जिघ्रेन्नावलङ्घयेत् न च दद्यान्न विक्रीणीत । दत्वा क्रव्यादो भवति भुक्त्वा मातङ्गो लङ्घने सिद्धिहानिः आघ्राणे वृक्षः स्पर्शने स्त्रीत्वं विक्रये शबरः । पूजायां दीपालोकनधूपान्नादिगन्धे न दोषः । नदीप्रवाहनिर्माल्येऽपि च । सूतकशावाशौचयोः परकीययोर्न भोक्तव्यम् । भुक्त्वा वा अकामतः समुपोष्य मन्त्रसहस्रं जपेत् । कामतस्तूपवासत्रयं कृत्वा मूलमन्त्रं सहस्रत्रयमावर्तयेत् । आत्मसम्बन्धिनोः सूतकशावाशौचयोः सूतकिजनसंस्पर्शं विधाय पृथक्पाकेन भोक्तव्यमन्यथा नित्यहानिर्भवति । अथ सूतके शावाशौचे च सुधर्मस्थेन क्रियानुष्ठानपरेण ज्ञानवता वृत्तवता च न नित्यक्षतिः कार्या । यदि च नित्यानुष्ठानं न भवति प्रमादात् सूतकिसंसृष्टासाधारणपाकभोजनं वा तदा स उपोष्य सहस्रं जपेत् । कामतस्त्रिगुणं तदेव । आह्निकदेवतार्चनादिलोपे मूलमन्त्रस्यायुतं जपेत् । समुपोष्य शतं वा जपेत् ॥ इति प्रायश्चित्तविधिः ॥

॥ अथार्हदादीनां वर्णादिक्रमविधिः ॥

तत्राद्यं कनकावदातवृषलाञ्छनमुत्तराषाढाजातं धनूराशिं चेति । तथा तत्तीर्थोत्पन्नगोमुखयक्षं हेमवर्णगजवाहनं चतुर्भुजं वरदाक्षसूत्रयुतदक्षिणपाणिं मातुलिङ्गपाशान्वितवामपाणिं चेति । तथा तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नामप्रतिचक्राभिधानां यक्षिणीं हेमवर्णां गरुडवाहनामष्टभुजां वरदबाणचक्रपाशयुक्तदक्षिणकरां धनुर्वज्रचक्राङ्कुशवामहस्तां चेति ॥ १ ॥ ॥ द्वितीयमजितस्वामिनं हेमाभं गजलाञ्छनं रोहिणीजातं वृषराशिं चेति । तथा तत्तीर्थोत्पन्नं महायक्षाभिधानं यक्षेश्वरं चतुर्मुखं श्यामवर्णं मातङ्गवाहनमष्टपाणिं वरदमुद्गराक्षसूत्रपाशान्वितदक्षिणपाणिं बीजपूरकाभयाङ्कुशशक्तियुक्तवामपाणिपल्लवं चेति । तथा तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नामजिताभिधानां यक्षिणीं गौरवर्णां लोहासनाधिरूढां चतुर्भुजां वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरां बीजपूरकाङ्कुशयुक्तवामकरां चेति॥२॥ ॥ तथा तृतीयं सम्भवनाथं हेमाभं अश्वलाञ्छनं मृगशिरजातं मिथुनराशिं चेति। तस्मिंस्तीर्थे समुत्पन्नं त्रिमुखयक्षेश्वरं त्रिमुखं त्रिनेत्रं श्यामवर्णं मयूरवाहनं षड्भुजं नकुलगदाभययुक्तदक्षिणपाणिं मातुलिङ्गनागाक्षसूत्रान्वितवामहस्तं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां दुरितारिदेवीं गौरवर्णां मेषवाहनां चतुर्भुजां वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरां फलाभयान्वितवामकरां चेति ॥३॥ ॥ तथा चतुर्थमभिनन्दनजिनं कनकद्युतिं कपिलाञ्छनं श्रवणोत्पन्नं मकरराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नमीश्वरयक्षं श्यामवर्णं गजवाहनं चतुर्भुजं मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुतदक्षिणपाणिं नकुलाङ्कुशान्वितवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां कालिकादेवीं श्यामवर्णां

चतुर्भुजां वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणभुजां नागाङ्कुशान्वितवामकरां चेति ॥ ४ ॥ ॥ तथा पञ्चमं सुमति-जिनं हेमवर्णं क्रौञ्चलाञ्छनं मघोत्पन्नं सिंहराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं तुम्बरुयक्षं गरुडवाहनं चतुर्भुजं वरदशक्तियुतदक्षिणपाणिं नागपाशयुक्तवामहस्तं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां महाकालीं देवीं सुवर्णवर्णां पद्मवाहनां चतुर्भुजां वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरां मातुलिङ्गाङ्कुशयुक्तवामभुजां चेति ॥ ५ ॥ ॥ तथा षष्ठं पद्मप्रभं रक्तवर्णं कमललाञ्छनं चित्रानक्षत्रजातं कन्याराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं कुसुमं यक्षं नीलवर्णं कुरङ्गवाहनं चतुर्भुजं फलाभययुक्तदक्षिणपाणिं नकुलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नामच्युतां देवीं श्यामवर्णां नरवाहनां चतुर्भुजां वरदवीणान्वितदक्षिणकरां कार्मुकाभययुतवामहस्तां चेति ॥ ६ ॥ ॥ तथा सप्तमं सुपार्श्वं हेमवर्णं स्वस्तिकलाञ्छनं विशाखोत्पन्नं तुलाराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं मातङ्गयक्षं नीलवर्णं गजवाहनं चतुर्भुजं विल्वपाशयुक्तदक्षिणपाणिं नकुलकाङ्कुशान्वितवामपाणिं चेति। तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां शान्तादेवीं सुवर्णवर्णां गजवाहनां चतुर्भुजां वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरां शूलाभययुतवामहस्तां चेति ॥७॥ ॥ तथा-ष्टमं चन्द्रप्रभजिनं धवलवर्णं चन्द्रलाञ्छनं अनुराधोत्पन्नं वृश्चिकराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं विजययक्षं हरितवर्णं त्रिनेत्रं हंसवाहनं द्विभुजं दक्षिणहस्ते चक्रं वामे मुद्गरमिति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां भृकुटिदेवीं पीतवर्णां वराह(विडाल)वाहनां चतुर्भुजां खड्गमुद्गरान्वितदक्षिणभुजां फलकपरशुयुतवामहस्तां चेति ॥ ८ ॥

१ बाण इति पाठान्तरम् । २ विराल इति पाठान्तरम् ।

॥ तथा नवमं सुविधिजिनं धवलवर्णं मकरलाञ्छनं मूलनक्षत्रजातं धनूराशिं चेति। तत्तीर्थोत्पन्नमजितयक्षं श्वेतवर्णं कूर्मवाहनं चतुर्भुजं मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिं नकुलकुन्तान्वितवामपाणिं चेति। तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां सुतारादेवीं गौरवर्णां वृषवाहनां चतुर्भुजां वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणभुजां कलशाङ्कुशान्वितवामपाणिं चेति ॥९॥

॥ तथा दशमं शीतलनाथं हेमाभं श्रीवत्सलाञ्छनं पूर्वाषाढोत्पन्नं धनूराशिं चेति । तस्मिंस्तीर्थे समुत्पन्नं ब्रह्मयक्षं चतुर्मुखं त्रिनेत्रं धवलवर्णं पद्मासनमष्टभुजं मातुलिङ्गमुद्गरपाशाभययुक्तदक्षिपाणिं नकुलकगदाङ्कुशाक्षसूत्रान्वितवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां अशोकां देवीं मुद्गवर्णां पद्मवाहनां चतुर्भुजां वरदपाशयुक्तदक्षिणकरां फलाङ्कुशयुक्तवामकरां चेति ॥१०॥

॥ तथैकादशं श्रेयांसं हेमवर्णं गण्डकलाञ्छनं श्रवणोत्पन्नं मकरराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नमीश्वरयक्षं धवलवर्णं त्रिनेत्रं वृषभवाहनं चतुर्भुजं मातुलिङ्गगदान्वितदक्षिणपाणिं नकुलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां मानवीं देवीं गौरवर्णां सिंहवाहनां चतुर्भुजां वरदमुद्गरान्वितदक्षिणपाणिं कलशाङ्कुशयुक्तवामकरां चेति ॥ ११ ॥

॥ तथा द्वादशं वासुपूज्यं रक्तवर्णं महिषलाञ्छनं शतभिषजि जातं कुम्भराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं कुमारयक्षं श्वेतवर्णं हंसवाहनं चतुर्भुजं मातुलिङ्गबाणान्वितदक्षिणपाणिं नकुलकधनुर्युक्तवामपाणिं चेति। तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां प्रचण्डादेवीं श्यामवर्णां अश्वारूढां चतुर्भुजां वरदशक्तियुक्तदक्षिणकरां पुष्पगदायुक्तवामपाणिं चेति ॥ १२ ॥

॥ तथा त्रयोदशं विमलनाथं कनकवर्णं वराहलाञ्छनं उत्तरभाद्रपदाजातं मीनराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं षण्मुखं यक्षं श्वेतवर्णं

शिखिवाहनं द्वादशभुजं फलचक्रबाणखड्गपाशाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिं नकुलचक्रधनुःफलकाङ्कुशाभययुक्तवामपाणिं चेति। तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां विदितां देवीं हरितालवर्णां पद्मारूढां चतुर्भुजां बाणपाशयुक्तदक्षिणपाणिं धनुर्नागयुक्तवामपाणिं चेति ॥ १३ ॥ ॥ तथा चतुर्दशं अनन्तं जिनं हेमवर्णं श्येनलाञ्छनं स्वातिनक्षत्रोत्पन्नं तुलाराशिं चेति। तत्तीर्थोत्पन्नं पातालयक्षं त्रिमुखं रक्तवर्णं मकरवाहनं षड्भुजं पद्मखड्गपाशयुक्तदक्षिणपाणिं नकुलफलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिं चेति। तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां अङ्कुशां देवीं गौरवर्णां पद्मवाहनां चतुर्भुजां खड्गपाशयुक्तदक्षिणकरां चर्मफलकाङ्कुशयुतवामहस्तां चेति ॥ १४ ॥ ॥ तथा पञ्चदशं धर्मजिनं कनकवर्णं वज्रलाञ्छनं पुष्योत्पन्नं कर्कराशिं चेति। तत्तीर्थोत्पन्नं किंनरयक्षं त्रिमुखं रक्तवर्णं कूर्मवाहनं षड्भुजं बीजपूरकगदाभययुक्तदक्षिणपाणिं नकुलपद्माक्षमालायुक्तवामपाणिं चेति। तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां कन्दर्पां देवीं गौरवर्णां मत्स्यवाहनां चतुर्भुजां उत्पलाङ्कुशयुक्तदक्षिणकरां पद्माभययुक्तवामहस्तां चेति ॥ १५ ॥ ॥ तथा षोडशं शान्तिनाथं हेमवर्णं मृगलाञ्छनं भरण्यां जातं मेषराशिं चेति। तत्तीर्थोत्पन्नं गरुडयक्षं वराहवाहनं क्रोडवदनं श्यामवर्णं चतुर्भुजं बीजपूरकपद्मयुक्तदक्षिणपाणिं नकुलकाक्षसूत्रवामपाणिं चेति। तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां निर्वाणां देवीं गौरवर्णां पद्मासनां चतुर्भुजां पुस्तकोत्पलयुक्तदक्षिणकरां कमण्डलुकमलयुतवामहस्तां चेति ॥ १६ ॥ ॥ तथा सप्तदशं कुन्थुनाथं कनकवर्णं छागलाञ्छनं कृत्तिकाजातं वृषभराशिं चेति। तत्तीर्थोत्पन्नं गन्धर्वयक्षं श्यामवर्णं हंसवाहनं चतुर्भुजं वरदपाशान्वितदक्षिणभुजं मातुलिङ्गाङ्कुशाधिष्ठितवा-

मभुजं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां बलां देवीं गौरवर्णां मयूरवाहनां चतुर्भुजां बीजपूरकशूलान्वितदक्षिणभुजां भुषुण्ढिपद्मान्वितवामभुजां चेति ॥ १७ ॥ ॥ तथा अष्टादशमं अरनाथं हेमाभं नन्दावर्त[1]लाञ्छनं रेवतीनक्षत्रजातं मीनराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं यक्षेन्द्रयक्षं षण्मुखं त्रिनेत्रं श्यामवर्णं शम्बर[2]वाहनं द्वादशभुजं मातुलिङ्गबाणखड्गमुद्गरपाशाभययुक्तदक्षिणपाणिं नकुलधनुश्चर्मफलकशूलाङ्कुशाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां धारणीं देवीं कृष्णवर्णां चतुर्भुजां पद्मासनां मातुलिङ्गोत्पलान्वितदक्षिणभुजां पाशाक्षसूत्रान्वितवामकरां चेति ॥ १८ ॥ ॥ तथैकोनविंशतितमं मल्लिनाथं प्रियङ्गुवर्णं कलशलाञ्छनं अश्विनीनक्षत्रजातं मेषराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं कुबेरयक्षं चतुर्मुखमिन्द्रायुधवर्णं गरुडवदनं गजवाहनं अष्टभुजं वरदपाश[3]चापशूलाभययुक्तदक्षिणपाणिं बीजपूरकशक्तिमुद्गराक्षसूत्रयुक्तवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां वैरोट्यां देवीं कृष्णवर्णां पद्मासनां चतुर्भुजां वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरां मातुलिङ्गशक्तियुक्तवामहस्तां चेति ॥ १९ ॥ ॥ तथा विंशतितमं मुनिसुव्रतं कृष्णवर्णं कूर्मलाञ्छनं श्रवणजातं मकरराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं वरुणयक्षं चतुर्मुखं त्रिनेत्रं धवलवर्णं वृषभवाहनं जटामुकुटमण्डितं अष्टभुजं मातुलिङ्गगदाबाणशक्तियुतदक्षिणपाणिं नकुलकपद्मधनुःपरशुयुतवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां वरदत्तां देवीं गौरवर्णां भद्रासनारूढां चतुर्भुजां वरदाक्षसूत्रयुतदक्षिणकरां बीजपूरक[4]कुम्भयुतवामहस्तां चेति ॥ २० ॥

१ नन्द्यावर्त इति पाठः । २ शङ्ख इति पाठान्तरम् । ३ वरदपरशु इति पाठः । ४ मातुलिङ्गशूल इति पाठः ।

॥ तथैकविंशतितमं नमिजिनं कनकवर्णं नीलोत्पललाञ्छनं अश्विनीजातं मेषराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं भृकुटियक्षं चतुर्मुखं त्रिनेत्रं हेमवर्णं वृषभवाहनं अष्टभुजं मातुलिङ्गशक्तिमुद्गराभययुक्तदक्षिणपाणिं नकुलपरशुवज्राक्षसूत्रवामपाणिं चेति । नमेर्गन्धारीदेवीं श्वेतां हंसवाहनां चतुर्भुजां वरदखड्गयुक्तदक्षिणभुजद्वयां बीजपूरकुम्भयुतवामपाणिद्वयां चेति ॥ २१ ॥ ॥ तथा द्वाविंशतितमं नेमिनाथं कृष्णवर्णं शङ्खलाञ्छनं चित्राजातं कन्याराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं गोमेधयक्षं त्रिमुखं श्यामवर्णं पुरुषवाहनं षड्भुजं मातुलिङ्गपरशुचक्रान्वितदक्षिणपाणिं नकुलकशूलशक्तियुतवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां कूष्माण्डीं देवीं कनकवर्णां सिंहवाहनां चतुर्भुजां मातुलिङ्गपाशयुक्तदक्षिणकरां पुत्राङ्कुशान्वितवामकरां चेति ॥ २२ ॥ ॥ तथा त्रयोविंशतितमं पार्श्वनाथं प्रियङ्गुवर्णं फणिलाञ्छनं विशाखाजातं तुलाराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं पार्श्वयक्षं गजमुखमुरगफणामण्डितशिरसं श्यामवर्णं कूर्मवाहनं चतुर्भुजं बीजपूरकोरगयुतदक्षिणपाणिं नकुलकाहियुतवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां पद्मावतीं देवीं कनकवर्णां कुर्कुटवाहनां[1] चतुर्भुजां पद्मपाशान्वितदक्षिणकरां फलाङ्कुशाधिष्ठितवामकरां चेति ॥ २३ ॥ ॥ तथा चतुर्विंशतितमं वर्धमानस्वामिनं कनकप्रभं सिंहलाञ्छनं उत्तराफाल्गुन्यां जातं कन्याराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं मातङ्गयक्षं श्यामवर्णं गजवाहनं द्विभुजं दक्षिणे नकुलं वामे बीजपूरकमिति । तत्तीर्थोत्पन्नां सिद्धायिकां हरितवर्णां सिंहवाहनां चतुर्भुजां पुस्तकाभययुक्तदक्षिणकरां

१ कुक्कुट इति पाठान्तरम् ।

श्यामवर्णं पद्मवाहनमुरगपाणिं चेति ॥ ९ ॥ तथा ब्रह्माणं धवलवर्णं हंसवाहनं कमण्डलुपाणिं चेति ॥ १० ॥ इति दिक्पालदशकम् ॥

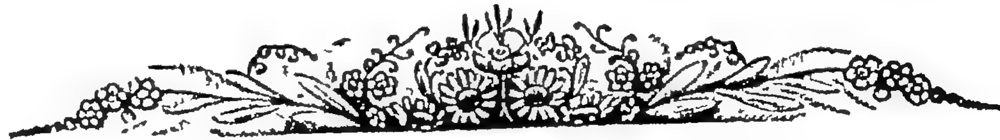
॥ अथ ग्रहाः ॥

तत्रादित्यं हिङ्गुलवर्णमूर्ध्वस्थितं द्विभुजं कमलपाणिं चेति ॥ १ ॥ तथा सोमं श्वेतवर्णं द्विभुजं दक्षिणे अक्षसूत्रं वामे कुण्डिकां चेति ॥ २ ॥ तथाङ्गारकं रक्तवर्णं द्विभुजं दक्षिणेऽक्षसूत्रं वामे कुण्डिकां चेति ॥ ३ ॥ तथा बुधं पीतवर्णं द्विभुजं अक्षसूत्रकुण्डिकापाणिं चेति ॥ ४ ॥ तथा सुरगुरुं पीतवर्णं द्विभुजं अक्षसूत्रकुण्डिकापाणिं चेति ॥ ५ ॥ तथा शुक्रं श्वेतवर्णं द्विभुजं अक्षसूत्रकमण्डलुपाणिं चेति ॥ ६ ॥ तथा शनैश्चरमीषत्कृष्णं द्विभुजं लम्बकूर्चं किञ्चित्पीतं द्विभुजमक्षमालाकमण्डलुयुक्तपाणिं चेति ॥ ७ ॥ तथा राहुमतिकृष्णवर्णं अर्धकायरहितं द्विभुजमर्धमुद्रान्वितपाणिं चेति ॥ ८ ॥ तथा केतुं धूम्रवर्णं द्विभुजमक्षसूत्रकुण्डिकान्वितपाणिं चेति ॥९॥ इति ग्रहनवकम् ॥ तथा ब्रह्मशान्तिं पिङ्गवर्णं दंष्ट्राकरालं जटामुकुटमण्डितं पादुकारूढं भद्रासनस्थितमुपवीतालङ्कृतस्कन्धं चतुर्भुजं अक्षसूत्रदण्डकान्वितदक्षिणपाणिं कुण्डिकाछत्रालङ्कृतवामपाणिं चेति ॥ १ ॥ तथा क्षेत्रपालं क्षेत्रानुरूपनामानं श्यामवर्णं बर्बरकेशमावृत्तपिङ्गनयनं विकृतदंष्ट्रं पादुकाधिरूढं नग्नं कामचारिणं षड्भुजं मुद्गरपाशडमरुकान्वितदक्षिणपाणिं श्वानाङ्कुशगेडिकायुक्तवामपाणिं श्रीमद्भगवतो

दक्षिणपार्श्वे ईशानाश्रितं दक्षिणाशामुखमेव प्रतिष्ठाप्यमिति ॥ २ ॥ इति श्रीनिर्वाणकलिकाभिधानायां प्रतिष्ठापद्धतौ श्रीमज्जिनादीनां वर्णादिविधिः ॥

॥ अथ प्रशस्तिः ॥

श्रीविद्याधरवंशभूषणमणिः प्रख्यातनामा भुवि। श्रीमत्सङ्गमसिंह इत्यधिपतिः श्वेताम्बराणामभूत् ॥
शिष्यस्तस्य बभूव मण्डनगणिर्यो वाचनाचार्य इत्युच्चैः पूज्यपदं गुणैर्गुणवतामग्रेसरः प्राप्तवान् ॥ १ ॥ क्षान्तेः
क्षेत्रं गुणमणिनिधिस्तस्य पादलिप्तसूरिर्जातः शिष्यो निरुपमयशःपूरिताशावकाशः ॥ विन्यस्तेयं निपुणम-
नसा तेन सिद्धान्तमग्र्याण्यालोच्यैषा विधिमविदुषां पद्धतिर्बोधिहेतोः ॥ २ ॥ शुभमस्तु ॥ सं० १८५२ मिति
कार्तिकशुक्लपूर्णिमायां लिखितमिदम् ॥



मातुलिङ्गबाणान्वितवामहस्तां चेति ॥ २४ ॥ तथा श्रुतदेवतां शुक्लवर्णां हंसवाहनां चतुर्भुजां वरदकमलान्वित-दक्षिणकरां पुस्तकाक्षमालान्वितवामकरां चेति । तथा शान्तिदेवतां धवलवर्णां कमलासनां चतुर्भुजां वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरां कुण्डिकाकमण्डल्वन्वितवामकरां चेति ॥ इति अर्हदादीनां वर्णादिक्रमकथनम् ॥

॥ अथ विद्यादेवीनां षोडशकम् ॥

तत्राद्यां रोहिणीं धवलवर्णां सुरभिवाहनां चतुर्भुजामक्षसूत्रबाणान्वितदक्षिणपाणिं शङ्खधनुर्युक्तवामपाणिं चेति ॥ १ ॥ तथा प्रज्ञप्तिं श्वेतवर्णां मयूरवाहनां चतुर्भुजां वरदशक्तियुक्तदक्षिणकरां मातुलिङ्गशक्तियुक्तवामहस्तां चेति ॥ २ ॥ तथा वज्रशृङ्खलां शङ्खावदातां पद्मवाहनां चतुर्भुजां वरदशृङ्खलान्वितदक्षिणकरां पद्मशृङ्खलाधिष्ठितवामकरां चेति ॥ ३ ॥ तथा वज्राङ्कुशां कनकवर्णां गजवाहनां चतुर्भुजां वरदवज्रयुतदक्षिणकरां मातुलिङ्गाङ्कुशयुक्तवामहस्तां चेति ॥ ४ ॥ तथा अप्रतिचक्रां तडिद्वर्णां गरुडवाहनां चतुर्भुजां चक्रचतुष्टयभूषितकरां चेति ॥ ५ ॥ तथा पुरुषदत्तां कनकावदातां महिषीवाहनां चतुर्भुजां वरदासियुक्तदक्षिणकरां मातुलिङ्गखेटकयुतवामहस्तां चेति ॥ ६ ॥ तथा कालीं देवीं कृष्णवर्णां पद्मासनां चतुर्भुजां अक्षसूत्रगदालङ्कृतदक्षिणकरां वज्राभययुतवामहस्तां चेति ॥ ७ ॥ तथा महाकालीं देवीं तमालवर्णां पुरुषवाहनां चतुर्भुजां अक्षसूत्रवज्रान्वितदक्षिणकरामभयघण्टालङ्कृतवामभुजां चेति ॥८॥ तथा गौरीं देवीं कनकगौरीं गोधावाहनां चतुर्भुजां वरदमुसलयुतदक्षिणकरामक्षमालाकुवलयालङ्कृतवामहस्तां चेति ॥ ९ ॥ तथा गान्धारीं देवीं नीलवर्णां कम-

चेति ॥ १० ॥ सर्वास्त्रमहाज्वालां लासनां चतुर्भुजां वरदमुसलयुतदक्षिणकरां अभयकुलिशयुतवामहस्तां चेति ॥ ११ ॥ तथा मानवीं श्यामवर्णां कमलासनां चतुर्भुजां धवलवर्णां वराहवाहनां असंख्यप्रहरणयुतहस्तां चेति ॥ १२ ॥ तथा वैरोट्यां श्यामवर्णां अजवरदपाशालङ्कृतदक्षिणकरां अक्षसूत्रविटपालङ्कृतवामहस्तां चेति ॥ १३ ॥ तथा अच्छुप्तां तडिद्वर्णां गरवाहनां चतुर्भुजां खड्गोरगालङ्कृतदक्षिणकरां खेटकाहियुतवामकरां चेति ॥ १४ ॥ तथा मानसीं धवलवर्णां तुरगवाहनां चतुर्भुजां खड्गबाणयुतदक्षिणकरां खेटकाहियुतवामकरां चेति ॥ १५ ॥ तथा महामानसीं हंसवाहनां चतुर्भुजां वरदवज्रालङ्कृतदक्षिणकरां अक्षवलयाशनियुक्तवामकरां चेति ॥ १६ ॥ इति धवलवर्णां सिंहवाहनां चतुर्भुजां वरदासियुक्तदक्षिणकरां कुण्डिकाफलकयुतवामहस्तां चेति ॥ १६ ॥ इति विद्यादेवीषोडशकम् ॥

॥ अथ लोकपालाः ॥

तत्र शक्रं पीतवर्णं ऐरावतवाहनं वज्रपाणिं चेति ॥ १ ॥ तथा अग्निं अग्निवर्णं मेषवाहनं सप्तशिखं शक्तिपाणिं चेति ॥ २ ॥ तथा यमराजं कृष्णवर्णं महिषवाहनं दण्डपाणिं चेति ॥ ३ ॥ तथा नैर्ऋतिं हरितवर्णं शववाहनं खड्गपाणिं चेति ॥ ४ ॥ तथा वरुणं धवलवर्णं मकरवाहनं पाशपाणिं चेति ॥ ५ ॥ तथा वायुं सितवर्णं मृगवाहनं वज्रा(ध्वजा)लङ्कृतपाणिं चेति ॥ ६ ॥ तथा कुबेरमनेकवर्णं निधिनवकाधिरूढं निचुलकहस्तं तुन्दिलं गदापाणिं चेति ॥ ७ ॥ तथेशानं धवलवर्णं वृषभवाहनं त्रिनेत्रं शूलपाणिं चेति ॥ ८ ॥ तथा नागं

श्यामवर्णं पद्मवाहनमुरगपाणिं चेति ॥ ९ ॥ तथा ब्रह्माणं धवलवर्णं हंसवाहनं कमण्डलुपाणिं चेति ॥ १० ॥ इति दिक्पालदशकम् ॥

॥ अथ ग्रहाः ॥

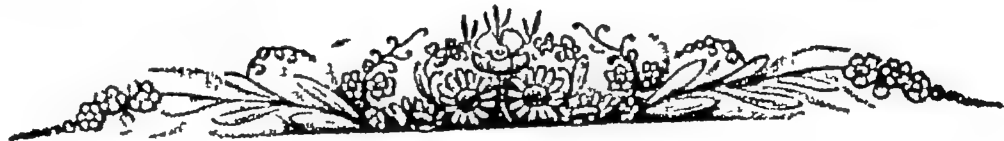
तत्रादित्यं हिङ्गुलवर्णमूर्ध्वस्थितं द्विभुजं कमलपाणिं चेति ॥ १ ॥ तथा सोमं श्वेतवर्णं द्विभुजं दक्षिणे अक्षसूत्रं वामे कुण्डिकां चेति ॥ २ ॥ तथाङ्गारकं रक्तवर्णं द्विभुजं दक्षिणेऽक्षसूत्रं वामे कुण्डिकां चेति ॥ ३ ॥ तथा बुधं पीतवर्णं द्विभुजं अक्षसूत्रकुण्डिकापाणिं चेति ॥ ४ ॥ तथा सुरगुरुं पीतवर्णं द्विभुजं अक्षसूत्रकुण्डिकापाणिं चेति ॥ ५ ॥ तथा शुक्रं श्वेतवर्णं द्विभुजं अक्षसूत्रकमण्डलुपाणिं चेति ॥ ६ ॥ तथा शनैश्चरमीषत्कृष्णं द्विभुजं लम्बकूर्चं किञ्चित्पीतं द्विभुजमक्षमालाकमण्डलुयुक्तपाणिं चेति ॥ ७ ॥ तथा राहुमतिकृष्णवर्णं अर्धकायरहितं द्विभुजमर्घमुद्रान्वितपाणिं चेति ॥ ८ ॥ तथा केतुं धूम्रवर्णं द्विभुजमक्षसूत्रकुण्डिकान्वितपाणिं चेति ॥९॥ इति ग्रहनवकम् ॥ तथा ब्रह्मशान्तिं पिङ्गवर्णं दंष्ट्राकरालं जटामुकुटमण्डितं पादुकारूढं भद्रासनस्थितमुपवीतालङ्कृतस्कन्धं चतुर्भुजं अक्षसूत्रदण्डकान्वितदक्षिणपाणिं कुण्डिकाछत्रालङ्कृतवामपाणिं चेति ॥ १ ॥ तथा क्षेत्रपालं क्षेत्रानुरूपनामानं श्यामवर्णं बर्बरकेशमावृत्तपिङ्गनयनं विकृतदंष्ट्रं पादुकाधिरूढं नग्नं कामचारिणं षड्भुजं मुद्गरपाशडमरुकान्वितदक्षिणपाणिं श्वानाङ्कुशगेडिकायुक्तवामपाणिं श्रीमद्भगवतो

॥ ३८ ॥

दक्षिणपार्श्वे ईशानाश्रितं दक्षिणाशामुखमेव प्रतिष्ठाप्यमिति ॥ २ ॥ इति श्रीनिर्वाणकलिकाभिधानायां प्रतिष्ठापद्धतौ श्रीमज्जिनादीनां वर्णादिविधिः ॥

॥ अथ प्रशस्तिः ॥

श्रीविद्याधरवंशभूषणमणिः प्रख्यातनामा भुवि । श्रीमत्सङ्गमसिंह इत्यधिपतिः श्वेताम्बराणामभूत् ॥ क्षान्तेः प्रासवान् ॥ १ ॥ शिष्यस्तस्य बभूव मण्डनगणिर्योवाचनाचार्य इत्युच्चैः पूज्यपदं गुणैर्गुणवतामग्रेसरः ॥ विन्यस्तेयं निपुणमक्षेत्रं गुणमणिनिधिस्तस्य पादलिप्तसूरिर्जातः शिष्यो निरुपमयशःपूरिताशावकाशः ॥ नसा तेन सिद्धान्तमन्त्राण्यालोच्यैषा विधिमविदुषां पद्धतिर्योधिहेतोः ॥ २ ॥ शुभमस्तु ॥ सं० १८५२ मिति कार्तिकशुक्लपूर्णिमायां लिखितमिदम् ॥



निर्वाणकलिकाशुद्धिपत्रम् ।

पत्रं	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२–१	६	क्ष्वीं क्ष्वीं	ङ्क्ष्वीं क्ष्वीं
२–१	१२	ऊध्वदन्तपङ्क्तौ	ऊर्ध्वदन्तपङ्क्तौ
४–१	९	ॐ शनैश्चराय	ॐ शनैश्चराय
४–२	६	०रादावमुखेनापि	०रादावन्यमुखेनापि
६–१	९	तत्समं तत्र	तत्समसूत्रं
६–२	१	अङ्गुलानि	ञ्यङ्गुलानि
६–२	६	अघराग्रं	मंथराग्रं
६–२	७	वीथीषु त्रीन्	वीथीसूत्रीन्
७–२	१	नाश्नीयात् ७ मद्यमांसादिकं न भक्षयेत् ८। गुरोराज्ञां न लङ्घयेत् ८।	नाश्नीयात् ७ मद्यमांसादिकं न भक्षयेत् ७। गुरोराज्ञां न लङ्घयेत् ८।
८–२	१३	०मिमयानुय–	०मिमङ्क्यानु–
१०–२	७	कचटतपयसह्यजै०	०कचटतपसह्यजै०
११–१	३	सज्य	सत्य
११–१	१०	विलिपिच्छा	पिलिपिच्छा
११–१	१२	पूर्ववादसरक्षादिकं	पूर्ववत्संरक्षादिकं
१५–१	१४	७ अः पाठान्तरं	७ क्षः पाठान्तरम्

पत्रं	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१५—२	७	आठुजलं	आ ४ जलं
१६—२	१२	इच्छायाः ॥ १ ॥	इच्छया ॥ १ ॥
१७—१	४	पूर्वोत्तराई (सु) रोहिणी	पूर्वोत्तराइ (सु) रोहिणी
१७—१	९	नामरूपापि	नामरूपाणि
१७—१	१४	कुवेरश्चा	कुबेरश्च
१८—२	११	०गन्धाये	०गन्धार्यै
२१—२	१२	०वस्तुता	वस्तृता
२२—१	४	इमार्सि	इमार्सि
२२—१	७	संवसहिता	संघसहित
२३—१	८	रत्नगर्भा	रत्नगर्भे
२४—१	६	परिवट्टमाण	परिवड्डमाण
२४—१	७	नन्दंन्ति	नन्दन्ति
२५—२	१	वटइ	वड्डइ
३२—१	२	संलभमधु	संलभसुष्ठु
३२—१	८	शेषाङ्गुला	शेषाङ्गुलीः
३२—२	८	०तर्जन्योस्तलान्मूलाक्रमेण	०तर्जन्यो मूलात्क्रमेण
३६—१	२	पाणि चेति	पाणिं चेति

॥ इति निर्वाणकलिका समाप्ता ॥

॥ अर्हम् ॥

मुनि-श्रीमोहनलालजी-जैन-ग्रन्थमाला (५)

सुप्रसिद्धविद्याधरवंशभूषणमणि-श्रीमत्पादलिप्ताचार्यकृता

निर्वाणकलिका ।

संशोधकः-मोहनलाल भगवानदास झवेरी बी. ए. (ऑनर्स) एलएल्. बी., सोलिसिटर,

जैनशिल्पज्योतिषविद्यामहोदधि-पूज्यपाद-जैनाचार्य-श्रीमज्जयसूरीणांसदुपदेशेन-शहापुर-उपधानतपोज्ञानद्रव्य-

साहाय्येन इन्दोरयास्तव्य-शेठ नथमलजी कनैयालाल रांका इत्यनेन,

मोहमय्यां निर्णयसागरमुद्रणयन्त्रे कोलभाटवीथ्यां २६-२८ तमे गृहे रामचन्द्र येसू शेडगेद्वारा मुद्रयित्वा प्रकाशिता ।

[प्रथमसंस्करणे वीरसंवत् २४५२, विक्रमसंवत् १९८२, इसवीसन १९२६. प्रतयः १०००]

पण्यं सार्धरूप्यकः ।

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, at the "Nirnaya-sagar" Press, 26-28, Kolbhat Lane, Bombay.

Published by Seth Nathamalji Kanayyalalji Ranka, upstairs of Mumbadevi post office third floor, Bombay.

छपायेला ग्रन्थो.



श्रीविघ्नौघसंछेदिने नमः।

भूमिका.



के के न कालमाहात्म्यविदो विद्वांस इति विदन्ति यत्कालोऽयमुपचयापचययोर्भावानां विधायकतया कथ्यते सुषमसुषमादिरूपः दुःषमादिरूपो वा। तत्रायं प्रतिविचारो यत् कालस्य तद्विशेषस्य वा वस्तुजातसाधारणकारणत्वेन संमतस्य संपर्कादाविर्भवति भावानामुपचयोऽपचयो वोत भावानामुपचयापचयाभ्यामारोपितं भवति काले सुषमसुषमादिवैशिष्ट्यम्। अर्थात् कालः स्वभावादेव तथाविधतयाविधधर्मपराधीनो बलादिव भावानामुपचयापचययोः प्रयोजको भवत्युत भावा एवावश्यंभाविताद्दशताद्दशोपचयापचयतत्कारणभूतधर्मविशेषपराधीनाः कालस्य तथाविधतयाविधाभिलापे प्रयोजका भवन्तीति (एवं क्षेत्रस्यापि प्रयोजकतोह्या) द्रव्यक्षेत्रकालभावादिपदार्थान्तरापेक्षायत्त्वेन स्याद्वादिभिर्विद्वद्भिस्समर्थितोऽपि ताद्दशस्ताद्दशो भावप्रकर्षापकर्षान्यतररूपः पर्यायापरपर्यायो भावविकारो नोपकरोति कालतारतम्यस्येत्थंभावेन निरूपणे। एवं प्राप्ते विसंवादे केचनोच्छृङ्खला नवीनाः—कालस्तु परममहत्त्वादेकत्वादाकाशादिवन्निर्लेपस्तत्र तत्र प्रतीयमानो धर्मविशेषः कल्यादिरूपो दुःषमदुःषमादिरूपो वा व्यवहारसाधारणो भाक्तः। भावानामुपचयबाहुल्ये भवति व्यवहारोऽनुकूलोऽयं काल इति। तथैव भावानामपचयबाहुल्ये प्रतिकूलोऽयं काल इति भवति व्यवहारः (एवं दिगादिगतोऽप्यनुकूलत्वाननुकूलत्वव्यवहारो भाक्तः)। अस्मिन्नेव च समये संगता भवन्ति लोकोक्तयो राजा कालस्य कारणमित्यादयः। निरुपाधिस्तु कालः कल्पायुपापि न शक्यो

निरूपयितुमुपाधीनामसद्भावे निरूपणासंभवान्निरूपकनिरूप्यनिरूपणादीनामप्युपाध्यनन्यत्वात् । संप्रदायपरवशपरामर्शपक्षपातिनस्तु नैकान्ततो मन्यन्ते कालकुहरैकशरणांस्तांस्तान् धर्मान् भाक्तान् । आयुषोऽल्पत्वकृते न कोपि यतते तथापि दृश्यते तस्य ह्रासस्समं दौर्बल्येन । न कस्यापि संमताऽनुपस्थितिस्सात्त्विकविदुषां परन्त्वायाति सा संमुखे वार्यमाणापि प्रायेण "कालं हि पौरुषं चाहुः पुरुषस्य महात्मनः । के न कालेन भक्षिताः । अन्ये कृतयुगे धर्माः ।" इत्यादिलोकोक्तयोऽप्यस्मिन्नेव कल्पे समुचिततया संगता भवन्ति । ऋजु—ऋजुवक्र—वक्राणां प्रभूततापि तत्तत्कालपरवशैव सम्मता सहृदयानाम् । अस्मिन्नेव कल्पे कालस्य समुचिता संभवत्युपयोगितापि । प्रथम-कल्पपक्षपातिभिरपि वस्तुजातसाधारणकारणत्वेन सम्मतस्य कालस्येति वदद्भिः परोक्षरूपतस्स्वीकृतैव वस्तुजातसाधारणकारणरूपा परमाति-महत्युपयोगिता कालस्य । उपाधीनां सद्भावे सोपाधिकत्वेऽपि तस्य तस्य भावस्य तदीयनिरुपाधिकस्वरूपप्रत्यये स्वतन्त्रधर्मसादरस्वीकारेऽपि न कोऽपि बाधो न वा प्रत्यूहभयम् । सोपाधिके काकवति गृहेऽपि भवति निरुपाधिकं गृहमिति गृहमात्रविषयको व्यवहारः । स्वीक्रियन्ते चावारकत्वादयो धर्माश्च । सति तात्पर्ये निरूपकादीनामुपाधित्वेऽपि न तेन तेन विहन्यते कालस्य स्वातन्त्र्यम् । अतएव स्थूलशरीरावच्छेदेनै-वात्मनो व्यवहारप्रयोजकत्वे तदवच्छेदेनैव तस्य तद्विषयकबोधविषयत्वे वा समाद्रियमाणेऽपि नापलप्यते तस्यानन्तज्ञानदर्शनचारित्र्य-सामर्थ्यं नवोपेक्ष्यन्ते तस्य तास्ता ऊर्ध्वगत्यादयश्शक्तयोऽन्तरा स्थूलशरीरम् । नच चार्वाकमन्तरा कस्यापि दार्शनिकस्य दृश्यते विवादः स्थूलशरीरानवच्छेदेनाप्यात्मनोऽस्तित्वस्वीकारे ।

समष्टिजीवनक्षणसमुदायस्य तारतम्यप्रयोजकतायां कालसामान्यनिष्ठतया सिद्धायामपि कालस्य यौगपद्येन कस्यचिद्युवत्वप्रयोजकता कस्यचिद्वृद्धत्वप्रयोजकतापि न भवति विरुद्धा निजनिजादृष्टबललब्धतत्तत्फलानुकूलतत्तत्परिमितक्षणराशेरपि व्यक्तिगतयुवत्वादिकारणत्वात् ।

दृश्यते हि यमन्तवायौ समष्टिसापेक्षो हितावह इति व्यवहारो व्यष्टिसापेक्षश्च व्यक्तिविशेषे हितावहविरहव्यवहारोऽपि । समष्टिजीवनतारतम्ये हि बालविवाहादैहिकसर्वानुभवसिद्धसामग्र्या सिध्यति नातिप्रयोजना महाकाले धर्मविशेषकल्पनेति तु बालोल्लाप एव । जीवनक्षणतारतम्यस्य संस्थानतारतम्यस्य सामर्थ्यतारतम्यस्य च नृपशुस्थावरादिनिष्ठस्य तत्र तत्र काले विशिष्टस्यैवोपलभ्यतया युक्ताया: विशिष्टकालकल्पनायास्सर्वथा सार्थकत्वात् । व्यष्टिजीवनकालानुकूलतारतम्यं प्रति बालविवाहादेः—बालब्रह्मचर्यभङ्गादेः कारणत्वेपि तस्य विशिष्टकालकल्पनाया अबाधकत्वात् । क्षणादिव्यवहारः काले कल्पित इति द्रव्यक्षेत्रकालादेरपि द्रव्यक्षेत्रकालादिसापेक्षमेव निरूपणमिति नान्यत् प्रसङ्गाप्रसक्तं च । एवं सिध्यति विशिष्टस्य कालस्य भावोत्कर्षापकर्षप्रयोजकत्वे कालविशेषे चतुर्विधसंघे तदङ्गभूतस्य कस्यचिदेकस्यैव साधोरेकस्यैव च कस्यचिच्छ्रावकस्य तथाविधायाः कस्याश्चिदेकस्या एव साध्व्या एकस्या एव च कस्याश्चिच्छ्राविकायाश्चास्तित्वमवशिष्टं स्यादतीत्यादय आगमा अपि सुसंगतास्सन्तो भवन्ति हृदयङ्गमास्तर्ककर्कशस्वान्तानामपि ।

जैनागमे हि वैदिकाद्यागम इवासन् नानाविधास्तत्तद्विषयपरिपोषकास्तत्राद्यागमास्तत्तत्पूर्वान्तर्गता अद्यावधि गीयमानकीर्तयस्तत्प्रवर्तकाश्च ते त आचार्यवराः । अद्यापि च श्रुतिपथमायान्ति श्रीभद्रबाहु—वज्रस्वाम्यार्यरक्षितार्यखपुटपादलिप्तहरिभद्रसूरिप्रभृतिप्राचीनप्राचीनतरगण्यमान्यागमस्तम्भीभूताकल्पकीर्तिविद्वत्सम्मताः सिद्धप्राभृतयोनिप्राभृतविद्याप्राभृतादयो निबन्धाः । प्राभृतशब्दार्थस्तु प्र—प्रकर्षेण आ—समन्तात् भ्रियते प्राप्यते चित्तमनेनेति पूर्वसुरिसमुदायसम्मतः उपासकोत्साहवर्धनद्वारा शासनप्रभावप्रचारकस्तत्तत्सूरिसमुदायसत्कृतोऽनादिकालप्रचलितचतुर्दशपूर्वागमसाररूप आगमविशेषः । प्राभृतागम इतियावत् । एवं निमित्तविद्याशिल्पविद्याचिकित्साविद्याप्रभृतयो नानाविधा विद्यास्तत्प्रतिपादका आगमा आगमविदश्च दिव्यदृष्टय आसन् । काश्मीरकेरलगौडादिभेदेन प्रसिद्धानां महासरस्वती-महाकाली-महालक्ष्मीप्रभृतिमातॄणां

रोहिण्यादि विद्यादेवीनां-चक्रेश्वरी-महाम्बिका-पद्मावती-सिद्धेश्वरीप्रभृतिशासनदेवतानां चाराधनप्रकारबोधकानां वर्णभेदेनापि तत्तद्वर्णमान्यानां (ब्राह्मणेषु विशेषतया महासरस्वती, क्षत्रियेषु महाकाली, वैश्येषु महालक्ष्मीः, शूद्रेषु मातङ्गी, स्वस्वस्वभावानुकूलविधिनोपासनायामधिका गण्यते। सामान्यतया तु सर्वत्र सर्वाः। काम्योपासनायां तत्र तत्र कामनायां सर्वासां मातॄणां वैशिष्ट्यम्) तत्रागमानामपि बाहुल्यमासीदेवात्र सरित्स्वामिस्थानीये जैनागमे। (जैनजनतायास्तत्रमार्गस्तु काश्मीर इति प्रतीयते। यतो हि तत्र तन्त्रे श्रीमदर्हतः शिवरूपस्य ज्ञानशक्तिरूपायाः महासरस्वतीदेवतायाः प्राधान्यम्। सकलजैनाचार्यहृद्वर्तिनः सूरिमन्त्रस्य पञ्चमहापीठानां मध्ये प्रथममहापीठाधिदेवता चेयमेव देवता। श्रीहेमचन्द्राचार्यादिभिरस्मिन्पीठेऽस्याः काश्मीरवासिन्या एव कृतोपासना सरस्वतीसहस्रनाम्नि जैनमार्गप्रबोधिनीत्यन्यतमं नामापि सरस्वत्या दृश्यते। एतेषामपि रत्नानामलभ्यत्वे दुर्लभत्वे वा प्रोक्तो विशिष्टः काल एव कारणम्। अधिकारिणामभावे सर्वज्ञकल्पानामादरणीयानामपि तेषां तेषामागमानां क्षुल्लकातिक्षुल्लककर्तृकनिन्दायामपि हेतुस्स काल एव। कालस्यैव माहात्म्यमेतत् तस्यैवायं विलासो यदधुना किमपि स्वल्पमपि जानाति सोऽपि हसति सम्प्रदायसर्वस्वान् क्रियानिष्णाताँस्ताँस्तांस्तान्त्रिकान् सूरिसत्तमान् भूतपूर्वान्। देशान्तरसंस्कारस्य प्रभूततया स्वसंस्कारस्य सुतरां विस्मृततया पूर्वाचार्यपरिहासपरायणो न चिन्तयति तेषां सामर्थ्यम्। पश्यति च पाठितानामपि तत्तत्कर्तृकतत्तद्विषयकनिबन्धानां तात्पर्यावगमे स्वस्यासामर्थ्यं तथापि न मन्यते स्वस्यासद्भूतविषयावगाहिबोधमहिलतां, नावमन्यते च प्रजाधःपातविधायकं प्रकीर्यमाणमात्मनः कुतर्कमित्यत्र किं वक्तव्यमन्यत्कारणमृते कालात्। किं बहु ब्रूमोऽनुपादेयस्योपादानेऽनुपादाने चोपादेयस्य हेतुः काल एव। अधिकारिभेदेन प्रवृत्तौ प्रवर्तके तदुपाये च सिद्धेऽपि भेदे तत्कृतेऽपेक्षितेऽपि तत्तद्विषयप्रधाने तत्र तत्र शास्त्रे, परमार्थतश्रान्ते तत्तच्छास्त्रस्यापि मुक्तावेव तात्पर्यनिश्चये नेदं शास्त्रमार्हतानां सम्मतं नैतस्य प्रचारकृते जैनैर्विधेयो यत्न इत्यादि कर्णकटुप्रलापेऽपि काल एव कारणम्।

यद्यपि प्रबलता कालेन कृतस्य भावापकर्षस्य प्रतिविधाने न कस्यापि महतोऽपि विद्यते सामर्थ्यम् किं नाम प्रतिविधानं तद्वेगश्लथनेऽपि न कोऽपि समर्थः । तथापि कालस्यैवायमपि संकेतो यत्सर्वात्मना न वस्तूच्छेदं करोति बीजरूपतया शेषतया वा रक्षत्यपि कालान्तरभाव्युत्कर्षभाञ्जि वस्तुजातमूलानि । अपकर्षो नाम न सर्वात्मना नाशः किन्तु विरलतया विद्यमानता । मेघापाये संह्रियमाणेऽपि सूर्यकिरणादिद्वारा जले लभ्यत एवाल्पाल्पं जलं पल्वलादौ । कृषीवलैर्यावच्छक्ति गृहीतेऽपि क्षेत्रान्ने तत्रैवोञ्छवृत्तिभिर्यत्नवद्भिरासाद्यते कणिशादि । ईदृशेऽपि दुःसमये समये परिश्रमशालिभिरन्वेषणपण्डितैरासाद्यन्त एव कालकवलपतितानि तानि तानि ग्रन्थरत्नानि ।

इयमपि निर्वाणकलिका तथाविधमन्यतमं निबन्धरत्नमेव । एतस्याः पुस्तिकाया अवलोकनेनैव सर्वं विदितं भविष्यति विदुषामिति बहूक्तिरेतद्विषये प्रलाप एव । अस्य निबन्धस्य नित्यकर्मविधिनामके प्रथमप्रकरणे मृदादिना बाह्यशुद्धिः अनन्तरं तत्तद्बीजादिना न्यासादिप्रकारश्च लिखितौ विद्वद्भिरवहितैरवश्यमवलोकनीयौ । द्वितीयस्मिन्नपि दीक्षाप्रकरणे मुक्तिकामस्य प्राञ्जलं, मुक्तिकामस्य तीक्ष्णाग्रमित्यादि समयसंस्कारसंस्कृतः पूजाहोमश्रवणाध्ययनादिषु योग्यस्स्याज्जैनं च पदं लभत इत्यादि च लिखितं तदपि च कर्मपराङ्मुखैरशुष्कवाग्जालिभिरलसैरवश्यं सपरामर्शं द्रष्टव्यम् । अथाचार्याभिषेकनामकं तृतीयं प्रकरणमस्ति तत्राचार्यस्य योग्यता तदीयकर्तव्यं तदभिषेकप्रकारश्च यथासंप्रदायं लिखितानि सन्ति । यत्तु छत्र-चामर-हस्ति-अश्व-शिबिकादीनि राजाङ्गानि योगपट्टक-खटिका-पुस्तक-अक्षसूत्र-पादुकादिकं च दद्यात् इति राजाङ्गेव लिखितमस्ति तत्र ग्रन्थे राजचिह्नं कुतो वा कल्पेत निर्ग्रन्थानामित्यादिजल्पद्भिरुत्सूत्रतर्कदासैर्दृष्टिनिक्षेपो विधेयः । यतो हि किं कस्मै कल्पेत किं कस्य विधेयं किंवा कस्य हेयमित्यादिविषये न बुद्धिस्वातन्त्र्यं न वाल्पज्ञतर्कप्रवेशः । सर्वथा बुद्धिस्वातन्त्र्यं हि नास्तिकता । आगमपराधीनमेव बुद्धिस्वातन्त्र्यमास्तिकता । तत्त्व-धर्म-ज्यौतिष-चिकित्सानिर्णये शास्त्रनिरपेक्षबुद्धिस्वातन्त्र्ये पापमपि स्मर्यते इति नाविदितं पण्डितानाम् ।

चतुर्थमस्य प्रकरणं भूपरीक्षानामकमस्ति । अस्मिन् प्रकरणे भूमिः शुक्ला आज्यगन्धा मधुरा ब्राह्मणस्य, रक्ता...क्षत्रियस्य, पीता.... वैश्यस्य, कृष्णा शूद्रस्येति लिखता ग्रन्थकारसूरिणा जैनधर्मे वर्णधर्मस्य नांशतोऽप्यवहेलनमित्यादि ज्ञापितम् । भूपरीक्षाविधानंतु सर्वेषां भारतीयानां समानमेवेति न तत्र किन्तुकरणावसरः । यजमानशरीरावयवकण्डूयनेन शृगालादिप्रवेशेन वा निमित्तेन भाविफलानुमानं मन्यमानेन मुनिमहोदयेन निमित्तशास्त्रं सर्वेषां माननीयतया समानमिति स्वीकृतम् । एतदपि सूक्ष्मेक्षिकाकटाक्षेणेक्षणीयं निमित्तोपेक्षा-परायणैः स्वाच्छन्द्यपाठपण्डितैः । शिलान्यासविधिनामकं पञ्चमपादप्रतिष्ठानायकमस्य प्रकरणं तत्रापि ब्रह्मरुद्रमहेन्द्रादीनां देवानां स्कन्द-पूतनाप्रभृतीनां राक्षसादीनामपि पूजनं विहितं तदपि तन्त्रान्तरसमानमेव । अन्यदपि प्रतिष्ठाविधिनाम प्रकरणं षष्ठं विद्यते । एतस्यान्तराले द्वारप्रतिष्ठाविधि-बिम्बप्रतिष्ठाविधि-हृत्प्रतिष्ठाविधि-चूलिकाकलशध्वजादिप्रतिष्ठाविधिनामास्ति प्रकरणकदम्बकम् । सप्तमं जीर्णोद्धारविधि-प्रकरणमस्ति । एतत्प्रकरणयोरपि विषये तान्त्रिकदीक्षादौ मन्ये भ्राम्येदाधुनिको भ्रमपूर्णो भद्रबुद्धिः । अदीक्षितान् न श्रावयेत् न तेन लेखयेत् अज्ञानं न दीक्षयेत् । अत्र दीक्षायास्तन्त्रसिद्धाया एव ग्रहणम् । सर्वतोभद्रमण्डलादीनां तान्त्रिकसम्मतानामेवात्रापि स्वीकारः । पुत्रादिकामनाकृतेऽपि विहितोऽभिषेकः काम्यः । देशिको गुरुरपि तान्त्रिक एवाभिमतस्तदेतेप्युद्वेगकरा इव भविष्यन्ति संप्रदायरहस्यावबोध उदासीनानाम् । सकामेनाकामेन ज्ञानवता तदभाववता स्वस्थेनास्वस्थेन कृतानां पापानां प्रायश्चित्तस्य तारतम्यं मननीयम् इतरदर्शनसाधारणं च । अष्टमूर्तिनिर्देशोऽपि व्यवस्थापयति समानतां वैदिकागमव्यवहारेणास्यागमस्य व्यवहारे । तत्र तत्र भासमानो नातिन्यूनाधिकस्सांख्य योगयोस्सिद्धान्तोपि प्रमाणयति प्राचीनार्याणां व्यवहारसाम्यम् । नित्यकर्मप्रकारो गृहदेवताबलिप्रकारश्चास्य साम्य एव सम्मतौ । सर्वेषामपि साम्यदर्शकप्रमाणानां प्रबलं प्रमाणमिदं यदत्रापि दृश्यते चर्चा अभिचारस्य । द्वेषस्योत्कटत्वे कलहे च स्वस्यैव द्वयोर्वा विनाशशङ्कायां

शत्रुसंहारकृते विहितो दर्शनान्तरे अभिचारः। अयं हि विधाय कर्मणि श्येनार्हिंसायास्सत्त्वात् फलेऽपि शत्रुहिंसायास्सत्त्वात् अभ्युदयफलमपि हिंसासाध्यस्य कर्मणस्सत्त्वेऽपि पापप्रयोजकफलस्य हिंसासाध्यस्य कर्मणोऽसत्त्वान्निषिद्धश्च।

जीर्णोद्धारविधिप्रकरणानन्तरं मुद्राविधिनामकं प्रकरणमस्ति। अत्र नाराचादीनां विन्यसनमुद्राणां महामुद्रादीनामावाहनादिमुद्राणां गोवृषगरुडासन्योर्नेत्रात्रयोः पूजामुद्रयोः पाशादीनां जयादिदेवतापूजामुद्राणां शङ्खादीनां षोडशविद्यादेवीमुद्राणां दण्डादिसहितानामासां दिक्पालमुद्राणामन्यासां च परमेष्ठिप्रभृतीनां मुद्राणां निर्माणप्रकारो दर्शितः। मुद्रादर्शनं बाललीलेवाडम्बरमात्रफलकमिति वदतां संशयापनोदायेदं प्रकरणं पर्याप्तमपि मुद्राशिक्षणकर्मणि महोपयोगि। अत्र परं प्रायश्चित्तविधिप्रकरणमस्ति। एतच्च सर्वैरास्तिकैरभ्यस्तव्यम्। अतःपरमर्हदादीनां वर्णादिक्रमविधिस्ततः परं विद्यादेवीनां षोडशकं दिक्पालदशकं ततः परं ग्रहनवकं ततः परं प्रशस्त्या ग्रन्थसमाप्तिः।

अस्याचार्यस्य पाण्डित्यं लोकोत्तरं वर्णितं दृश्यते तदवगमश्च कथावल्यां प्रभावकचरिते च चर्चितादस्य चरित्राद्विधातव्यः। अस्य ग्रन्थस्य लेखशैली चापि सूचयति संस्कृतप्राकृतभाषयोराधिपत्यमस्य सूरेः। निर्माल्यं देवस्वदेवद्रव्यनैवेद्यनिवेदितनिर्माल्यभेदेन पञ्चधा। तत्र देवस्वं देवकृते दत्तं ग्रामादि देवद्रव्यं देवकृते कृतमलङ्कारादि नैवेद्यं देवसन्निधौ समार्पितं तत्कृते कल्पितं मोदकादि निवेदितं प्रसादितोत्सृष्टं तदेव निर्माल्यं देवदेशादपसारितं तदेवेत्यादिग्रन्थेन तत्तद्वस्तुभेदोपभेदबोधकेनास्य सूरेस्संप्रदायबोधमहोदधित्वं सुव्यक्तमेव। लोकोत्तरपण्डितस्याप्यस्य वैनयिकी बुद्धिरपि लोकोत्तरैवासीत् तस्या वर्णनं चावश्यकटीकायां कृतं दृश्यते। विनयो हि वैदुष्यपरीक्षकः स्थितश्च विदूरे विनयस्य विद्वानपि न वस्तुतो विद्वान् इति विदुषां सिद्धान्तं कथमवमन्येतेदृशो विद्वान् ग्रन्थकारः। जीर्णोद्धारकारणं परिगणयता पादलिप्ताचार्येण

सूरिणा पिशाचाद्यधिष्ठानभूतस्यापि बिम्बस्य पुनरुद्धारो विहित इत्यपि अल्पज्ञैः पिशाचादीनां चर्चा न गण्यमान्यप्राज्ञसंमतेति कथयद्भिर्विचारणीयम् । अस्मिन् निबन्धकारे निवसतां गुणानां गणनायां तु नाहं प्रवृत्तो न वा स मम साध्यस्तथापीति तूच्यते यत् सूरिणा प्रसङ्गमुत्थाप्य मतान्तरचर्चापि नादृता का कथा निन्दायाः एतस्यैव नाम पाण्डित्यम् ।

एतत्सूरिवर्यकृतास्तरङ्गवतीकथाप्रश्नप्रकाशशत्रुंजयकल्पनामानोऽपि निबन्धा आकर्ण्यन्ते । प्राकृतभाषानिबद्धायास्तरङ्गवतीकथायाः ससंक्षेपः कृतो नेमिचन्द्रसूरिणा सूरिप्रकाण्डेन । शत्रुंजयकल्पस्तु श्रीभद्रबाहुस्वामिकृतस्य श्रीवज्रस्वामिनोद्धृतस्य संक्षेपरूपः । अस्मादेव सारमुद्धृत्य संक्षेपेण प्रणीतः शत्रुञ्जयकल्पः श्रीजिनप्रभसूरिणा । कल्पः प्राभृततः पूर्वं कृतः श्रीभद्रबाहुना । श्रीवज्रेण ततः पादलिप्ताचार्यैस्ततः परम् । इतोप्युद्धृत्य संक्षेपात्प्रणीतः कामितप्रदः । श्रीशत्रुंजयकल्पोऽयं श्रीजिनप्रभसूरिभिरिति प्रमाणमत्रार्थे । ग्रन्थकृता तथा चागम इति कृत्वा प्रमाणरूपतयोदाहृतास्तास्ता गाथाः पूर्वागमानाम् ।

एतस्य पादलिप्तसूरीश्वरस्येतिवृत्तं प्रभावकचरिते पादलिप्तप्रबन्धे वर्णितमस्ति तत एवैतज्जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्यम् । कोशलायां पुरि फुल्लप्रतिमाभ्यां महामुनेरस्य जन्म कृपातः शासनदेवतायाः श्रीपार्श्वनाथायतनायतनाया आशीर्वादतश्चार्यनागहस्तिसूरीणाम् । गर्भादष्टमे वर्षे विद्यारम्भो वर्षेणैव चाध्ययनं सर्वविद्यानां वैदग्ध्यातिशयमहिमवशात् । तासु तासु राजसभासु तैस्तैः पण्डितप्रकाण्डैस्सह शास्त्रार्थो विजयश्च वर्णितो विस्तरेण । जन्मसमयस्त्वेषां बहूहापोहपुरस्सरमाङ्गभाषाभूमिकायां बी. ए. (ऑनर्स), एल्‌एल्. बी. सोलीसीटराद्युपाधिधारिणा श्रीभगवान्दासजीतनयेन पण्डित श्रावकश्री मोहनलालजीत्यनेन लिखितायां सुनिरूपितो वर्तते सच विक्रमसम्वत्सरस्य तृतीये वर्षे प्रतिभाति—

रमापतिमिश्रः

निर्वाणकलिकाविषयानुक्रमः ।

NIRVANA=KALIKA.

INTRODUCTION.

The present work Nirvana-Kalika is a treatise by Padliptacharya or Palittasuri who flourished in the first century of the Vikrama era and is the oldest extant work dealing with ceremonials relating to the "Installation of Idols" and is also known as "Pratishtha-Paddhati" *i. e.* "Treatise on Installation".

CONTENTS.

It also deals with the Daily Worship and "Initiation of a person as a Jain" or *Mantrika-Diksha* & "Consecration as a Preceptor" or *Acharyābhisheka*. In connection with the *Diksha-Vidhi* and *Acharyābhisheka* are given descriptions of *Sarvatobhadra-Mandala* (Diagram having Bhadra-shape on all sides) & erection and decoration of Puja-Mandapa (Tent for worship). In course of the Daily-Worship-Ceremonies is described the Nitya-Puja-Yantra (Diagram for Daily-Worship), which is the larger form of the Saint Wheel *(Siddha-chakra)*. The third part of the work deals with the "Installation-Ceremonies" and in course thereof describes the "Nandavarta Mandala" (Diagram of auspicious turn being Seat of Tirthankaras). The five kinds of Pratistha viz. (1) *Pada-Pratishtha* (Installation of Foundation), (2) *Dwara-Pratishtha*, (Installation of Doors), (3) *Bimba-Pratishtha*, (Installation of Idols), (4) *Hrit-Pratishtha*, (Installation of Heart), (5) *Chūlika-Pratishtha*

or *Shanku-Pratishtha,* (Installation of Top or Cone), are treated in this part. After dealing with the subject of selecting and taking possession of land in the chapter styled *Bhūmi-Pariksha* (Examination of Land), and *Bhumi-Parigraha* (Taking possession of Land), the *Pada-Pratishtha* or Foundation ceremony is described. It begins with *Vastu-Puja,* (Worship of Architectural Deity)-the section being entitled *Shila Pratishtha Vidhi* (Installation of Stone). In this connection the 64 *Padika* (Parts) Vastu ceremony applicable to Temples is described. It also mentions 81 *Padika* (Parts) *Vastu-Ceremony* applicable to other buildings. The *Dwara-Pratishtha* is the cēremony connected with putting up the doors. The *Pada-Pratishtha* is Foundation Ceremony. The *Bimba-Pratishtha* is the Installation proper of the Idol. The *Hrit-Pratishtha* is somewhat novel and seems to have been rather forgotten. It relates to the Installation of the Central portion of the structure compared to *Stambha-Pratishtha* (Installation of Posts) in ordinary structures. *Chūlika-Pratishtha* includes the installation of *Chūlika* (Top), *Kalasha* (Jar), and *Dhwaja* (Flag). In other structures, the final ceremony is *Mobha-Pratishtha,* (Installation of the Central beam in the roof). Then are described the 8 kinds of "Vedikas" (Square platforms or seats). The subject thereafter treated is the removal of old and substitution or reinstating of the idols. It is called the reinstallation or *Jirnoddhara-Vidhi.* It may be of interest to note that *Prayashchittavidhi,* (Purifying-Ceremony) which is next taken up deals with five kinds of Nirmalya (Offerings) viz. (1) *Devasva* (Land of God), (2) *Devadravya* (Ornaments and decorations of God), (3) *Naivedya* (Things meant for God), (4) *Nivedita* (Things offerred to God), (5) *Nirmalya* (Removed offerings). There is also a reference to *Devadravya* in

Nityakarmavidhi (Daily Worship). In the recent controversy on the subject, between the late Vijaya-
Dharma-Suri and Sagarananda-Suri the occurence of the word *Devadravya* and its treatment here do not
seem to have attracted the attention of the learned controversialists, as otherwise the controversy would not
have proceeded much further, owing to the antiquity & authenticity of the *Devadravya* being sufficiently
proved by the present work. The Chapter on *Mudra-Vidhi* deals with the disposition of fingers so as to
form various suggestive diagrams to aid contemplation. It is of unique interest. The *Mudras* seem to have
been described in a seprate chapter as they are mentioned in the other parts of the work in course of various
rites and ceremonies. The last chapter describes the complexion, cognizance, birth-constellation, birth
Zodical singn, and attendant *Yaksha* (Male-Deity), and *Yakshini* (Female Deity), *Vidyadevis* (Goddesses
of Learning), *Lokapalas* (Protectors of worlds), *Grahas* (Planets), Yaksha-Brahmashanti and Kshetrapala
(Warden of land). As regards the reference to Zodiacal signs we shall deal with the same in its histodical
aspect below. This chapter on *Mudras* as also certain other portions of the work dealing with various
ceremonies have great resemblance to Tantrika rites. The author uses the word "Deshika" in connection with
Foundation Ceremony or *Pada-Pratishtha* as meaing the preceptor performing the ceremonies. This is a word
ordinarily found used in that sense in Tantras. The Kularnava-Tantra Chapter 17 verse 14 derives it thus:—

देवतारूपधारित्वाच्छिष्यानुग्रहकारणात् । करुणामयमूर्तित्वाद्देशिकः कथितः प्रिये ॥ १४ ॥

The reference to *Ashtamurti* (Eight-fold form) in the Daily Worship is significant as the word usually signifies *Shiva*.

DAILY WORSHIP AND ITS NATURE.

Taking up the chapter on Daily-worship, it is of great interest to compare the same with passages on the subject in *Agamas* or Holy scriptures as also other works on the subject viz. "Puja-Prakarana" by Bhadrabahuswami "Shravakaprajnapti" by Umaswati "Puja-Vidhi" and "Vidhi-Prapa" by Jinaprabhasuri, "Acharadinakara" by Vardhamanasuri and "Acharapradipa" and "Shraddha Vidhi" by Ratnashekharasuri. It has althrough remained the same but for some slight variances. It also shows the influence under which the Jains were at the time in their daily worship. It is that of Tantrika and Sankhya Yoga philosophy. There are five kinds of *Shuddhis* (Purificatory ceremonies) *Dharanas* (Concentrations) *Dhyana* (Meditation), *Dig-bandhana* (Fortification), *Gurupuja* (Worship of Preceptor), *Vidyadehanyasa* (Placing of mystic-syllabic body) aided by contemplation of Arhan with 12 *ganas* (Divisions) and with Jnanashakti (Prowess or Goddess of learning), *Mudras* (Suggestive diagrams of fingers), *Mantras* (Mystic syllables) *Sakalikarana* (Unifying Rite), "*Mandalapuja*" (Worship of Elemental Diagram), "*Nyasas*" (Placing of Mystic-Syllables), "*Manasika-Puja* (Mental worship), as also *Griha-Devata-Pujana* (Worship of Homely Deities and *Balividhana* (Rite of offerings to be performed). There is also a reference to *Homa* (Sacrifice) at p. 7-1 ch. Dikshavidhi, of this work. The Sankhaya Yoga influence may be illustrated by reference at p 28-2 to use of Tattvas (Elementary Substances) as described by the Sankhyas. There are also the *Kala & Vidya* of Tantrikas included. But there is a third and distinct current which mentions Raga, Chandra,

Aditya, Rakta, Ashvis, Agni, Indra, Vishnu, Mitra and Brahma as Lords of various senses or functions. There is also given the ancient "Yantra-Puja" (Worship of Diagrammatic representation). As regards the Yoga influence the description of Nirmanaskavastha (Condition void of Thoughts) is an instance. *Pranayama* (Breath-Control) is prescribed for Bhutashuddhi (Purification of Bodily Elements).

DIKSHA VIDHI AND ACHARYABHISHEKA.

(Initiation and Consecration)

Diksha Vidhi (Initiation) or *Mantra Diksha* (Initiation with Mantras) is practically forgotten at the present time and even in later works it is to be found treated only in "Achara-Dinakara". The Chapter on *Acharyabhisheka* (Consecration as Acharya) is of importance to show the qualifications which are thought necessary in the person receiving the dinigity and to show how he was respected even by his preceptor on conferment of the Dignity. It not only deals with consecration of Acharya, but says that *Abhisheka* (Consecration) may be similarly performed for attaining various wordly objects *e. g.* regaining lost kingdom and having a son.

TANTRIKA INFLUECE.

This chapter as also the subsequent chapters on Installation ceremonies lend additional support to the inference that the present work bears many marks of Tantrika influence. Sir John Woodroffe the famous writer on Tantras has made it abundantly clear that Tantras do not necessarily mean rite with wine and women. Every great religion has had its distinct mode of meditation, path of realization, and the way of attaining final beatitude.

There will be exoteric as well as esoteric doctrines the theoretical as well as the practical portions of the religious philosophy. The Tantra as known has to do more with the practical method of realization rather than the theoretical. There are Shaiva, Shakta, Vaishnava, Ganapatya, Saura, Bhairava, and many other Tantras, still the general nature of realisation is same, they are therefore brought under a common denomination "Tantrika", although each has its distinct philosophy as well as deity. It is not surprising therefore that Jain methods of realisation *i. e.* the practical portion of it should greatly resemble what is known as Tantra-Marga. The most important doctrine of the Tantrikas for practical realisation is *Shat-Chakravedha* (passing through six centers or plexes of body.) by concentration. It cannot be said that the Jaina works do not adopt that method for realisation. "Yoga-Shastra" of Hemachandracharya and "Jnanarnava" of Shubhachandracharya describe the Pindastha (Bodily) as well as *Padastha-Dhyana* (Mantrika). The present work also prescribes *Nirmanaska Dhyana*. Wherever Mantras are used to

and meditation, wherever there are meditator, meditation, and object of meditation, the mode may be said to be Tantrika. There are many more Tantrika characteristics here and they have been already indicated. Tantra is primarily the *Kriya Kanda* or practical part complementing the *Jnana Kanda* or theoretical part. Every religion will no doubt harmonise its *Kriya-Kanda* to its theoretical portion or Philosophy. It has been so harmonised here. Another distinguishing feature of Tantra is that it may be classed as *Adhi-Daivika-Vada* as distinguished from and midway between *Adhibhautika-Vada* and *Adhyatmika-Vada*. Like other Shastras, the Tantra Shastra also has attempted to include the other two *Vadas* to make it a complete whole, but the same remain subsidiary. The 3 Vadas, are three stages in the spiritual evolution of man, and none of them can be neglected.

The chapters on *Dikshavidhi* (Initiation) and *Acharyabhisheka* (Consecration as Acharyas) and the chapter on *Shila-Nyasa* (Laying of stone) describe the requisites of the two ceremonies viz. bunting, chowries, flags, mirrors, leaf-arches, bells, lotus-stems, and other decorations, the "Mandapa" (Tent), Vedikas (Raised seats), the doors, the posts, the five coloured *Mandala* (Diagram), *Kumbhas* (Pots), *Kalashas* (Jars), *Shankhas* (Conches), draperies, *Yavarakas* (Barley-shoots). They are all the same as may be found in any Hindu work on ceremonials or Architecture.

The Sarvatobhadra-Mandala Vastu-Mandala and the Mandapa are described here as are described subsequently in other works on architecture, such as "Samarangana" by King Bhoja, "Raja-Vallabha", "Vishva-Karma-Prakasha", and "Shilpa-Dipaka".

VASTU CEREMONY.

(Worship of Architectural Deity)

The Vastu-Ceremony was until recently commonly believed to be a ceremony adopted by the Jains because of their contact with the Hindus, as Jains usually adopted themselves to their surroundings and did not unduly give importance to matters-not strictly connected with their religion but wordly in their nature-to avoid straining of feelings between them and the general Hindu population. It may however be of importance to note that Vastu-Vidhi is similarly treated in the Upanga *Jambu-Dwipa-Prajnapti.* (P. 207–210 Agamodaya Samiti Edn.)

In the beginning of *Pratishtha Vidhi* are described the qualifications of *Acharya* (Preceptor), *Indra* (Person performing ceremonies) and *Shilpi* (Architect) and are thereafter described all sorts of Installation-Ceremonies from the laying of the foundation to the implanting of the flag. These have already been dealt with. The minor ceremonies and other subjects may be seen by a glance at the table of Contents. The chapters on Mudra Vidhi and Prayashchitta and Arhadvarnadikam, have been also dealt with in the foregoing part.

We may here briefly consider the mention of Zodiacal Signs. These are said to be of Greek origin and supposed to have been introduced in India about the time of Varahamihra. This is because there was

not found reference to them in any Indian work of earlier date. When the Greak influence is known to have been great in the time of Chandra-Gupta and when it is known that many things of Greek origin were then introduced in India, it is quite probable that the mention of Zodiacal signs in this work instead of proving the work to be later in date proves that the Zodiacal signs were introduced earlier. This is so because the date of the work is 1st century of Vikram era both from internal as well as external evidence. We have already mentioned the ancient current of thought in this work. Metrically also the Gathas cited here lead us to the same conclusion. Externally the author of the work will be shown to have flourished in the 1st century of Vikrama Era.

POINTS FOR ANTIQUARIANS.

The work is of great importance to the antiquarians as it supplies a link between the period of the composition of the Jain holy scriptures and the date when they were systematically committed to writting. The work is written in Sanskrit in departure from the usual practice to write in the Ardhamagadhi language of Jain Religious works of the time. It reflects the spirit of the time when King Vikrama who started the Vikrama era was on the thorne. The pomp attached to Acharyaship is great. Royal insignias such as elephant, horse, palanquin, chowries, umbrella, as well as *Yogapattaka* (diagram for worship) and

Khatika (Pen), books, Crystal-bead-rosary, and sandals are presented to Acharya on conferment of the diginity. Both *Shakhas & Gachchha* are mentioned. The reference in the *Nitya-Karma-Vidhi* to *Ashta Murti* (eightfold form, Shiva) is important and shows that Jain worship was influnced by Tantrika Agamas where the chief deity is Shiva. There was a revival of Hindu learning and Sanskritists flocked together in large numbers to the audience hall of King Vikrama. The learned Jains vied with the Hindu Pandits in the Sabha of Vikrama. The Jains also began to study Sanskrit in large numbers and commenced writing works in Sanskrit dealing with their religion. About the time the famous Umasvati, the learned author of *Tattavartha Sutra* also wrote his aphorisms in Sanskrit. At the same time the Prakrit language continued in full force and works began to be written in both the languages. Kundakundacharya of the Digambara sect who is said to have flourished about 49 S. Y. about this time wrote his 8 famous *Pahudas.* (summaries or extracts from 14 Purvas, the lost Agamas, in Prakrit). This was the time when *Pahuda Granthas* were in vogue. Since the time of Bhadrabahu-Swami till about the middle of the second century, such kinds of works continued to be composed. They purport to be the preserved summaries on various subjects treated in *Purvas* which were fast becoming extinct by the time. It appears from the available Pahudas and the quotations of Gathas in the present work hereafter discussed, that it is not correct what the Western Scholars say that *Purvas* contained merely the disputations of Shri Mahavira with his contemporaries. The work goes to show that *Purvas* dealt with as great a variety of subjects as the existing *Agamas*. The Jain tradition is that Bhadrabahu-Swami was the last person who knew all the fourteen

Purvas, and he was the first to compose the *Pahudas* which were collections of relevant passages out of *Purvas* on select subjects. It may be noted here that the word *Pahuda* or "Prabhrita" is also used to signify chapter in certain Agamas *e. g. Surya-prajnapti* and others.

VAJRASWAMI AND PADLIPTACHARYA.

It appears that Vajraswami further classified the subjects in their various divisions and rearranged *Pahudas* with a view to have separate treatises on the various divisions of a general subject which was formerly treated as a whole by Bhadrabahu-swami. What the author of the present work Padlipta-suri is said to have done is to abridge the said treatises. This is the view of Jinaprabhasuri as expressed in "Vividha-Tirtha-Kalpa" otherwise known as "Kalpa-Pradipa". He also says that Vajraswami's pupil re-arranged "Kalpa Prabhrita" and Padliptasuri abridged the same. This can be reconciled with conclusion arrived at in the portion hereof dealing with Padlipta's date by supposing him to be an elder contemporary of Vajra-Swami, complementing the work of the younger "Yuga-Pradhana" (Leader of the age) Vajra-Swami. This will appear to be certain, from the reference in the "Anuyogadwara" *Mula-Sutra* of Aryarakshitasuri as also from the discussion in the section dealing with Padlipta's date.

THREE PERIODS OF JAINA LITERATURE AFTER AGAMAS.

The first is the Pahuda period beginning with Bhadrabahu Swami and extending over the middle of the 2nd century A. D., when Dharasena composed the Yoni-prabhrita about 135 A. D. The names of some of the Pahudas or Prabhritas known from references in various works are "Siddha-Prabhrita", "Vidyaprabhrita", "Yoni-Prabhrita", "Nimitta-Prabhrita" (Kathavali), "Pratishtha-Prabhrita", "Karma-Prabhrita" (Karma Grantha), "Vijnana Prabhrita", "Kalpa Prabhrita" (Vividha-Tirtha-Kalpa), "Swara-Prabhrita" (Commentary of Thānanga Sutra), "Nātya-Vidhi-Prabhrita" (Commentary, Rayapaseni, page 52 Agamodaya-Samiti Edition). There are also the 8 Pahudas of Kundakundacharya. The remnants now available are fractions of Yoni-Prabhrita, Vijnana Prabhrita, fraction of Nimitta Prabhrita viz. Prashna Vyākarana, dealing with Prashna-Jyotisha and different from the published Anga of identical name & Anga-Vidya. Thus about the middle of the 2nd century the Pahuda period ends. It appears that for the present work that the Vidya.Prabhrita and Pratishtha Prabhrita have been requisitioned.

PERIOD OF LOGICIANS.

Then commences the era of Logicians with Siddhasena-Divakara at the head, followed by Samanta-Bhadra and others. They were followed by the great Siddhantins Devardhigani and Jinabhadragani and the

Agamas were systematically committed to writing as was the great Bhashya written. Sanghadasa and others wrote the other Bhashyas about the time. They were followed by the Churnikaras, the greatest being Jinadasamahattara-Gani. All these followed the Tradition strictly and tried to protect the Siddhanta from the unfettered intellectual attacks of the Logicians.

PERIOD OF COMMENTATORS.

With Haribhadra came the amalgamation of Tarka with Siddhanta and commentaries in new style came to be written on Agamas in Sanskrit which thoroughly satisfied the logical instinct then aroused amongst the learned Jains by Siddhasena and his followers. The great commentators Shilankacharya Abhayadeva-suri, Malayagiri, Dronacharya and Shantisuri accomplished the task of ellucidating the Siddhanta. Hemachandracharya with his versatile intellect completed the development of the Jaina writings in all the branches of literatuie and philosophy and Jainism reached its Zenith in his times.

WHEN DID THE JAINS COMMENCE WRITING WORKS IN BOOKS.

The very important feature of this work is that it contains passages which throw a considerable light on the Jain tradition and furnish direct proof of its authenticity which is already proved by Buhler-

N. K.

Jacobi theory from independent sources. Prof. Jacobi has had to depend on indirect proofs, when he says that the scriptures of the Jains came to be written for general use in the time of Devardhi Gani although it was not unusual long before that to write scriptures in books. The passages are as follows .—

तत्र मन्त्रतन्त्रकल्पानदीक्षितान्न श्रावयेत् । नापि तत्पार्श्वोल्लेखयेत् । अज्ञानस्वरूपं न दीक्षयेत् ॥ पृ. ७–२

तदर्थं कायोत्सर्गं कृत्वा निषद्यायामुपविश्य आत्मनो दक्षिणभागे शिष्यमुपवेश्य लग्नवेलायां कुम्भकयोगेनाचार्यपरम्परागतं पुस्तकादिषु लिखितमाचार्यमन्त्रं निवेदयेत् । ततो गन्धपुष्पाक्षतान्वितं मुष्टित्रयमक्षाणां दत्त्वा तदनु छत्र-चामर-हस्त्यश्व-शिबिका-राजाङ्गानि योगपट्टक-खटिका-पुस्तका-ऽक्षसूत्र-पादुकादिकं च दद्यात् ॥ पृ. ९–१

There is the direct reference to *Pustaka i. e.* book and the Surimantra being about the time written in books etc. There is also warning against an uninitiated person writing works relating to Mantra Tantra and Kalpas. It is possible thus that athough the books were not in general use in some places at least the scriptures must have been written in books for exact preservation of the same. We may observe in passing that the reference to "Nandi-Sutra" in the chapter must be to the original Sutra and possibly to "Brihannandi described in "Yoga-vidhi" as also at the end of "Nandi-Sutra" (Agamodaya samiti Edition) and the inference of Dr. Jacobi that what Devavachaka did was to redact and enlarge upon the old work seems to be true.

While dealing with the *Nitya-karma-Vidhi* I dwelt upon the ceremonials being the same before and after the date of the present work. Another factor which goes to prove the authenticity of the Jain

tradition is that the Pantheon as described in this work is the same as in the scriptures or subsequent works. The *Mantras* used in the ceremonials are also the same. The Saint Wheel *(Siddha-Chakra)* and the *Nandavarta Mandala* are also the same.

DIVISIONS OF SHWETAMBARAS AND DIGAMBARAS.

From the colophon of the work it appears that even in the first century of Vikrama the Divisions of *Shwetambaras* and *Digambaras* were in existence. The colophon of the *Stutis* of Siddhasena Divakara confirms the existence of such divisions in ancient times. It is very probable therefore that the divisions are really much older than supposed to be, and Dr. Jacobi's inference in this respect from other sources seems to be quite sound. I think that the divisions became marked from the time of Arya-Mahagiri and Arya Suhasti.

GATHAS FROM LOST AGAMAS.

The most important feature of the work is that it contains nearly 70 verses *(Gathas)*, some of which are actually quoted as from "Agamas" and others are also probably from "Agamas" although not expressly stated so to be. These verses cannot be identified in any of the available "Agamas". The author himself in the opening verse mentions that this treatise has been extracted from "Jinagama". It is stated

in the colophon that this treatise has been composed after considering the Mantras of the *Siddhanta*. The verses appear to give a connected account of the Installation-Ceremonies. They furnish to us a clue to what Purva literature was. It was not what is surmised to be merely the disputations of Shri Mahavira with his contemporaries, but a variety of subjects as already stated. It is probable that they formed a part of "Vidya-Pahuda", and may have been taken from "Pratishtha-Pahuda" separated by Vajraswami from the former work of Bhadrabahuswami. They thus furnish direct evidence of what "Pahuda-Granthas" were. Besides the said *Gathas* which look like quotations rather from "Pratishtha-Pahuda", there are Mantras in Prakrit which are probably taken from the larger work Vidya-Pahuda which as its name indicates must have dealt with various Mantras. I have already cited Jinprabhasuri's opinion on the point and have mentioned the names of "Pahudas" referred to in various works.

REFERENCE TO NIRVANA-KALIKA.

The "Prabhavaka-Charitra" mentions the present work by name, in the biography of Padliptasuri there given. The earliest work which cites the present work by name is the commentary by Siddhasenasuri (1186 A. D.) on "Pravachanasaroddhara" of Nemichandrasuri in connection with the description of atten dant Yakshas and Yakshinis, (see p. 95–1 Pravachana-Saroddhara Devachanda Lalbhai Edn.).

HARIBHADRA'S BIMBA-PRATISTHA-VIDHI.

Without mentioning the present work by name Haribhadrasuri in his eighth "Panchashaka" named "Bimba Pratishtha Vidhi" has adopted many of the verses of the present work altering some partly, and incorporating many with but linguistic changes that took place in the Prakrit language, presumably because of the great interval of time between Padliptasuri and Haribhadrasuri. The learned commentator of Haribhadra's "Panchashaka" Shri Abhayadevasuri has quoted some of the *Mangala-Gathas*, only alluded to by Haribhadra the author of the work, without any appreciable alteration of language. These are:—

जह मेरुस्स पइठा जंबुदीवस्स मज्झयारंमि । आचंदसूरियं तह होउ इमा सुप्पइठत्ति ॥ १ ॥

जंबुदीपइठा जह सेसयदीवमज्झयारंमि । आचंदसूरियं तह होउ इमा सुप्पइठत्ति ॥ २ ॥

जह लवणस्स पइठा सव्वसमुद्दाण मज्झयारंमि । आचंदसूरियं तह होउ इमा सुप्पइठत्ति ॥ ३ ॥

STYLE.

The author himself in the opening of this work says that the treatise is being written in a clear way (Spashtartha). The diction has the merit of what Rhetoricians call *Prasada* quality or clarity. The work is written in a pure, homely, concise, and clear style. The author has great command over language

and owing to that merit is able to avoid monotony even in such a work of ritua's. He proceeds in a very smooth manner and keeps up our interest by the variety of subjects he treats of in a masterly manner giving authoritative statements on each of them. The treatment has the merit of thoroughness in a small compass. The sentences and phrases tend to become proverbial and imprint an ineffacable mark in our memory. We feel all along as if we are enjoying a summer-swim while going through the work.

LIFE OF PADLIPTA.

The biography of the author has been given in Kathavali & Padlipta Prabandha (Prakrit), Prabhavaka Charitra, in great details and also in Prabandha-Chintamani. Padlipta's mother named Pratima wife of Fulla a merchant in Koshala, which was then ruled by King Vijaya Brahma had for many years no son. She worshipped the goddess Vairotya for having a son. She was told by the goddess to drink water being the foot-wash of Shri Aryanagahastisuri. He was in the line of Kalikacharya called the dynasty of Vidya dharas which started from Nami and Vinami the tributary Princes of thefirst Lord or Tirthankara Rishabhadeva, who were given the Vidyas presided over by 16 Vidyadevis viz. Rohini and others along with the Kingdom of Vaitadhya by the Serpent-King Dharanendra. Hemachandracharya in his "Trishashtishalaka-Purusha-Charitra" narrates the annecdote, and says that the Vidyadharas were divided in 16 groups

named after the particular *Vidyadevis* worshipped by them. Thus Kalikas meant those who worshipped Kali. The said Pratima went to Aryanagahastisuri the next morning and when about ten steps away from the preceptor partook of the said water. She was therefore told by the preceptor that as she did so she would have a son who will be reared up ten Yojanas away in Mathura on the other bank of Yamuna and that she would have ten sons. In return the preceptor asked of her that the first son should be allowed to be initiated as his pupil. She consented. The first son was the author of our work. He was brought up under directions of the preceptor and when 8 years old was intitiated by Shri Aryanagahastisuri's brother-preceptor Sangamasinhasuri. He was then placed in charge of Sangamasinha's learned pupil named Vachaka Mandanagani. Thus Padlipta became a scion of the Vidyadhara's Dynasty. Padlipta otherwise known as Palitta acquired learning under him very soon and learnt all that was being taught to other pupils also. Within a year he completed his studies. He was one day sent out to beg and bring food. On his return he said as follows.—

अंबं तं वच्छीए अपुप्फियं पुप्फदंतपंतीए । नवसालिकंजियं नववहूइ कुडएण मे दिन्नम् ॥

Hearing this flowery description of the lady the preceptor remarked "You are Palitta (पलित्त) *i. e.* (Besmeared with sin)." The pupil replied, "Be pleased to add a Karna *i. e.* Say Pālitta (पालित्त)" which meant, "You (may) have flying-foot application". The preceptor was pleased by the pupil'switty reply and his birth-name Nagendra given to him at his birth after the mother's dream of the King of Naga-Devatas was thenceforth changed into "Pālitta". In his 10th year he was installed as an Acharya. He spent the

beginning of his life in and about Mathura, and after about 3 or 4 years was directed to proceed to Patliputra where by sheer force of intellect he became a close friend of the King Murandarai. The details of his life about the time can be had from the Prabhavaka Charitra. He also showed his accomplishment in the "*Mantra-Shastra*" to King Muranda.

Haribhadra-Suri in his commentary on Avashyaka-Sutra while citing instances of different kinds of intellect cites Padliptasuri as an instance of Vaineyaki-Buddhi. A ball of thread, waxed together was sent to the Sabha of King Muranda for the end of the thread being discovered without cutting up the ball. Nobody could do it and Padliptasuri was requested to do so. By putting the thread-ball in hot water he seperated the wax from the ball and the thread-end was taken out. Similarly a stick both ends of which were equally shaped was sent to King Muranda for finding out the root-end of the stick. Padliptasuri by putting it in water took out the root-end being the heavier part. Before Haribhadrasuri the great Bhashyakara Jinabhadra Gani also refers in his Bhashya to Palittasuri and his Prakrit novel Tarangavati as also Vasavadatta of Subandhu. Padlipta thus gained complete influence at the Court of King Muranda. We do not know exactly when he travelled over to Broach but it is possible that he must have done so when at the age of about 20 years he travelled to visit the holy places of pilgrimage viz. Shastunjaya Girnar. He then visited. Valabhi and Tankapura the place where Nagarjuna lived. Thenceforward for the greater part of his life Padlipta resided at Manakhetapura. There also he became a great friend of King Krishna who was much impressed by Padlipta's literary qualifications.

About the time the Buddhists had great influence in various courts of India and controversies between Buddhists on one side and Jains on the other were very common. Aryakhaputacharya and Upadhyaya Devendra his pupil were Jain Sadhus wellknown for their learning and accomplishments in magical lores. One Buddhist from Gudashastrapura, who was defeated by a Jain Sadhu in a controversy before the King of Broach, died and became a malevolent spirit and began troubling the Jains. The services of Aryakhaputacharya were requisitioned, and by his prowess he made the Buddhist Yaksha (spirit) do his bidding and follow him out of the town. The king was thus won over, and the spirit gave up harassing the Jains Devendra similarly punished the jealous Brahmins in the Court of King Dahada at Patliputra by turning back the faces of the Brahmins by his magical prowess. When they promised to become Jain ascetics they were released and the King thenceforth never insisted on the Jain Sadhus bowing to the Brahmin householders. Both these preceptor and pupil were respectively versed in "Vidya-Pahuda" and "Siddha-Pahuda". The author of the "Prabhavakacharitra" mentions that Padliptacharya acquired these magical lores from Aryakhaputacharya. It also narrates that Rudradevasuri learned in the "Yoni-Prabhrita" (that is treatise on Medical Ingredients which when mixed in various manners produce various kinds of insects and animals), and Shramanasinha learned in the Nimitta Shastra (that is the science of prophecy) were Padlipta's contemporaries who met and came in contact with him and Vidya-Chakravarti-Sovereign of Magical lores-Aryakhaputacharya and Siddha Upadhaya Devendra at Manakhetapura. Padlipta had acquired the flying-lore by applying medical ingredients to feet, and daily performed pilgrimage of the five sacred places including

Shatrunjaya (Palitana) and Girnar or Revantagiri. He is described to have brought round the relations of the Brahmins who had become Jain Ascetics at Patliputra by the prowess of Devendra. He is also mentioned as having performed the Installation-Ceremony of the Banner of the Temple of Munisuvrata-Swami at Broach, at the instance of King Sata-Vahana or Shali-Vahana. This is quite probable. The said King may have been Hala of the Shali-Vahana Dynasty, the famous author of the Prakrit Gatha-Sapta-Shati. It is also narrated that Shalivahana requested King Krishna of Manakhetapura (Mannakhedapura) who was much attached to Padliptasuri to allow him to remain with the former for some time. Padlipta-Suri thereupon went over to Pratishthana-pura now known as Paithan the capital of the Andhra King and composed his famous novel Tarangavati in Parkrit which became very popular. Even his rival Panchāla had at last to admit the excellent qualities of the novel and the following verse in Prakrit is said to have been uttered by him on hearing of Padliptas death:—

सीसं कहवि न फुट्टं जमस्स पालित्तयं हरंतस्स । जस्स मुहनिज्झराओ तरंगवइया नई वूढा ॥

It seems that Tarangavati was the first novel in Prakrit as distinguished from mere biography of which there was abundance even in former times. The Agama literature, and especially the Charitanuyoga therein furnishes us instances of the latter kind. There were works of the kind of "Uvaeshamala" and "Pauma-chariyam", but a true novel in the sense of fiction having not the least claim to historicity, was only Taranga-vati-and was the first & the best of its kind. I will hereafter refer to the other novel Malayavati. They

were followed by "*Vasavadatta*" of Subandhu, "Samaraichcha-kaha" of Haribhadra-Suri, "Kuvalaya mala" of Udyotana-Suri *alias* Dakshinya-Chihna as also Lilavati, and Shringara-Manjari of non-Jain writers. The latter has been composed by King Bhoja. These novels were very popular and were largely imitated. The latter novelists praise especially Padlipta, Jivadeva and Haribhadra as great novelists, whose novels sweetened many others.

The famous Yogi Nagarjuna about the time heard of the fame of Padlipta Suri and his accomplishments in the flying-lore. Nagarjuna became the pupil of Padlipta-Suri and by virtue of his intellect found out a hundred and seven medicines used in the foot-application used for flying and with its aid attempted himself to fly but could not quite succeed. He went up and fell down like a cock and was injured. Padlipta Suri being pleased with the wonderful intellect of Nagarjuna, which without being told discovered all but one medicines, taught him the remaining one-which was rice-water instead of pure water, and Nagarjuna could thenceforth perfectly fly over any place he desired. The Yogi was also trying to acquire "*Suvarna Siddhi*" (Power to make gold) and for the purpose was experimenting upon mercury which had to be pestled by a Padmini or the best kind of woman. Roaming over the whole of India he learnt that the Queen of King Shalivahana named Chandralekha was a Padmini. He took her away in the midst of night sleeping in her couch by his flying lore to a Jungle near Cambay. There he requested her not be at all frightened as his object was merely to get the mercury pestled there with her hands so that it may become

Siddha-Rasa capable of turning copper and other base metal into gold. "Prabandha-Chintamani" describes how King Shalivahana discovered the absence of his queen and how Nagarjuna after succeeding in the preparation of Siddha-Rasa was not able to make any use of the same, and how he met with his death. The "Prabhavaka Charitra" describes him as having accompanied Padlipta to Shatrunjaya to have a death in Samadhi by abstention from food and water. Both Nagarjuna and Padlipta died there, Padlipta having ascended the second Heaven. This is in short the life story of the author of the present work. It may be of importance to note here that there have been more than one Nagarjuna, and the present Nagarjuna need not be confounded with the Nagarjuna who started the Vajrayana amongst the Buddhists about the middle of the 2nd century A. D.

PADLIPTA SURI'S OTHER WORKS.

The novel Tarangavati has been already mentioned. The original is not available. Nemichandra Suri abridged the said novel under the name Tarangalola, and this is available. It has been translated in the German and Gujarati languages. The reason given by Nemichandra-Suri for abridging the original Tarangavati is that it is very extensive, complex, and full of pairs, sixes, and *Kulakas* (Collections) of verses, and that consequently it has become a work only for the learned, the ordinary people having lost interest in it. The author of the summary abridged Tarangavati by omission of complex verses and "Loka

padas". (Popular Sayings). The plot of Tarangavati is very simple but romantic and impressive. The scene taken is the region between the Ganges and the Yamuna. The story is narrated by the heroine herself who has turned an ascetic in her later life. As in the drama of "Mudra-Rakshasa" of Vishakhadatta, which also depicts the life of the people of about the same time though dating somewhat later, this novel very graphically describes the life of the people of those ancient times. Painting was an important art and plays an important part in both the works. Memories of previous life described in the work add to its romantic characteristic. The traditional love of the male and female Chakravaka birds furnishes very appropriate back ground to the romance. The rivers, the groves, caves, temples, and the city on a moonlit night are some of the important and impressive scences. The freedom of the Indian ladies of the times and the travels of the merchant class are note-worthy. The robbers as well as hunters have their own code of morality and follow certain principles. It is probable that the impressions of the author received in the early life have been ably incorporated by him in the work.

It is already mentioned that Padlipta was versed interalia in Nimitta-Pahuda. It appears that he composed a work on Astrology called Prashna Prakasha. The name indicates that the subject treated must have been the method of answering questions known as Prashna-Jyotish. The present work Nirvana Kalika Tarangavati and Prashna Prakasha are the three works mentioned by Prabhavaka Charitra as having been composed by Padlipta Suri. Jinaprabhasuri mentions in his "Vividha Tirtha Kalpa" otherwise known as Kalpa Pradipa that Padlipta composed Shantrunjaya Kalpa as well as Revanta Giri Kalpa in praise of

the two sacred places of pilgrimage viz. Shatrunjaya and Girnar. He says that Bhadrabahu-Swami composed them and these must be the Kalpa-Pahuda already mentioned. Vajraswami classified them and Padliptasuri abridged them. The hint here given of the connection between Vajraswami and Padliptasuri has been already considered.

PALITANA AND VIRA STUTI.

It is interesting to note that Padliptasuri is connected with the foundation of the Palitana City in the vicinity of Shatrunjaya hill and is said to have installed an image of Mahavira Swami at the place at the requst of Nagarjuna. The etymological meaning of "Palittana" is "of Palitta" which is the name of the author of the present work. The Prabhavaka Charitra mentions that Padlipata composed on the occason of installation of Mahavira-Swami at Palitana Vira-Stuti beginning with the words "गाहा जुअलेण". It is also there stated to contain Akasha-gamini Vidya and Suvarna-Siddhi. Fortunately, the Stuti has been found in my collection though in a slightly mutilated form. Having however two versions of the Stuti before me I have been able to give below the Stuti with *Protanto* reading. I have to acknowledge here the aid given by Pandit Hargovinddas of the Calcutta University in giving a sensible reading of the second vesrse. The stuti runs as follow:—

गाहा-जुअलेण जिणं मय-मोह-विवज्जियं जियकमार्गं । थो(सु)सामि ति-संझाए तं निस्संगं महावीरं ॥ १ ॥
सुकुमार धीर सोमा रत्त-किलिण-पंडुरा सिरिनिकेया । सीयंकुसगहमीह जल-थल-नह मंडला तिन्नि ॥ २ ॥
न नयंति वीरलीलं हाउंजे सुरहि-मत्त पडिपुन्ना । पंकय-गयंद-चंदा लोयण-चकम्मिय-मुहाणं ॥ ३ ॥
एवं वीरजिणंदो अच्छरगण-संघ-संथुओ भयवं । पालित्त यमय-महियो दिसउ खयं सयलदुरियाणं ॥ ४ ॥

GATHA-SAPTA-SHATI.

Padlipta has been traditionally believed to have been very intimately connected with King Hala the reputed author of Gatha Sapta Shati. The later poets believed Palitta to be the real author of the work or the major portion of it. There are several verses ascribed to Padlipta in Gatha-Sapta-Shati and some of them are given below.—

गाथा सप्तशती

१।६३

उअह पडलन्तरोइण्णणिअअतन्तुद्धपाअ पडिलग्गम् । दुलक्खसुत्तगुत्थेक्क-बउलकुसुमं व मक्कडअम् ॥ ६३ ॥
[पश्यत पटलान्तरावतीर्णनिजकतन्तूर्ध्वपादप्रतिलग्नम् । दुर्लक्ष्यसूत्रग्रथितैक-वकुलकुसुममिव मर्कटकम् ॥]

२।१६

वाएरिएण भरिअं अच्छि कणउरउप्पलरएण । फुक्कन्तो अवइह्नं चुम्बन्तो कोसि देवाणम् ॥७६॥
[वातेरितेन भृतमक्षि कर्णपूरोत्पलरजसा । फूत्कुर्वन्नवितृष्णं चुम्बन्कोसि देवानाम् ॥]

३।४८

उप्पाइअदव्वाणं वि खलाणं को भाअणं खलो च्चेअ । पक्काई वि णिम्बफलाइं णवरं काएहिं खज्जन्ति ॥४८॥
[उत्पादितद्रव्यानामपि खलानां को भाजनं खल एव । पक्कान्यपि निम्बफलानि केवलं काकैः खाद्यन्ते ॥]

३।५६

कं तुङ्गथणुक्खित्तेण पुत्ति दारट्ठिआ पलोएसि । उण्णामिअकलसणिवेसिअग्घकमलेण व मुहेण ॥५६॥
[कं तुङ्गस्तनोत्क्षिप्तेन पुत्रि द्वारस्थिता प्रलोकयसि । उन्नामितकलशनिवेशितार्घकमलेनेव मुखेन ॥]

४।९३

जेत्तिअमेत्ता रच्छा णिअम्ब कह तेत्तिओ ण जाओसि । ज छिप्पइ गुरुअणलज्जिओसरन्तोवि सो सुहओ ॥ ९३ ॥
[यावत्प्रमाणा रथ्या नितम्ब कथं तावन्न जातोऽसि । येन स्पृश्यते गुरुजनलज्जापसृतोऽपि स सुभगः ॥]

४।९४

मरगअसूईविद्धं व मोत्तिअं पिअइ आअ अग्गीओ । मोरो पाउसआले तणग्गलग्गं उअअ विन्दुम् ॥ ९४ ॥
[मरकतसूचीविद्धमिव मौक्तिकं पिवत्यायतग्रीवः । मयूरः प्रावृट्काले तृणाग्रलग्नमुदकविन्दुम् ॥]

आन अगद म ओनर पइव्वए ण तुह मइलिअं गोतम् । किउण जगस्म जाअव्व चन्दिलं ता ण कानेमो ॥ १७ ॥
[आन अगस्त्यो यममपगार पतिमते न तव मलिनितं गोत्रम् । किं पुनर्जनस्य जायेव नापितं तावत्र कामयामहे ॥] पालित्तस्स ॥

REFERENCES TO PADLIPTA.

It has already been mentioned that Padliptasuri composed Tarangavati, that it was abridged by Nemichandra Suri, and that the original is lost but the summary is available. There are several references in Jain literature to Tarangavati and to Padlipta as its author. The earliest reference is in the Mula Sutra of "Anuyogadwara" composed by Aryarakshitasuri (page 149 Agamodaya Samiti Edition.)

"से किं तं संजूह नामे?-तरंगवइक्कारे मलयवइक्कारे अत्ताणुसट्ठिकारे बिंदुकारे, सेतं संजूह नामे ॥

This is very important as it places Tarangavati Katha before Aryarakshitasuri. As Aryarakshita suri was a Vidyashishya of Vajraswami, it is certain that Padliptasuri must have been at least contemporary with Vajraswami. In the discussion as to Padlipta's date I have come to the same conclusion viz. that Padlipta was an elder contemporary of Vajra Swami. In some Pattavalis the names of

Dharma, Bhadra-Gupta, Vajraswami, and Aryarakshita are mentioned between Arya Mangu and Arya Nandila the grand preceptor of Padlipta Suri. This can be easily explained by the fact that the 4 pereons were not directly in the line of Aryamangu, Dharma being only Vidya-Shishya of Arya Mangu. That Vajraswami was the Vidya Shishya of Bhadra Gupta is definitely knowr. In both the lines of the descendants viz. of Diksha-Shishyas and Vidya-Shishyas Padlipta Suri is as much removed from Arya Mangu in the one line as Vajraswami in the other. Their being contemporaries therefore becomes absolutely cartain. The difficulty in ascertaining Padlipta's date is due to his not being in the main line of Acharyas and also due to difference betwcen the Kalpa Sutra and Nandi Sutra Pattavalis-due in its turn to difference in Vallabhi and Mathuri Vachanas. The next reference is by Jinabhadragani-Kshama-Shramana in his Visheshavashyaka-Bhashya, to Tarangavati of Padlipta as follows.—

जहवा निद्दिट्ठवसा वासवदत्ता तरंगवइयाइं । तह निद्देसगवसओ लोए मणुल्लवाउ त्ति ॥ १५०८ ॥

श्रीविशेषावश्यकभाष्य ।

The third reference is by Haribhadra Suri in his commentary on Avashyaka Sutra to Padlipta as an instance of Vaineyiki Buddhi as follows.—गंठिमि-पाडलिपुत्ते-मुरुंडो राया, पालित्ता आयरिया तत्थ जाणएहिं इमाणि विसज्जियाणि सुत्तं मोहियं लठ्ठी समा समुग्गकीत्ति केणवि ण णायाणि पालित्तायरिया सद्दाविया तुब्भे जाणइ भगवंति ? वाढं जाणामि सुत्तं उण्होदहे छूढं मयणं विरायं दिठ्ठाणि अग्गग्गाणि, दंडओ पाणिए छूढो, मूलं गुरुयं, समुग्गओ जउणा घोलिओ उण्होदए कढिओ उग्घाडिओ य, तेणवि ओढ्ढियं सयलगं राइक्केऊण रयणाणि छूढाणि, तेण सीवणीए सिविऊण विसज्जियं अभिंभ देत्ता निप्फेडह ण, सक्कियं पादलित्तयस्स वेणइगी ॥

The *fourth* reference is in "Kuvalaya-mala" by Uddyotana-Suri alias Dakshinya-Chihna, Haribhadra's pupil, to Tarangavati as follows:—

चक्कायजुयलसहिया रम्मत्तणरायहंसकयहरिसा । जस्स कुलप्पव्वयस्स व वियरइ गंगा तरंगवई ॥

The 5th reference to Padlipta is in the commentary on "Upadesha Pada" by Vardhamanacharya who flourished in S.Y. 1055. Padliptasuri is there mentionsd as an instance of marvellous intellect.

The 6th reference is by Dhanapala in his Tilaka-Manjari to Tarangavati is as follows:—

प्रसन्नगम्भीरपथा रथाङ्गमिथुनाश्रया । पुण्या पुनाति गंगेव गां तरङ्गवती कथा ॥

The 7th reference is by Shilankacharya, who is different from the learned commentator of that name (see page 44 Catalogue of Mss. in Jesalmere Bhandaras. Gaikwad's O. Series), in his Mahapurusachariyam. in "Prakrita" as follows:—

सा नत्थि कला, तं नत्थि लक्खणं जं नदीसइ फुडत्थं । पालित्तयाइविरइयतरंगमइयासु य कहासु ॥

The 8th reference is by Laxmana-Gani author of "Supasanahachariyam" (written in S. Y. 1199). He refers to the author of "Tarangavati" and praises Tarangavati as the Prakrit novel which sweetened many others":—

को न जणो हरिसिज्जइ तरंगवइ-वइयरं सुणेऊण । इयरे पबंधसिंधूवि पाविया जीए महुरत्तं ॥

The 9th reference is in the "Palitta-Prabandha" & Prabhavaka Charitra, where is preserved the following verse which seems to have been uttered by some one mourning Padlipta's death.

सीसं कहवि न फुट्टं जमस्स पालित्तयं हरंतस्स । जस्स मुह निज्झराओ तरंगवइया नई वूढा

DATE OF PAD-LIPTA SURI.

By a consensus of opinions the author of "Nirvana Kalika" is said to have flourished in or about 467–470 of the Vira Era i. e. 56–59 B. C. I am inclined to fix the life of the author as extending over the first century of Vikrama Era. Our author is connected with Aryakhaputacharya, having learnt from him "Vidya-Prabhrita". According to "Tattvadarsha" of Vijayanandasuri he flourshed in 453 Vira Era, but according to "Prabhavakacharitra" in 483 Vira Era. In the Prakrit "Padlipta-Prabandha" which is on a palm-leaf manuscript written in the 13th century, it is mentioned that Satakarni of Pratishthanapura (Paithan) besieged Broach which was under Naravahana. Haribhadrasuri, who previously wrote the commentary on Avashyaka Sutra, also mentions the same fact. Aryakhaputacharya is said to have flourished when the siege of Broach took place. We may therefore accept 453 Vira Era as a date at which Aryakhaputacharya may have flourished. According to the Jain Pattavalis 453 Vira Era was the last year of Naravahana's 60 years rule. As in the calculation of Pattavalis Ujjayani was the important place where the several dynasties

beginning from Palaka Dynasty ruled, I am inclined to think that Naravahana while ruling at Broach held
Ujjayani also under his sway. His successor Gardabhilla also is said to have ruled for 13 years at Ujjayani.
The inference therfore that Naravahana did rule at Ujjayani becomes stronger. The Prabhavaka Charitra
has apparently confounded Bala Mitra and Bhanu Mitra the former rulers with the later Naravahana
while narrating the Broach siege. The earlier Prakrit Padlipta Prabandha and Kathawali may be relied
on in this respect in preference to the later Prabhavaka Charitra. The two versions do not differ in other
respects. Kathavali gives a shorter and slightly different version from the other two works.

I may now refer to the passage at page 149 of Anuyoga-dwara Sutra. In the Mula Sutra
there occurs the passage which mentions *Tarangavai kkare Malayavai-kkare.* The reference to Taranga-
vaikkara is decidedly to the author of the present work Padalipta Suri who composed the famous novel
"Tarangvati" already referred to. In the preface of the Gatha Sapta Shati (Nirnaya-sagara Edition)
Malayavati is said to have been the Queen of the Andhra king Kuntala of Sata or Shalivahana
Dynasty son of Dwipa or Dwipikarna. Now this Kuntala may be identified with Kuntala Svati-
Karna the 13th King of the Andhra Dynasty who ruled for 8 years from 23 B.C. to 11 B.C. (Page 216 The
Early History of India By Vincent Smith 3rd Edition 1914) He was son of Mrigendra Swatikarna,
Mrigendra being synonym for Dwipi. It thus furnishes a link to us in the life of Padlipta connecting him
with Kuntala Svati-Karna when Padlipta was about 35 years old. It seems that by Malayavaikkara

also Padlipta is referred to, he having probably composed similarly the novel whereof Malayavati was the heroine. Both Vatsyayana & Yunadhya in their respective works "Kama-Sutra" and Katha-Sarit sagara (Sixth-Taranga) refer to Kuntala Shatkarni. The preface of Gathasaptashati tries to indentify this Kuntala Shatkarni with Hala on the strength of a colophon of the Manuscript of Gatha-Sapta-Shati procured by Dr. Peterson from the state-library of Bundi (Dr. Peterson's 3rd Report page 349); but I think they are different kings of the same Dynasty. There is no doubt that the author of the present work was intimately connected with one or the other rulers of the Shalivahana Dynasty. Those who may be interested in the story of Malayavati can read it from Katha Sarita Sagara. Padlipta Suri was also a contemporary of Rudradevasuri and Shramanasinha who were respectively profficient in the Yoni-Prabhrita and Nimitta Prabhrita Padlipta having acquired the same from them. He was also a contemporary with Upadhyaya Devendra pupil of the Vidyachakravarti (Sovereign of magical lores) Aryakhaputacharya. Devendra was learned in the Siddha-Prabhrita and taught the same to Padlipta. We have no information independently of the dates of the various personages except Aryakhaputacharya's flourishing about 453 Vira Era. The details of Padlipta's connection with these persons have been narrated in the foregoing part depicting Padlipta's life. Padlipta is stated to be versed in all the four Pahudas. Padlipta is also credited with the orgin of the Pāli language by his biographers. Padlipta and Vajraswami were also contemporaries. Their literary work in connection with Pahudas has been already dealt with. Arya-Samiti the maternal uncle of Vajraswami was proficient in Siddha-Pahuda. He made the river Yamuna part on

two sides to enable him to walk to the opposite bank along the way thus made. He initiated 500 Tapasas (Hindu ascetics) as Jain Sadhu and started Brahmadwipika Shakha. He was also Padlipta's contemporary.

KINGS CONTEMPORARY WITH PADLIPTA.

Muranda of Patliputra was connected with Padlipta in his early life. King Vikrama of Ujjayani was also a contemporary with him, but Padlipta, personally, it is not stated to have been in any way connected with him. It was the great-grand-pupil Siddha Sena Divakara who was connected with king Vikrama. He was a pupil of Vriddhavadi a pupil of Skandilacharyra.

Skandilacharya was a pupil of Padlipta. After leaving Patliputra and coming over to Western India, Padlipta became an intimate friend of King Krishna of Manakhetapura. Shramanasinha who was Padlipta's contemporary as already mentioned was connected with King Prajapati of Vilasapura. The said Prajapati was also thus Padlipta's contemporary. King Dahada of Patliputra mentioned in connection with Devendra-anneclote seems to have been also Padlipta's contemporary. Padlipta seems to have been connected with more then one king of Shali Vahana Dynasty, especially King Hala the famous poet and reputed author of the collection of 700 erotic verses named Gatha-Sapta-Shati. The author of Rama-Charitra Abhinanda refers to Padlipta's connection with King Hala in express words.

हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिना ।
श्रीहर्षो विततार गद्यकवये वाणाय वाणीफलं सद्य. सत्क्रिययाभिनन्दमपि च श्री हारवर्षोऽग्रहीत् ॥

Arya-Naga-Hasti, the preceptor of Padlipta was the pupil of Arya Nandila & the grand pupil of Arya Mangu. According to Pattavalis Arya Mangu flourished in 467 of Vira Era. They also mention Padlipta as having flourished in or about 470 of Vira Era. It is therefore to be supposed that Arya Mangu Arya Nandila and Arya-Naga-Hasti must have been of nearly the same age, to make Padlipta, who is fourth in the line, only 3 years later. This is not surprising when it is known that the right to the Patta did not descend from father to son but from preceptor to pupil.

The Digambaras state that Naga-Hasti and Arya-Nankshu (probably same as Arya.Mangu) were pupils of the same Acharaya named Gunadhara. (Page 160 Introduction to Ratnakarandakashravakachara). If they are the same as Arya-Naga-Hasti and Arya Mangu referred to above, it lends support to the inference that they were practically of the same age. In the ancient times an older Acharya did not consider it below his diginity to learn such subjects as he may not be knowing from even a younger Acharya. There was thus relation also of Vidya-Guru and Vidya-Shishya and not merely Diksha-Guru and Diksha-Shishya. This is apparent fram the relation of Vajra-Swami with Arya-Rakshita. This is also the reason why in the list of Yuga-Pradhanas, several Acharyas are mentioned after Arya-Mangu and before Arya-Nandila, although they were not strictly in the line which is of Diksha-Guru and Diksha-Shishya. The dates in the said list of Yuga-Pradhanas are not therefore quite reliable.

PALITTA-SURI & PALITANA.

Palitta-suri is definitely connected with the foundation of the Palitana City. The etymological
connection between the two has been discussed under heading "Palitana and Vira-stuti". The city has an
existence only in connection with "Shatrunjaya Hill" the holiest of the jain places of pilgrimage. It is
situated in the vicinity of the Hill. The tradition is that for about 55 years from S. Y. 53 to S. Y. 108
the hill remained unvisited because of the presiding deity Kapardi Yaksha having taken to harassing
visitors and making the place impassable and impure by heaping up bones and skeletons of animals. Vajra-
swami performed the Re-installation ceremony of Lord Rishabhadeva on the hill in or about S. Y. 108,
Javadasha being the donor and *Sanghapati* on the occasion. Palitana City also probably came to be founded
in the very year or immediately thereafter in one of the customary visits Padliptasuri paid to Shatrunjaya.
"Prabhavaka Charitra" mentions that he died a Yaugic death on the very hill. In the life of Vajraswami
who died in 58 A. D. (S. Y. 114) there is mention of migration from Gujarat Southwards owing to
famine, but there is no such mention in Padlipta's life. He is definitely connected with King Hala of
Shalivahana Dynasty, author of "Gatha Saptashati" as already shown. Hala ruled from 49 A. D. to 54
A. D. The various biographies of Padlipta do not mention Padlipta having heard of Hala's death. I
therefore think that Padlipta must have died immediately after the foundation of Palitana *i. e.* in 52 or 53
A. D. No doubt this presupposes a very long life of 109 years, if we fix the birth of Padlipta in 470 Vira

. K.

I am informed by Shri Jayasuri who has been chiefly instrumental in the publication of this work that the said manuscript ग. is a copy of a palm-leaf manuscript formerly in possession of Munishri Mohanlalji rgand preceptor of the said Shri Jayasuri. The Ms. घ. is newly written and belongs to Shri Vijaya-Siddhi-Suri It appears to have a common origin with Ms. ख. The Ms. ङ. is the best manuscript and is of common origin with manuscripts क. & ग. It was procured from Shri Hansavijayaji and has been ably corrected by him. The manuscript was procured from him by my enthusiastic friend Mr. Manilal Surajmal, and I thank them both for furnishing to me this really good manuscript I also thank Shri Vijaya-Siddhi-Suri Sagaranand-Suri as also authorities of Muni Shri Mohanlalji-Jnana-Bhandara. My friends Messrs Keshavlal Premchand Modi and Mohanlal Dalichand Desai have been of great assistance to me, the former by supplying rare references to Padlipta-suri and the latter for many useful suggestions and by procuring a Photo-copy of Pálitta Chariyam from Kathavali. I may refer the Sanskrit readers to the Sanskrit Introduction by Pt. Ramapati-Mishra who has been for many years connected with Muni Shri Mohanlalji Sanskrit Pathshala, Bombay. In the end I have to mention that it is due to the great zeal of Shriman Jayasuri and his learned pupil Pratapa-Muui for publication of rare works that the present work comes to be the 5th of the series entitled "Muni Shri Mohanlalji Granthamala"

15 Dhanji St. Bombay No. 3.
February 1926.

MOHANLAL B. JHAVERY.

अर्हम्

विद्याधरवंशभूषणमणि–

श्रीमत्पादलिप्ताचार्यकृता

निर्वाणकलिका ।

ॐ नमो वीतरागाय ॥

वर्धमानं जिनं नत्वा समुद्धृत्य जिनागमात्। नित्यकर्म तथा दीक्षां प्रतिष्ठां च प्रचक्ष्महे[1] ॥ १ ॥
प्रतिष्ठापद्धतिश्चैषा श्रीमत्पादलिप्तसूरिणा[2] । भव्यानामुपकाराय स्पष्टार्थाऽऽख्यायतेऽधुना ॥ २ ॥

॥ अथ नित्यकर्मविधिः ॥

तत्रोपासको नमस्कारपूर्वमुत्थाय कृतावश्यको विशुद्धमृदा गुदलिङ्गादीन्प्रक्षाल्य गन्धलेपापनोदेन भावशुद्ध्या शौचं विधाय सकृत् मृदा पादौ हस्तौ च प्रक्षाल्य आचम्य जम्ब्वाम्रादिकाष्ठेन द्वादशाङ्गुलेन कनि-

१ प्रवक्ष्यहे इति ग. पाठः । २ पालित्त इति क. पाठः, पालित्त इति ख. पाठः, पादलिप्त इति ग. पाठः.

Era *i. e.* 56 B. C. and ten years more if we take 470 Vira Era as the date of Padlipta's consecration as an Acharya. It may be considered rather improbable by Historical Investigators, but when we definitely know of the long lives of Jain Sadhus of the time, *e. g.* Vajraswami lived 88 years and his pupil Vajrasena 128 years, the period of life ascribed to Padlipta does not appear improbable. What I think is that the beginning of Padlipta's life is definitely connected with Aryakhaputacharya, and the end with Hala and the foundation of Palitana. We have also to take into account Padlipta's great-pupil Siddhasena being contemporary with King Vikrama. Siddhasena died in S. Y. 30. It is not therefore possible to bring down considerably the date of Padlipta's birth except by 10 years. It may therefore be taken that Padlipta flourished in the first century of the Vikrama Era. An important incident with which the "Prabhavaka-Chritra" connects Padlipta is that he performed with the aid of Shali-Vahana, *Dhwaja-Pratishatha* (Flag-Installation ceremony) at Broach. "Prabandha Chintamani" mentions Shalivahana as invading King Vikrama's territories about the end of Vikrama's life, (1 to 4 A. D.) and that Vikrama had to make a treaty by virtue whereof Shalivahana became king of Southern Gujarat. The siege of Broach mentioned by Prabhavaka Charitra, if identified with this invasion by Shalivahana, may furnish us with a hint that the Installation-Ceremonies may have been then performed. This incident will be about the 56th to 60th year of Padlipta's life and Vikrama's rule. This would lead us to a further inference that after leaving Pataliputra Padlipta was more or less connected with Broach till he was 60. His connection with Aryakhaputacharya may have been one of the reasons of his long connection with Broach. It is probable that he then became acquainted with

King Krishna of Mannakhedapura and took up his abode there until invited by King Hala about 49 A. D. If the date of the siege of Broach is correct, Shalivahana mentioned must be Pulomavi I of the Shalivahana Dynasty who ruled from 12 B C. to 21 A.D. He was the grandfather of King Hala and father of Arishtakarna.

CONCLUSION.

Before I conclude I have to mention that in preparing the text and noting the various readings in foot notes I had in the beginning before me three manuscripts क ख. & ग. The first was a copy made by me personally from the original belonging to Shri-Vijaya-Siddhi-Suri which was procured for Shri-Jaya-Suri through the Devachand Lalbhai Pustakoddhara Fund. As it appeared to be a good manuscript with readings noted in some places in the margin, I used it as the basis of the present text. The press copy was prepared from my copy of the said manuscript. Both the manuscripts ख. & ग. as also घ. later on were procured for me by Mr. Jivanchand Shakarchand of the Devachand Lalbhai Pustakoddhara Fund, and I take this opportunity of expressing my thanks for his kind services. The manuscript ख. belongs to the Ananda-Pustakalaya, Surat, which is a collection by Shri Sagaranandasuri. This manuscript is as old as manuscript क. and bears date S. Y. 1852 Margashirsha Krishna 10th. It represents a different source from Mss. क. ग. & घ. The Ms. ग. belongs to Muni Shri Mohanlalji Jnana Bhandara, Surat. It is a quite recent copy and seems to have a common origin with Mss. क. & घ.

I am informed by Shri Jayasuri who has been chiefly instrumental in the publication of this work that the said manuscript ग. is a copy of a palm-leaf manuscript formerly in possession of Munishri Mohanlalji rgand preceptor of the said Shri Jayasuri. The Ms. घ. is newly written and belongs to Shri Vijaya-Siddhi-Suri. It appears to have a common origin with Ms. ख. The Ms. ङ. is the best manuscript and is of common origin with manuscripts क. & ग. It was procured from Shri Hansavijayaji and has been ably corrected by him. The manuscript was procured from him by my enthusiastic friend Mr. Manilal Surajmal, and I thank them both for furnishing to me this really good manuscript. I also thank Shri Vijaya-Siddhi-Suri Sagaranand-Suri as also authorities of Muni Shri Mohanlalji-Jnana-Bhandara. My friends Messrs Keshavlal Premchand Modi and Mohanlal Dalichand Desai have been of great assistance to me, the former by supplying rare references to Padlipta-suri and the latter for many useful suggestions and by procuring a Photo-copy of Pálitta Chariyam from Kathavali. I may refer the Sanskrit readers to the Sanskrit Introduction by Pt. Ramapati-Mishra who has been for many years connected with Muni Shri Mohanlalji Sanskrit Pathshala, Bombay. In the end I have to mention that it is due to the great zeal of Shriman Jayasuri and his learned pupil Pratapa-Muui for publication of rare works that the present work comes to be the 5th of the series entitled "Muni Shri Mohanlalji Granthamala."

15 Dhanji St. Bombay No. 3.
February 1926.

MOHANLAL B. JHAVERY.

अर्हम्

विद्याधरवंशभूषणमणि–

श्रीमत्पादलिप्ताचार्यकृता

निर्वाणकलिका ।

ॐ नमो वीतरागाय ॥

वर्धमानं जिनं नत्वा समुद्धृत्य जिनागमात्। नित्यकर्म तथा दीक्षां प्रतिष्ठां च प्रचक्ष्महे ॥ १ ॥
प्रतिष्ठापद्धतिश्चैषा श्रीमत्पादलिप्तसूरिणा । भव्यानामुपकाराय स्पष्टार्थाऽऽख्यायतेऽधुना ॥ २ ॥

॥ अथ नित्यकर्मविधिः ॥

तत्रोपासको नमस्कारपूर्वमुत्थाय कृतावश्यको विशुद्धमृदा गुदलिङ्गादीन्प्रक्षाल्य गन्धलेपापनोदेन भावशुद्ध्या शौचं विधाय सकृत् मृदा पादौ हस्तौ च प्रक्षाल्य आचम्य जम्ब्वाम्रादिकाष्ठेन द्वादशाङ्गुलेन कनि-

१ प्रचक्ष्महे इति ग. पाठः । २ पालित्त इति क. पाठः, पालिप्त इति ख. पाठः, पादलिप्त इति ग. पाठः.

छाङ्गुलि[1]परिणाहेन दन्तशुद्धिं विधाय स्नायात् । तत्र शुचिप्रदेशे[2] समुपविश्य मूलमन्त्राभिमन्त्रितकलशेष्वष्टसु नवसु वा तीर्थजलं संकल्प्य श्रीमज्जिनेशमनुस्मरन् स्नात्वा पश्चात्सुगन्धामलकादिना राजोपचारेण चोद्वर्तयेत् । ततो वामहस्ते[3] जलमादाय मूलमन्त्रेणाभिमन्त्र्य सोमसूर्यौ वामदक्षिणहस्तयोः संचिन्त्य मूलमन्त्रेणाञ्जलिमुद्रयात्मानमभिषिच्य शुद्धे वाससी परिधाय स्वीकृतसामान्यार्घपात्रहस्तो द्वारमस्त्रेण संप्रोक्ष्य ऊर्ध्वोदुम्बरे[4] यक्षेशलक्ष्म्यौ नाम्नाभ्यर्च्य अस्त्रमुद्रया कालगङ्गे महाकालयमुने आत्मनो वामदक्षिणशाखयोः स्वनाम्ना हृदाननेसंपूज्य विघ्ननिर्वारणाय[5] ज्वलन्नाराचास्त्र[6]प्रयोगेण पूजागृहस्यान्तः पुष्पं प्रक्षिप्य त्रिःपार्ष्णिघातैर्भौमान्, तालत्रयेणान्तरिक्षान्,छोटिकात्रयेण च दिव्यान्विघ्नान्निरस्य,किञ्चिदुत्तरशाखाश्रितो देहलीमस्पृशन् दक्षिणपादेनान्तः प्रविश्य देहल्यां विघ्ननिवारणाय पुष्पमस्त्रेण प्रक्षिप्य ब्रह्मस्थाने ॐवास्तोष्पतये ब्रह्मणे नमः इति ब्रह्माणमभ्यर्च्य प्रणवेनासनं सम्पूज्य तत्र प्राङ्मुख उदङ्मुखो वोपविश्यास्त्रप्राकारकवचावगुण्ठनाभ्यां पूजागृहं संरक्ष्य करशुद्धिं कुर्यात् । तत्र चन्दनलिप्तौ हस्तौ परस्पराघर्षणेन तलके पृष्ठे चास्त्रेण संशोध्य वौषडन्तेन मूलमन्त्रेणामृतीकृत्याङ्गुष्ठयोर्जिनान् तर्जन्योः सिद्धान् मध्यमयोराचार्यान् अनामिकयोरुपाध्यायान् कनिष्ठिकयोः साधून् विन्यस्य । ततोऽङ्गानि पृथिव्यादिभूतैः सह क्रमोत्क्रमविधिना संस्थाप्य परेण तेजसा संयोज्य कवचेनाव[7]-

१ ऽङ्गुलीपरि इति क. ख. पाठः । २ भूमिप्रदेशे इति ग. पाठः । ३ हस्तेन इति ग. पाठः । ४ ऊर्ध्वेन्दुवार इति क. ख. पाठः । ५ निर्धारणायेति ख. ग. पाठः । ६ नाराचसुप्रयोगेण इति क. ख. पाठः । ७ नावमुच्य इति क. ख. पाठः ।

गुणस्य सर्वकर्मसु नियोजयेत्। सर्वत्राप्याचमनादावनेनैव विधिना करशुद्धिं विदध्यात्। ततो भूतशुद्ध्यर्थं करकच्छपिकां बध्वा कृष्णरूपं वायुं विरेच्य शुक्लेन दृतिवदात्मानमापूर्य संकुच्य पुनर्विरेच्य हृदये आत्मानमस्त्रकवचाभ्यां संरक्ष्य प्रथमप्रकार्धेन पार्थिवधारणया अधोमुखनवपादपरूपं शरीरं संचिन्त्य, द्वितीयार्धेन वारुण्या पुष्पफलान्वितं संचिन्त्य, कुम्भकेनाग्नेय्यां शुष्कं दग्धं च रेचकार्धेन वायव्यां भस्मरूपमुद्धूयाऽपरेण नाभस्या सुशुद्धं व्योम भावयेत्। यद्वा हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यब्रह्मरन्ध्रेषु ह्रां ह्रीं ह्रुं ह्रौं हः यथाक्रमं बीजपञ्चकचिन्तनेन देहशुद्धिं विधाय, ॐ विमलाय विमलचित्ताय वें वां क्ष्वीं क्ष्वीं अशुचिः शुचिर्भवामि स्वाहेति कुम्भमुद्रया स्नानं प्रकुर्यात्। तदनु ब्रह्मरन्ध्रललाटदक्षिणकर्णवामकर्णेषु तथा ललाटदक्षिणवामांसजानुद्वयेषु पूर्ववत् क्षित्यादीन् विन्यस्य ततश्चाकाशबीजं सान्तं विन्दुगुरुकलान्वितं सविसर्गं च कृत्वा हृद्वदनललाटशिरःशिखास्त्रेषु षड्विधमपि विन्यस्यानन्तरं पादजानुनाभिहृन्मूर्धसु च पृथिव्यादिभूतपञ्चकं पूर्वक्रमेण विन्यसेदित्यङ्गन्यासं कृत्वा, तदनु सिद्धमातृकाभङ्ग्या कुर्यात्। तत्र ॐकारं भ्रूयुग्मे। न नासावंशे। मः ओष्ठयुग्मे। सि कर्णपाल्योः। द्धं ग्रीवायां। अ दक्षिणे शङ्खे। आ वामे। इ दक्षिणनेत्रे। ई वामे। उ दक्षिणकर्णे। ऊ वामे। ऋ दक्षिणकपोले। ॠ वामे। ऌ दक्षिणहनुनि। ॡ वामे। ए दक्षिणसृक्कभागे। ऐ वामे। ओ अधोदन्तपङ्क्तौ। औ ऊर्ध्वदन्तपङ्क्तौ। अं चिबुके। अः नासान्तरे। क दक्षिणांसे। ख दक्षिणभुजे। ग दक्षिणमणिबन्धे। घ हस्ते। ङ हस्ताङ्गुलिनखेषु। एवं चवर्गं वामबाहौ। ट दक्षिणक-

१ रूपवायुं इति क. पाठः। २ पां पां इति क. पाठः। ३ शिखांसेषु इति ग. पाठः।

टिविभागे। ठ दक्षिणोरुणि। ड दक्षिणजङ्घायां। ढ पादगुल्फे। ण पादाङ्गुलिषु। एवं तवर्गं वामपादविभागेषु। प दक्षिणकुक्षौ। फ वामकुक्षौ। ब पृष्ठवंशे। भ नाभौ। म हृदये। य त्वचि। र रक्ते। ल मांसे। व वसायां। श स्नायुनि। ष अस्थिषु। स शुक्रे। ह प्राणापानयोः। क्ष क्रोधक्षये। ×क वज्रकवचे। × प वज्रास्त्रे। भूतं दिक्षु विन्यसेदिति। यद्वा मातृकाकवचभङ्ग्या तत्र प्रणवादिबीजपञ्चकं पूर्ववदानने विन्यस्यानन्तरमेकोनपञ्चाशत् हृदये कल्पितपदेषु दक्षिणांसात् प्रभृत्यजादिवर्णमातृकाः प्रदक्षिणगतिना तावद्विन्यसेद्यावन्मध्यपदे शून्यमिति। ततो ळ दक्षिकर्णशष्कुल्यां। क्ष वामकर्णशष्कुल्यां। ×क दक्षिणकर्णपाशे। × प वामकर्णपाशेन्यसेदित्येवं मन्त्रमयं कवचं कृत्वा। हृदयं हृदि। शिरसि शिरः। शिखायां शिखा। कवचं सर्वगात्रेषु। अस्त्रं प्राच्यादिदिक्षु विन्यस्य। ॐभूरसि भूतधात्रि सर्वभूतहिते विचित्रवर्णैरलङ्कृते देवि भूमि शुद्धिं कुरु कुरु स्वाहेति निरीक्षणविधिना स्थानशुद्धिं विधाय। हृदये पूजया। नाभौ होमेन। भ्रूमध्ये ध्यानेन। बाह्ययागवदन्तर्यागं कृत्वार्घपात्रमस्त्रेण प्रक्षाल्य बिन्दुध्यानादमृतरूपेणाम्भसा पुष्पदूर्वाक्षतोपेतेन मन्त्रसहितया प्रमृज्य सम्पूज्य च धेनुमुद्रया प्रबोध्य वर्मणावगुण्ठ्य ततोऽपि चात्मानं मूर्धन्यभिषिच्य पुष्पादिवस्त्रजातं शुद्ध्यर्थमस्त्रेण सम्प्रोक्ष्य कवचेनाभ्युक्ष्य हृदयेनाभिमन्त्र्य चन्दनेन तिलकं कृत्वा स्वशिरसि मूलमन्त्रेण पुष्पमारोपयेत्। ततो यथाभिमतं मौनं कृत्वा [1]प्लुतमात्रोचारेण मन्त्रशुद्धिं विधाय पूर्वदत्तपुष्पाण्यस्त्रेणापनीय ईशान्यां निक्षिप्यास्त्रवारिणा प्रक्षालनेन देवशुद्धिं विदध्यात्। सर्वत्राप्यात्माश्रयद्र-

१ प्लुतमन्त्रोच्चारेण इति ग. पाठः।

नमः। ॐॡं मानस्यै अं नमः। ॐॡं महामानस्यै अः नमः। इति विद्यापोडशकं स्वमन्त्रमुद्राभिरभ्यर्चयेत्। तासां च मुद्रास्तथा—शङ्खः शक्तिस्तथा ज्ञेया शृङ्खला वज्रमेव च। चक्रं पद्मं गदा घण्टा कुण्डिका मुशलं तथा॥१॥ परशुश्च तथा वृक्षः सर्पः खड्गं तथैव च। ज्वाला च श्रीमणिश्चैव मुद्रा ख्याता यथाक्रमम्॥२॥ तदनु तृतीयवलके पत्राष्टके ॐलं अ इन्द्राय नमः। ॐरं क अग्नये नमः। ॐशं च यमाय नमः। ॐपं ट नैर्ऋतये नमः। ॐवं त वरुणाय नमः। ॐयं प वायवे नमः। ॐसं य कुबेराय नमः। ॐहं स ईशानाय नमः। ॐनागाय नमः। ॐब्रह्मणे नमः। पुनः पूर्वदलोभयपार्श्वदलेषु पूजयेत्। वज्रमिन्द्रस्य विज्ञेयं शक्तिर्वैश्वानरस्य च। यमस्य दण्डो विज्ञेयो नैर्ऋतेः खड्गमेव च॥१॥ वरुणस्य च वै पाशः पवनस्य तथा ध्वजः। कुबेरस्य गदा ज्ञेया त्रिशूलं शङ्करस्य च॥२॥ एता यथाक्रममिन्द्रादीनां प्रदर्श्य। ॐआदित्याय नमः पूर्वदले। ॐसोमाय नमः वायव्यदले। ॐअङ्गाराय नमः याम्यदले। ॐबुधाय नमः उत्तरदले। ॐबृहस्पतये नमः ईशानदले। ॐशुक्राय नमः आग्नेयदले। ॐशनैश्चराय नमः पश्चिमदले। ॐराहवे नमः नैर्ऋतदले। ॐकेतवे नमः पुनः पूर्वदले इत्यनेन विधिना दूर्वादध्यक्षतादिभिर्ग्रहनवकं संपूज्य। ॐक्षं क्षेत्रपालाय नमः। ॐक्षां क्षेत्राधिदेवतायै नमः। इति मण्डलस्य बाह्यकक्षायां दक्षिणवामभागयोरर्चयेत्। ततो मायाबीजेन त्रिधा मण्डलमावेष्ट्याङ्कुशेन निरोधयेत्। ततः पार्थिवमण्डलवारुणमण्डलवायुमण्डलत्रयं दत्त्वा गन्धपुष्पाक्षतादिभिः सम्पूज्य धूपभाजनमस्त्रेण संप्रोक्ष्य वर्मणावगुण्ठ्य हृदयेनाभ्यर्च्यामृतमुद्रया प्रबोध्य घण्टामन्त्रेण सम्पूज्य वादयन् स्वाहान्तेन हृदा धूपनैवेद्यताम्बूलादिकं दत्त्वा दूर्वाक्षतश्वेतसर्षपान्

ततः पुनरासनादारभ्य वस्त्रविलेपनाद्यलङ्कारशुद्धसुरभिनानापुष्पैः ॐ ह्रीं अर्हद्भ्यो नमः इति सम्पूज्य । ॐ ह्रां हृदयाय नमः । ॐ ह्रीं शिरसे नमः । ॐ ह्रूं शिखायै नमः । ॐ ह्रौं कवचाय नमः । ॐ ह्रः अस्त्राय फडिति मङ्गलपूर्वाणि जिनाङ्गेषु सम्पूज्याग्नेयैशान्यनैर्ऋत्यवायव्येषु हृच्छिरःशिखाकवचानि संपूज्य पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरेषु अस्त्रं पूजयित्वा हृदयादीनां धेनुं नेत्रस्य गोवृषामस्त्रस्य त्रासनीमिति प्रदर्श्य । ॐ ह्रीं सिद्धेभ्यो नमः प्राच्याम् । ॐ ह्रूं आचार्येभ्यो नमः दक्षिणायाम् । ॐ ह्रौं उपाध्यायेभ्यो नमः वारुण्याम् । ॐ ह्रः सर्वसाधुभ्यो नमः उत्तरायां । ॐ ज्ञानाय नमः ईशान्यां । ॐ दर्शनाय नमः आग्नेय्यां । ॐ चारित्राय नमः नैर्ऋत्यां । ॐ शुचिविद्यायै नमः वायव्यां । ॐ ह्रीं सरस्वत्यै नमः दक्षिणभागे । ॐ ह्रीं शान्तिदेव्यै नमः वामभागे । इत्यनेन विधिना कर्णिकायां सम्पूज्य प्रणवादिनमोन्तं केसरेषु मातृकागणं प्रपूजयेत् । ततः पूर्वादिपत्रेषु जयादिदेवताचतुष्कं पूजयेत् । आग्नेयादिषु जृम्भाचतुष्कं प्रणवादिनमोन्तैः स्वनामभिरभ्यर्च्य पाशाङ्कुशध्वजवरदमुद्राचतुष्टयं जयादीनां प्रदर्शयेत् । ततो द्वितीयवलये पूर्वादिदलेषु । ॐ यां रोहिण्यै अं नमः । ॐ रां प्रज्ञप्त्यै आं नमः । ॐ लां वज्रशृङ्खलायै इं नमः । ॐ वां वज्राङ्कुश्यै ईं नमः । ॐ शां अप्रतिचक्रायै उं नमः । ॐ षां पुरुषदत्तायै ऊं नमः । ॐ सां काल्यै ऋं नमः । ॐ हां महाकाल्यै ॠं नमः । ॐ यूं गौर्यै ऌं नमः । ॐ रूं गान्धार्यै ॡं नमः । ॐ लूं सर्वास्त्रमहाज्वालायै एं नमः । ॐ वूं मानव्यै ऐं नमः । ॐ शूं वैरोट्यायै ओं नमः । ॐ षूं अच्छुप्तायै औं

१ नैऋत इति ग. पाठः । २ याम्यां, अत्रैव सर्वादर्शेषु वारुण्यामग्रे च याम्यामिति दृश्यते परं दिक्क्रमानुरोधेनास्माभिर्यथाक्रमं विपर्यस्तः पाठः ।

ततश्चात्मनि विलयं नीत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् किन्तु नासाग्रनिहितदृष्टिः किञ्चिद्विवृतास्यो निःप्रकम्पो भृतकुम्भवत्तिष्ठेत्। तथाच। स्थानं तदन्यदेवास्ति गुरुवक्त्रादवाप्यते । यत्र नीत्वा मनो योगी निर्मनस्कत्वमाप्नुयात् ॥ १ ॥ न मनो न च मन्तव्यं ममतां भावयेद्यदा। निर्मनस्केन योगेन भवेद्योगीश्वरस्तदा ॥ २ ॥ तस्यामवस्थायां न शृणोति न पश्यति। न मनः क्षुत्पिपासादिभिरभिभूयते। न व्यालवेतालादयो हिंसन्ति। न बध्यते घनकर्मबन्धनैः। एवमचिरादेव क्षीणप्रायकर्ममलः क्रमेण मोक्षमाप्नुयादित्यनेन विधिना ध्यानं विधायाष्टपुष्पिकां जिनेशाय दद्यात्। तद्यथा ॐस्थिरतात्मने अवनिमूर्तये नमः ॥१॥ ॐनित्यात्मने व्योममूर्तये नमः ॥२॥ ॐतेजोमयात्मने दहनमूर्तये नमः ॥३॥ ॐनिःसङ्गात्मने पवनमूर्तये नमः ॥४॥ ॐगाम्भीर्यात्मने आप्यमूर्तये नमः॥५॥ ॐधर्मात्मने आत्ममूर्तये नमः ॥६॥ ॐज्ञानात्मने तपनमूर्तये नमः ॥७॥ ॐसौम्यात्मने सोममूर्तये नमः। इति जगद्व्यापकमर्हन्मूर्त्यष्टकं सम्पूज्य चन्दनेन तिलकं कृत्वा स्वशिरसि मूलमन्त्रेण पुष्पं विनिक्षिपेत् । विसर्जनार्थमर्घ्यं दत्वा संहारमुद्रया स्वस्थाने गच्छगच्छेत्यनेन मूलमन्त्रेण पूजां द्वादशान्तमानीय शिरस्यारोप्य पूरकेण हृत्कमले संयोज्य सापेक्षं क्षमस्वेति विसर्जयेत्। पर्वसु च विशेषपूजां कुर्यात्। ततः देवा देवार्चनार्थं ये पुराहूताश्चतुर्विधाः। ते विधायार्हतः पूजां यान्तु सर्वे यथागताः॥ इति गन्धं पुष्पं धूपं च दर्शयित्वा रेचकेन संहारमुद्रया विसर्ज्य। पत्रिकामीशान्यां प्रक्षिप्यार्घपात्राम्भसा पट्टं प्रक्षाल्योपरि पुष्पमेकं दत्त्वा समुत्थाय गृहमध्ये

१ दत्त्वा इति क. पाठः।

देवस्य शिरसि समारोप्यारात्रिकमुत्तार्य मङ्गलप्रदीपं दत्त्वा यथाशक्ति जपं कुर्यात् ॥ स च त्रिविधो मानसो-पांशु-भाष्यभेदात् । तत्र मानसो मनोमात्रवृत्तिनिर्वृत्तः स्वसंवेद्यः। उपांशुस्तु परैरश्रूयमाणोऽन्तःसंजल्परूपः । यस्तु परैः श्रूयते स भाष्यः । अयं यथाक्रममुत्तममध्यमाधमसिद्धिषु शान्तिपुष्ट्यभिचारादिरूपासु नियोज्यः । मानसस्य यत्नसाध्यत्वाद्भाष्यस्याधमसिद्धिफलत्वादुपांशुः साधारणत्वात्प्रयोज्यः । त्रिविधोऽपि न द्रुतो न विलम्बितो नास्पष्टाक्षरो नान्यमनसा कर्तव्यः । नित्यनैमित्तिकेषु प्राङ्मुखेनोदङ्मुखेनैकचित्तेन कार्यः । काम्येषु कामानुसारेणाभिचारादावमुखेनापि विधेयः । नित्यकर्मणि चाष्टशतं तदर्धं पादं वा जपेत् । तत्रैकतमं यथाशक्ति जपं विधाय कुशपुष्पचन्दनाक्षतमिश्रेण गन्धोदकचुलुकत्रयेण शान्तये त्रिभिः श्लोकैर्ममास्तु फलसाधकमिति निवेदयन्-गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम् । सिद्धिर्भवति मे येन त्वत्प्रसादात्त्वयि स्थिते ॥१॥ यत्किञ्चित्कुर्महे देव सदा सुकृतदुष्कृतम् । तन्मे निजपदस्थस्य हुंक्षः क्षपय त्वं जिन ॥ २ ॥ जिनो दाता जिनो भोक्ता जिनः सर्वमिदं जगत् । जिनो जयति सर्वत्र यो जिनः सोऽहमेव च ॥३॥ इत्येवं जपं पूजामात्मानं च भक्त्या देवाय विनिवेद्य विचित्रस्तुतिभिः स्तुत्वा नमस्कारमुद्रया नमस्कारं विदध्यात्। ततो हृत्कमलकर्णिकायां तेजोमयं ज्ञानशक्तिसमन्वितं शान्तं विचिन्त्य मनो वायुतत्त्वं चैकीकृत्याविभागेन विभाव्यम् । तत् ज्ञानशक्त्या हृद्गलतालुब्रह्मरन्ध्राणि संशोध्य भ्रूमध्यं नीत्वा तत्रस्थं चतुर्मुखमष्टप्रातिहार्योपेतं धर्मार्थकामजनकमणिमादिगुणैश्वर्यप्रवर्तकं जातिजरामरणविनाशकं निरामयमर्हद्भट्टारकं ध्यायेत्। तदनु सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं यावदणुमात्रम्।

ततश्चात्मनि विलयं नीत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् किन्तु नासाग्रनिहितदृष्टिः किञ्चिद्विवृतास्यो निःप्रकम्पो भूत्वा कुम्भवत्तिष्ठेत् । तथा च । स्थानं तदन्यदेवास्ति गुरुचक्रादवाप्यते । यत्र नीत्वा मनो योगी निर्मनस्कत्वमाप्नुयात् ॥ १ ॥ न मनो न च मन्तव्यं ममतां भावयेद्यदा । निर्मनस्केन योगेन भवेद्योगीश्वरस्तदा ॥ २ ॥ तस्यामवस्थायां न शृणोति न पश्यति । न मनः क्षुत्पिपासादिभिरभिभूयते । न व्यालवेतालादयो हिंसन्ति । न बध्यते घनकर्मबन्धनैः । एवमचिरादेव क्षीणप्रायकर्ममलः क्रमेण मोक्षमाप्नुयादित्यनेन विधिना ध्यानं विधायाष्टपुष्पिकां जिनेशाय दद्यात् । तद्यथा ॐ स्थिरतात्मने अवनिमूर्तये नमः ॥१॥ ॐ नित्यात्मने व्योममूर्तये नमः ॥२॥ ॐ तेजोमयात्मने दहनमूर्तये नमः ॥३॥ ॐ निःसङ्गात्मने पवनमूर्तये नमः ॥४॥ ॐ गाम्भीर्यात्मने आप्यमूर्तये नमः ॥५॥ ॐ धर्मात्मने आत्ममूर्तये नमः ॥६॥ ॐ ज्ञानात्मने तपनमूर्तये नमः ॥७॥ ॐ सौम्यात्मने सोममूर्तये नमः । इति जगद्व्यापकमर्हन्मूर्त्यष्टकं सम्पूज्य चन्दनेन तिलकं कृत्वा स्वशिरसि मूलमन्त्रेण पुष्पं विनिक्षिपेत् । विसर्जनार्थमर्घ्यं दत्वा संहारमुद्रया स्वस्थाने गच्छगच्छेत्यनेन मूलमन्त्रेण पूजां द्वादशान्तमानीय शिरस्यारोप्य पूरकेण हृत्कमले संयोज्य सापेक्षं क्षमस्वेति विसर्जयेत् । पर्वसु च विशेषपूजां कुर्यात् । ततः देवा देवार्चनार्थं ये पुराहूताश्चतुर्विधाः । ते विधायार्हतः पूजां यान्तु सर्वे यथागताः ॥ इति गन्धं पुष्पं धूपं च दर्शयित्वा रेचकेन संहारमुद्रया विसर्ज्य । पत्रिकामीशान्यां प्रक्षिप्यार्घपात्राम्भसा पट्टं प्रक्षाल्योपरि पुष्पमेकं दत्त्वा समुत्थाय गृहमध्ये

१ दत्त्वा इति क. पाठः ।

वृत्तमण्डलकं विधाय गन्धपुष्पधूपनैवेद्यादिकं दत्त्वा ॐवास्तोष्पतये ब्रह्मणे नमः। इति वास्तुं सम्पूज्य मध्यस्तम्भाधः ॐस्कन्दाय गृहाधिपतये नमः। शयनीयशिरसि ॐकामाय कुसुमायुधाय नमः। गृहप्रधानपट्टे ॐश्रीं-भवनदेवतायै नमः। गृहप्रधानद्वारे ॐमहायक्षराजाय नमः। इति गृहदेवतागणं पूजयेत्। ततो मध्याह्ने पुनरपि भट्टारकं सम्पूज्य सर्वमन्नं पात्रे समाहृत्य गृहदेवताभ्यो बलिं दत्त्वा बहिर्निर्गत्य दिग्देवताभ्यः ॐह्रीं इन्द्र प्रतिगृह्ण नमः। ॐह्रीं ऐन्द्रि प्रतिगृह्ण नमः। एवं शेषा अपि अग्नये आग्नेय्यै यमाय याम्यै नैर्ऋतये नैर्ऋत्यै वरुणाय वारुण्यै वायवे वायव्यै कुबेराय कौबेर्यै ईशानाय ईशान्यै नागाय नागमात्रे ब्रह्मणे ब्रह्माण्यै नमः। इति पुष्पगन्धधूपसहितं बलिं दद्यात्। तदनु—योगिन्यो भीषणा रौद्रा देवताः क्षेत्ररक्षकाः। आगत्य प्रतिगृह्णन्तु जिनेष्टानुविधायिनः ॥ १ ॥ ये रुद्रा रुद्रकर्माणो रौद्रस्थाननिवासिनः। सौम्याश्चैव तु ये केचित्सौम्यस्थाननिवासिनः ॥२॥ सर्वे सुप्रीतमनसः प्रतिगृह्णन्त्विमं बलिम्। सिद्धिं यच्छन्तु नः क्षिप्रं भयेभ्यः पान्तु नित्यशः॥३॥ इत्यनेन मन्त्रेण बलिं प्रक्षिप्य गन्धपुष्पान्वितं शेषमन्नं भूमौ निक्षिपेत्। ततो हस्तौ पादौ च प्रक्षाल्याचामेदिति॥ इति निर्वाणकलिकाभिधानायां प्रतिष्ठापद्धतौ नित्यकर्मविधिः समाप्तः ॥

॥ अथ दीक्षाविधिः ॥

तत्राचार्यः कृतावश्यको देववन्दनादिकं कर्म कृत्वा पूजागृहमुपविश्य आत्मनो रक्षां विधाय भगवन्तं सम्पूज्य क्षेत्रपालानां बलिं दत्त्वा निर्वर्तितशान्तिकर्मविधिः मण्डपाद्बहिर्मण्डलके शिष्यं समुपवेश्य दन्तधावनं

मुन्वासं च दद्यात्। दन्तधावनविधिः प्रातः प्रागुदगीशानपश्चिमेषु शस्तः अन्यत्र कृते शान्तिकर्म कुर्यात्। ततो रात्रावपि वासनामन्त्रेण त्रिपञ्चसप्तवारान् अधिवास्य शुद्धायां भूमौ दर्भशयने अस्त्रशतालम्भे प्राचीने मस्तके हृन्मन्त्रेण शिष्यं समारोप्य शिखया बद्धशिखं विधाय धर्मजसवाससा प्रच्छाद्य शाययेत्। शयनीयस्य बहिर्भस्मसर्षपशिरोस्त्राभिमन्त्रितैस्तिस्रो रेखाः कृत्वा भूतबलिं दत्त्वा स्वयमप्युपोषितो भूत्वा दीक्षितैः सह शयीत। ततः प्रातरुत्थाय समाप्तनित्यकर्मविधिः शिष्यानाहूय स्वप्नदर्शनं पृष्ट्वा अशुभे शान्तिकर्म कृत्वा शुभे तु विशेषपूजापुरःसरं मण्डलेषु मन्त्रान् सम्पूजयेत्। तत्र मण्डलानि सर्वतोभद्रादीनि। तत्र सर्वतोभद्रस्य मुख्यत्वात्तदेवोच्यते। तस्मिन् चतुरस्रं क्षेत्रं साधयेत्। शुद्धां दर्पणोदराकृतिं भुवं निष्पाद्य पुष्यपौष्णमघावेधान् मण्डलस्य-शङ्कुच्छायाप्रवेशनिर्गमाभ्यां वा पूर्वापरे संसाध्य पूर्वापरायतं सूत्रमास्फाल्य ब्रह्मस्थानं सङ्कल्प्य तस्मात्पूर्वापरगतं समान्तरमङ्कद्वयं दत्त्वा तत्समं तत्र पूर्वयोरङ्कयोर्धृत्वा दक्षिणोत्तरमत्स्यद्वयं सम्पाद्य मत्स्योदरे दक्षिणोत्तरायतं सूत्रं प्रसार्य ततः क्षेत्रार्धमानेन मध्यादिष्टाङ्कं विधाय तदङ्कसमसूत्रेण विदिक्षु त्वनुलोमविलोमतो मत्स्यचतुष्कं दत्त्वा तेषु सूत्रचतुष्टयदानात् चतुरस्रं संसाध्य ततो मण्डलं विदध्यात्। तत्र चतुरस्रमष्टधा विभज्य चतुःषष्टिपदं कृत्वा मध्यकोष्ठकचतुष्टये पद्मं सम्पाद्य तदनु पङ्क्तौ पद्मार्धेन वीथीवदनन्तरं पक्षयोश्चतुर्दिक्षु पद्मासनानि चत्वारि द्वाराणि द्वारार्धमानात् कण्ठोपकण्ठं कपोलोपकपोलौ कुर्यात्। एवं विभज्य ब्रह्मस्थानात् सूत्रभ्रमेण

१ मुपनामं इति क. ख. पाठः।

अङ्गुलानि चत्वारि वृत्तानि कृत्वा दिक्षु विदिक्षु तत्सन्धिषु सन्ध्यन्तरेषु च द्वात्रिंशत्सूत्राणि दत्त्वा तृतीयवृत्ते सन्ध्यन्तरसूत्राद्बहिः पार्श्वभ्रमणात् षोडशार्धं चन्द्रं कृत्वा दिक्षु विदिक्षु अर्धचन्द्रद्वयं मध्ये चतुर्थवृत्ते दलाग्राणि तृतीयवृत्ते दलसन्धीन् द्वितीयवृत्ते केसराग्राणि प्रथमवृत्ते तद्वृत्तप्रमाणां पीतां कर्णिकां तन्मध्ये नीलवर्णानि नव बीजानि मूलमध्याग्रेषु शुक्लरक्तपीतं केसरजालं दलानि प्रवारणया सह शुक्लवर्णानीति पद्मं निष्पादयेत्। तत्रोत्पन्नतद्दलाग्रं भुक्तिकामस्य प्राञ्जलं मुक्तिकामस्य स्मरादियोगे तीक्ष्णाग्रम् । दिक्पालानां अधराग्रं सरस्वत्यम्बिकादीनां अश्वत्थपत्रवद्दलं विधेयं कर्णिकार्धसमम्। बहिःपीठे नीलसन्धानकीलकोपेतं श्वेतपीतरक्तकृष्णपादकं विचित्रगात्रकं विधाय तद्बहिर्वीथीषु त्रीन् द्वारार्धेन द्वारकण्ठान्तं ततो दक्षिणोत्तरनिःसृतं तावदेवोपकण्ठं तदूर्ध्वं तावदेव कपोलं तस्माद्दक्षिणोत्तरमन्तःसम्मुखं तावदेवोपकपोलं तद्बहिः शुक्लरक्तकृष्णरेखात्रयं सत्वरजस्तमोरूपं कृत्वा एताश्च रेखाः प्रथमा अङ्गुलप्रमाणाः अन्ये तु यवोने यवान्तराश्च सर्वा मुक्तिकामस्य भुक्तिकामस्य च समाः कार्याः। द्वारकण्ठोपकण्ठकपोलोपकपोलरेखां संरक्ष्य प्रतिकोणं शेषरेखाः परिलोपयेत् । सर्वतोभद्रसर्वमण्डलेषु पद्मद्वाराण्यनेनैव मार्गेण स्युरिति । शालिपिष्टेन श्वेतं तदेव हरिद्रान्वितं पीतं सिन्दूरधात्विष्टकादिना रक्तं दग्धजवादिना कृष्णं शुष्कशमीपत्रादिना नीलं तद्वर्णकार्थं रजः कार्यम् । विशेषसिद्धिकामो मुक्ताविद्रुमादिना एतदेव कुर्यात् एतन्मण्डलं निष्पाद्य सपरिकरं भगवन्तं सम्पूज्य द्वारे मण्डलं विधाय प्रणवेनासनं दत्त्वा शिष्यमूर्ध्वकायमुदङ्मुखं कृताञ्जलिं सन्निवेश्य स्वयं प्राग्वदनो मूलमन्त्रा-

भिमश्रितेन शान्तिकुम्भाम्भसा स्नापयेत्। पुष्पाक्षतादिना मुद्रास्त्रेण सन्ताड्य दूर्वाप्रवालेन नाभेरूर्ध्वमधश्च भिमा समुल्लिख्य अस्त्रप्रोक्षितकवचावगुण्ठितहृदयसंस्कृतवाससा सर्वाङ्गमाच्छाद्य पूजागृहं प्रवेश्य पुष्पाञ्जलिक्षेपं कारयित्वा भगवन्तं दर्शयेत्। तदनु भगवतो दक्षिणदिग्भागमण्डलके प्रणवासनं दत्त्वा तत्रोपविश्य धारणादिभिर्देहशुद्धिं सकलीकरणं च कृत्वा निजहस्ते मन्त्रान्संपूज्य तेजोरूपान् ध्यात्वा शिष्यमस्तके सन्निवेश्य मूलमन्त्रं समुच्चरन् सर्वाङ्गालम्भनं विदध्यात्। तदन्वस्त्रेण प्रोक्षणताडने विधाय रेचकेन शिष्यदेहे सम्प्रवेश्य सुचिश्लेषछदा यन्त्रेण संपिधाय अङ्कुशमुद्रया तच्चैतन्यमाकृष्य द्वादशान्ते समानीय संहारमुद्रया स्वहृदये पूरकेण प्रवेश्य कुम्भकेन समरसीकृत्य रेचकेन ब्रह्मादिदेवताः संचिन्त्य द्वादशान्तमानीय सुषुम्नायां नाडीप्राणवायूनेकीभूतान् संचिन्त्य तत्र शिष्यचैतन्यं शुद्धस्फटिकप्रख्यं सम्भाव्य जिह्वां तालुके संयोज्य ईषद्व्यावृतवक्त्रे दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् समुन्नतकायो मन्त्रमुच्चार्य श्रोत्रविवरेण स्वकीयप्राणेन सह मूलमन्त्रं शिष्यस्य हृदि सन्निवेशयेत्। ततः शिष्यः स्वहस्तेन भगवन्तं सम्पूज्य नैवेद्यादिकं दत्त्वा गुरवे सुवर्णं दक्षिणां दद्यात्। एवं समयसंस्कारसंस्कृतः पूजाहोमश्रवणाध्ययनादिषु योग्यः स्याज्जैनं च पदं लभत इति। ततोऽर्घपात्रोदकेनाभिषिच्याष्टौ समयान् श्रावयेत्। देवगुरुच्छात्रसाधकादिभक्तेन भवितव्यम् १। प्राणिनं न हन्यात् २। अनृतं न भाषयेत् ३। परस्य द्रव्यं न गृह्णीयात् ४। परस्त्रीं न कामयेत् ५। नियतपरिग्रहेण भवितव्यम् ६। रात्रौ

१ लम्भनं इति पाठः। २ भाषेत इति पाठः।

नाश्नीयात् ७। मद्यमांसादिकं न भक्षयेत् ८। गुरोराज्ञां न लङ्घयेत् इति समयाचारांश्च तत्र मन्त्रतन्त्रकल्पानदीक्षितान्न श्रावयेत्। नापि तत्पार्श्वाल्लेखयेत्। अज्ञानस्वरूपं न दीक्षयेत्। त्रिर्द्विरेककालं वा भगवन्तं पूजयेत्। नमस्कारं च जपेत्। देवगुरुयतीनामनिवेद्य नाश्नीयात्। यथाशक्ति अतिथिदीनानाथकृपणेभ्योऽन्नादिकमनुकम्पया दद्यात्। पर्वसु विशेषपूजां गुरौ जिने च कुर्यात्। आचार्यादीन् सदा भजेत्। अष्टमीचतुर्दशीपञ्चदशीषु च स्त्रीतैलक्षुरकर्म वर्जयेत् चतुर्थमेकभक्तं वा कुर्यात्। कन्यायोनिं गोयोनिं नग्नां प्रकटस्तनीं च स्त्रीं न पश्येत्। भीतत्रस्ताध्वखिन्नविह्वलरोगिसमयज्ञजिनभक्तांश्च पालयेत्। देवद्रव्यं गुरुद्रव्यं न भक्षयेत्। स्मशानचत्वरैकवृक्षशून्यवेश्मदेवतादिगृहेषु मूत्राद्युत्सर्गं न कारयेदिति। निन्दितैः सह संसर्गादिकं वर्जयेत्। ततो भगवन्तं सम्पूज्य मण्डलपूजादिकं पूर्ववद्विसर्ज्य तपोधनवर्गं साधर्मिकवर्गं च भोजयेत्। ततो गच्छं सङ्घं च स्वशक्त्या वस्त्रादिदानादिना सम्पूज्य दीनानाथादिदानं कृपया दापयेत्। इत्येवमुत्तरोत्तराध्यवसाययुक्तेन कल्याणिना प्रतिदिनं प्रवर्तितव्यम्। इति दीक्षाविधिः॥

॥ अथाचार्याभिषेकः ॥

आभिषेकिकनक्षत्रे स्वानुकूले सतारे चन्द्रे षट्त्रिंशद्गुणालङ्कृतस्य श्रुतशीलगुणाचारसम्पन्नस्य कुर्यात्। तत्र दिक्पालानां बलिं दत्वा शुभेऽह्नि मङ्गलपूर्वकमविधवानारीभिस्तैलादिकर्मविधिना वर्णकं समारोप्य द्वादशाहं

१ अज्ञानरूपं इति क. पाठः। २ अध्वनि इति क. पाठः।

दशाहं वा क्षीराम्नभोजिनं पञ्चनमस्कारजपनिरतं शिष्यं विधाय आसन्नलग्नदिने संध्यायां व्याघाताद्येकतमं कालं संशोध्य प्रातरुत्थाय शुद्धकालं प्रवेद्य स्वाध्यायं प्रस्थाप्य ततश्चैशान्यां मण्डपवेदिकायां चतुर्हस्तं रजोभिश्च पञ्चवर्णरूपशोभितं मध्यलिखितद्वात्रिंशदङ्गुलं शुक्लपद्मं द्वात्रिंशदङ्गुलायामं षोडशाङ्गुलं विस्तृतावाहनीयद्वारा-भिमुखसर्वरजोमुक्तपादपीठसहितं बाह्यचित्रवल्लीद्वारमक्षकोणस्थकन्दुकाद्युपशोभितं स्वस्वदिक्स्थावाहनीय-द्वारपूर्वदिग्वाहितद्वारं वा मण्डलमालिखेत्। तत्र वीथ्यन्तर्गतान् पूर्वादिक्रमेण शुक्लरजसाऽष्टौ शङ्खान् आ-नन्द–सुनन्द–नन्दि–नन्दिवर्धन–श्रीमुख–विजय–तार–सुतार–संज्ञान् सुभद्र–विजयभद्र–सुदन्त–पुष्पदन्त–जय–विजय–कुम्भ–पूर्णकुम्भसंज्ञांश्च तथाविधान् कुम्भानालिखेत्। मण्डलस्योपरि धवलं विचित्रं वा किङ्कि-णीघण्टायुक्तं मुक्ताजालगवाक्षकोपेतं मणिदामोपशोभितं सच्चामरपट्टवस्त्रोपेतं लम्बमानप्रतिसरकन्दुकाद्यलं-कृतं वितानकं विदधीत। मण्डपस्याभ्यन्तरं क्वचित्पद्मिनीपत्रसंछन्नमन्तरालेषु बहिश्च गौरसर्षपलाजाखण्डत-ण्डुलयवैर्दूर्वाकाण्डरजोभिश्च विचित्रं कुर्यात्। तोरणं चास्य ध्वजाङ्कुशचीरैर्[3]मण्डितं चन्दनमालायुक्तं पूर्वस्यां न्यग्रोधं[4], दक्षिणस्यामौदुम्बरं, पश्चिमायामाश्वत्थं, उत्तरस्यां प्लाक्षं, विनिवेश्य विदिक्षु प्रशस्तद्रुमजातानि च निवेशयेत्। शङ्खान् कलशांश्च मूर्तिमतो गोरोचनारचितस्वस्तिकाष्टकार्चितकण्ठान् सर्वरत्नैः सर्वबीजैः सर्वौषधिगन्धैरद्भिश्च पूरितान् वस्त्रस्रग्दामकण्ठान् चन्दनोपलेपितान् शतकृत्वोऽ[5]भिमन्त्रितान् पीठिकाया

१ भिद्र इति ग. पाठः। २ जव इति ग. पाठः। ३ वारमंडितं इति ग. पाठः। ४ नैयग्रोधं इति पार्श्वपाठः। ५ कृत्वाभि इति क. ग. पाठः।

वहिर्दिक्षु विदिक्षु च स्थापयेत् । तत्रायत आनन्दः । नात्यायतः सुनन्दः । महाकुक्षिर्नन्दी । सुनाभिर्नन्दिवर्धनः । ह्रस्वनाभिः श्रीमुखः । नाभिमण्डली विजयः । सुनिर्घोषस्तारः । उच्चस्वनः सुतारश्चेति । कलशाश्च–मन्थरसुभद्रः । किञ्चिदुन्नतो विभद्रः । पृथुलोष्ठः सुदन्तः । ह्रस्वोष्ठः पुष्पदन्तः । मन्थरग्रीवो जयः । शोभनग्रीवो विजयः इति मण्डलस्योत्तरे दुःस्वरं सदशाहतसितवस्त्रच्छन्नं भद्रासनं विन्यस्य तस्मिन् शिष्यं शङ्खतूर्यवीणावेणुस्वस्तिपुण्याहमङ्गलध्वनिभिः कृतमङ्गलं पूर्वद्वाराभिमुखं समुपवेश्य जातबीजशरावैश्चित्रमुखैर्गुणैरञ्जलिकारकैर्नागैरभिन्नपुटकोकाभिर्निमृश्य वल्मीकाग्र–पर्वताग्र–नदीतीर–महानदीसंगम–कुशबिल्वमूल–चतुष्पथ–दन्तिदन्त–गोशृङ्ग–एकवृक्षगृहीताभिर्मृद्भिः प्रथमं, तदनु पञ्चामृतेन, ततो वासचन्दनपञ्चपल्लवकषायैः सर्वगन्धैश्च संस्नाप्य प्रदक्षिणोपनीतैः पूर्वविन्यस्तकुम्भैराचार्यमन्त्रमनुस्मरन्नभिषिञ्चेत् । ततः स्नानवस्त्रं परित्यज्य शुक्ले वाससी परिधाय्याखण्डतण्डुलैः स्नापयेत् । तैश्च प्रवृद्धैः प्रवृद्धां समैः समां हीनैश्च हीनामुन्नातिं जानीयात् । तदनु मूलमण्डपवेदिकायां पञ्चवर्णेन रजसा रत्नकाञ्चनरजतमयप्राकारत्रयोपेतं गोपुर–चतुष्कालङ्कृतं तोरण–ध्वज–पुष्करिणीपुष्प–प्राकारोपशोभितं समवसरणमालिख्य मध्ये च पद्मरागादिभिर्निर्मिते मृगाधिपासने चतुर्मुखमष्टप्रातिहार्योपेतं भगवन्तं संस्थाप्य वेदीयवारकवितानकपुष्पगृहादिकं पूर्ववत्कृत्वा शिष्यं तत्रानीय सकलिकां विधाय मन्त्रैरालभ्य मुक्तपुष्पैः सम्पूज्यालङ्कारैरलङ्कृत्याक्षतानाचार्यमन्त्रेणाभिमयानुय-

१ स्थान्तरे इति ग. पाठः । २ सुनृदुःस्वरं इति क. ख. पाठः ।

योगगणानुज्ञार्थं चैत्यवन्दनं श्रुतादिदेवतानां च कायोत्सर्गाणि कृत्वा पञ्चनमस्कारपूर्वकं नन्दिसूत्रमावर्तयेत्। शिष्योऽपि मुखवस्त्रिकया स्थगितमुखकमलः शृणुयात् । अनन्तरमाचार्यो भगवत्पादयुगे वासान् प्रक्षिप्य गोमयशालिपुष्पादिचूर्णमयान् सङ्घभट्टारकस्य वासान् दत्वा एवं ब्रूयात्–'अहमस्य साधोरनुयोगमुक्तलक्षणमनुजानामि क्षमाश्रमणानां हस्तेन द्रव्यगुणपर्यायैर्व्याख्याङ्गरूपैरेपोऽनुज्ञातः' इत्यत्रान्तरे वन्दित्वा शिष्यः 'संदिशत यूयं किं भणामि' इत्यादिवर्णजातं यथैव सामायिकैः तथात्रैव द्रष्टव्यमिति। तदनु वासःक्षेपपूर्वकं प्रदक्षिणात्रयं कारयित्वाऽनुयोगानुज्ञां[1] दद्यात् । तदर्थं कायोत्सर्गं कृत्वा निषद्यायामुपविश्य आत्मनो दक्षिणभागे शिष्यमुपवेश्य लग्नवेलायां कुम्भकयोगेनाचार्यपरम्परागतं पुस्तकादिषु लिखितमाचार्यमन्त्रं निवेदयेत्। ततो गन्धपुष्पाक्षतान्वितं मुष्टित्रयमक्षाणां दत्त्वा तदनु छत्र–चामर–हस्त्यश्व–शिबिका–राजाज्ञानि योगपट्टक–खटिका–पुस्तका–ऽक्षसूत्र–पादुकादिकं च दद्यात् । स्वशाखानुगतं च नाम दत्त्वा स्वगच्छेन सह द्वादशावर्तवन्दनकं दत्त्वा गणं समर्प्याज्ञां श्रावयेत्–'अद्यप्रभृति दीक्षाप्रतिष्ठाव्याख्यादिकं ज्ञात्वा परीक्ष्य च त्वया विधेयम्' इति। ततश्च 'व्याख्यानं कुरु' इत्यनुज्ञातो नन्द्यादिव्याख्यानं यथाशक्त्या करोत्यभिनवाचार्यः। तदनु मूलाचार्यो निषद्यायां समुपविश्य–"षट्त्रिंशदुज्ज्वलमहागुणरत्नधुर्यैरेतत्पदं प्रथितगोतममुख्यपुम्भिः। आसेवितं सकलदुःखविमोक्षणाय निर्वाहणीयमशठं भवतापि नित्यम् ॥ १ ॥ आरोप्यते

१ नुयोगाज्ञां इति ग. पाठः।

पदमिदं बहुपुण्यभाजो निर्वाहयन्ति च निरन्तरपुण्यभाजः । आराध्य शुद्धविधिना धनमेकमेकं संप्राप्नुवन्ति शनकैः शिवधामसौख्यम् ॥ २ ॥ नास्मात्पदाज्जगति साम्प्रतमस्ति किंचिदन्यत्पदं शुभतरं परमं नराणाम् । येनात्र पञ्चपरमेष्ठिपदेषु मध्येऽतिक्रान्तमाद्ययुगलं खलु कालदोषात् ॥ ३ ॥" इत्यादिवाक्यैराचार्योऽनुशास्तिं दद्यात् । तदनु भगवते निवेद्य 'आचार्योऽयं त्वदनुज्ञातो मया कृतो भवत्प्रसादादधिकारं निर्विघ्नेन करोतु' इति विज्ञापयेत् । पुनर्भगवते प्रणिपातं कारयित्वा भगवन्तं क्षमापयेत् । स च लब्धाधिकारो गुरुपारम्पर्यागतमधिकारं कुर्यादिति ॥ एवमनेन विधिना राज्य[1]कामस्य भ्रष्टराज्यस्य पुत्रकामसौभाग्यकामयोश्चाभिषेकं कुर्यादिति ॥ अत्र शङ्खादीनां मन्त्राः । ॐ आं इं उं आनन्दात्मने नमः । एवं शेषा अपि पूर्वोत्तरान्ता विज्ञेयाः । ॐ आं ईं ऊं सर्वरत्नेभ्यो विश्वात्मकेभ्यो नमः । रक्षामन्त्रः । सर्वबीजेभ्यः इन्द्रात्मकेभ्यो नमः । बीजमन्त्रः । सर्वौषधिभ्यः सोमात्मिकाभ्यो[2] नमः । औषधिमन्त्रः । सर्वगन्धेभ्यः पार्थिवात्मकेभ्यो नमः । गन्धमन्त्रः । सर्वमृद्भ्यः पृथिव्यात्मिकाभ्यो[3] नमः । मृत्तिकामन्त्रः । न्यग्रोधात्मने सुराधिपतोरणाय नमः । १ । पलाशात्मने तेजोधिपतोरणाय नमः । २ । उदुम्बरात्मने धर्मराजतोरणाय नमः । ३ । सिद्धकात्मने रक्षोधिपतोरणाय नमः । ४ । अश्वत्थात्मने सलिलाधिपतोरणाय नमः । ५ । मधुकात्मने पवनाधिपतोरणाय नमः । ६ । प्लक्षात्मने यक्षाधिपतोरणाय नमः । ७ । बिल्वात्मने विद्याधिपतोरणाय नमः । ८ । तोरणमन्त्रः ॥ इति आचार्याभिषेकः ॥

१ कामभ्रष्ट इति ग. पाठः । २ सोमात्मकेभ्यः इति क. ख. ग. पाठः । ३ पृथिव्यात्मकेभ्य इति क. ख. ग. पाठः ।

॥ अथ भूपरीक्षा ॥

अथ प्रासादं चिकीर्षुः प्रागेव सुपरीक्षितां भुवं गृह्णीयात्। तत्र भूमिः शुक्ला आज्यगन्धा मधुरा ब्राह्मणस्य। रक्ता रक्तान्तगन्धा कषाया क्षत्रियस्य। पीता तिक्तान्तगन्धा वैश्यस्य। विगन्धा कटुका कृष्णा मद्यगन्धा शूद्रस्य। शेषा चतूरूपाऽपि खातवारिदीपगुणादिना परीक्षणीया। तत्र हस्तमात्रं खातं तत्रत्यमृदा यस्याः पूर्यते सा मध्यमा। या उद्धरति मृत्तिका सा श्रेष्ठा। यत्राऽपरिपूर्णा मृत्तिका साऽधमा। उदकेन च खातमापूरितं पदशतगमनागमनपर्यन्तं यत्र सम्पूर्णं दृश्यते सा ज्यायसी। अङ्गुलोनं मध्यमा। बहुभिरङ्गुलैरूनं निकृष्टेति। आमकुम्भस्य वा उपरि घृतपूर्णामशरावे[1] चतुर्दिक्षु सितरक्तपीतकृष्णवर्तिचतुष्टयं प्रज्वालयेत्। (प्रज्वालितं हृदयादिमन्त्रसम्पूजितमालेहान्तं)[2] यदि पश्येत्तदा सर्ववर्णानां भूः प्रशस्तेति जानीयात्। अथ निर्वाणा यावन्त्यस्तावतां सा न प्रशस्तेति। एवं परीक्ष्य तस्यां यथोक्तं मण्डपं कुण्डसहितं कारयित्वा द्वारपालपूजादिमन्त्रतर्पणान्तं कर्म कृत्वा मूलमन्त्रेण सहस्रं हुत्वा कुम्भपञ्चकं सप्तधान्यानामुपरि स्थितं पुण्योदकपूर्णं प्रशस्तौषधीरत्नगर्भं चूताश्वत्थादिपल्लववीजपूरादि[3]फलोपशोभितं वस्त्रयुगावृतं स्रक्सूत्रकण्ठं शासनेन साङ्गेन भगवता समधिष्ठितं सम्पूज्य लग्नकाले प्रासादस्य मध्यस्थाने कुम्भजलं प्रक्षिप्य पूर्वदक्षिणपश्चिमो-

---

१ घृतपूर्णशरावे इति ग. पाठः। २ धनुश्चिह्नान्तर्वर्ती भागः क. ख. योर्नास्ति। ३ वीजपूगादि इति ग. पाठः।

त्तरसीमासु च ततो मध्यस्थखातात्तस्मात् मृदमादाय नैर्ऋत्यां दिशि प्रक्षिपेत् । कुम्भावशिष्टजलेन खातं चाप्लाव्य कुद्दालादिकं संस्थाप्य पूजयेत् । ततः परं पूर्णकुम्भं वस्त्रयुगच्छन्नास्यमिन्द्रस्य[1] स्कन्धे निधाय गीतवाद्यादिब्रह्मघोषेण बहुजनसाक्षिकं यावदभिप्रेतं पुरः पूर्वसीमान्तं[2] नयेत् । तत्र च मुहूर्तमात्रं स्थित्वा प्रदक्षिणमार्गे आग्नेयादिईशानदिगन्तं भ्रामयेत् । ततः प्रासादभूमौ शङ्कष्टकं प्रासादसीमाविनिश्चयार्थं चतुर्षु कोणेषु विन्यस्य सूत्रेण संयोज्य सुवर्ण–रजत–मुक्ता–दध्यक्षतादिभिरेषां प्रदक्षिणां कुर्यादिति भूमिपरिग्रहं विधाय । मनोवृत्त्या वास्तुं संकल्प्याऽशल्यं निरूपयेत् । तत्र यजमानाङ्गकण्डूयनादिना क्षेत्रे शृगालादिप्रवेशेन वा लग्नेन वा ध्वजाद्यायैर्वा कचटतपयसहयजैर्नवभिर्वर्णैः प्रश्नैर्वा शल्यं जानीयात् । तत्र शिरःकण्डूयने शिरःशल्यम् । तत्प्रमाणेन अन्यदङ्गकण्डूयनादिना विकृतिं करोति तदङ्गेन तत्प्रमाणेन शल्यम् । द्विरूपे द्विरूपं शल्यम् । सर्वाङ्गिके विकारे सर्वत्र शल्यम् । ज्ञात्वा खनित्वा शल्यमुद्धृत्य हस्तापूरपाषाणैरष्टाङ्गुलोद्धृतमृदं तैर्जलाप्लावितैर्मुद्गरकुट्टितैः पादत्रयान्तमापूर्य समप्लवां सुघटितां सुश्लक्ष्णां भुवं विधाय छायाशङ्कादिना प्राचीं दिशं संसाध्य शिलासु लाञ्छनानि कृत्वा सम्पूजयेत् । इति भूपरीक्षा (भूपरिग्रहः) समाप्ता ॥

---

१ सिन्द्रस्कन्धे इति ग. पाठः । २ सीमन्तं इति क. पाठः ।

॥ अथ शिलान्यासविधिः ॥

तत्र प्रासादक्षेत्रमष्टधा विभज्य चतुष्षष्टिकोष्टकान् कृत्वा चैशान-नैर्ऋत्य-मूर्ध्ववंशं आग्नेयाञ्च वायव्यान्तं तिर्यग्वंशद्वयं दत्त्वा द्विपदं षट्पदं च रक्षाष्टकं विन्यस्य मर्माणि ज्ञात्वा ईशानकोणार्धे ईशं दत्त्वा 'पर्जन्य-जयमाहेन्द्ररविसत्यभृशान्पदिकान् सम्पूज्य अग्निकोणकोष्टके व्योमपावकौ विन्यस्य पूषावितथग्रहक्षतयम-गन्धर्वभृङ्गान् पदिकान् दत्त्वा नैर्ऋत्यकोणकोष्टके मृगपितरौ विन्यस्य दौवारिकसुग्रीवपुष्पदन्तवरुणअसुरशो-षान् पदिकान् सम्पूज्य तदनु वायव्यकोणकोष्टके रोगवायू विन्यस्य नागमुख्यभल्लाटसोमदितिअदित्यन्तान् पदिकान् सम्पूज्य ईशानकोणे अदितिं संपूजयेत् ॥ मध्ये पदचतुष्टये ब्रह्माणं तस्यैशान्यां पदिकौ आपवत्सौ प्रान्यां षट्पदं मरीचिं आग्नेय्यां सवितासावित्री पदिकौ दक्षिणस्यां षट्पदं विवस्वन्तं नैर्ऋत्यामिन्द्रजयौ पदिकौ वारुण्यां षट्पदं मित्रम् वायव्यां रुद्ररुद्रदासौ पदिकौ उत्तरस्यां षट्पदं धराधरं इति आपवत्सादिक्रमेण दूर्वादध्यक्षतादिभिः सम्पूज्य ईशानादिदिक्षु चरकी स्कन्दा विदारी अर्यमा ललना जम्भा पूतना पापराक्षसी पिलिपिच्छान्तैर्बहिर्देवताष्टकं पूजयेदिति । एकाशीतिपदे गृहवास्तौ मध्ये ब्रह्मा नवपदे मरीच्याद्याः षट्पदा ईशानाद्याः आपचन्द्राद्या द्विपदाः पदिकाबहिर्देवताश्च पूर्ववादसरक्षादिकं चेति एवं वास्तुं सम्पूज्य मर्माणि परिहृत्य शिलाप्रतिष्ठादिकं विदध्यात् । शिलाप्रतिष्ठाविधिः समाप्तः ॥

---

१ कोणके इति ख. ग. पाठः । २ भल्वाट इति क. ख. ग. पाठः । ३ आयवत्सो इति क. ख. पाठः । ४ वद्धं इति ख. ग. पाठः ।

॥ अथ प्रतिष्ठाविधिः ॥

तत्र स्थाप्यस्य[1] जिनबिम्बादेर्भद्रपीठादौ विधिना न्यसनं प्रतिष्ठा। तस्याश्च स्थापकत्रयं शिल्पी १ इन्द्रः २ आचार्य ३ श्चेति। तत्राद्यः सर्वाङ्गावयवरमणीयः क्षान्तिमार्दवार्जवसत्यशौचसम्पन्नः मद्यमांसादिभोगरहितः कृतज्ञो विनीतः शिल्पी सिद्धान्तवान् विचक्षणः धृतिमान् विमलात्मा शिल्पिनां प्रधानो जितारिषड्वर्गः कृतकर्मा निराकुल इति १। इन्द्रोऽपि विशिष्टजातिकुलान्वितो युवा कान्तशरीरः कृतज्ञो रूपलावण्यादिगुणाधारः सकलजननयनानन्दकारी सर्वलक्षणोपेतो देवतागुरुभक्तः सम्यक् रत्नालङ्कृतः व्यसनासङ्गपराङ्मुखः शीलवान् पञ्चाणुव्रतादिगुणयुतो गम्भीरः सितदुकूलपरिधानः कृतचन्दनाङ्गरागो मालतीरचितशेखरः कनककुण्डलादिभूषितशरीरस्तारहारविराजितवक्षस्थलः स्थपतिगुणान्वितश्चेति २। सूरिश्चार्यदेश[2]समुत्पन्नः क्षीणप्रायकर्ममलो ब्रह्मचर्यादिगुणगणालङ्कृतः पञ्चविधाचारयुतो राजादीनामद्रोहकारी श्रुताध्ययनसम्पन्नः तत्त्वज्ञो भूमिगृहवास्तुलक्षणानां ज्ञाता दीक्षाकर्मणि प्रवीणो निपुणः सूत्रपातादिविज्ञाने स्रष्टा सर्वतोभद्रादिमण्डलानामसमः प्रभावे आलस्यवर्जितः प्रियंवदो दीनानाथवत्सलः सरलस्वभावो वा सर्वगुणान्वितश्चेति। स च षष्ठाष्टमादितपोविशेषं विधाय कारापकानुकूले लग्ने हस्तादारभ्य नवहस्तान्तानां प्रतिमानामाद्यासु तिसृषु अष्टनवदशहस्तं इतरासु चतुर्हस्तादिप्रतिमासु हस्तद्वयवृद्ध्या, यद्वा एकहस्तादिक्रमेणैव द्वादशाद्विहस्तवृद्ध्या

१ स्थाप्यजित इति ग. पाठः। २ श्चोपदेश इति क. ग. पाठः।

प्रागेव मण्डपं प्रासादस्याग्रतः कारयित्वा तस्य प्राच्यामीशान्यां वा स्नानमण्डपमधिवासनामण्डपार्धेन निवेश्य लघुप्रतिमासु पञ्चषट्सप्तहस्तानि तोरणानि इतरासु च वसुवेदाङ्गुलाग्राणि न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षद्रुमसमुद्भवानि पूर्वादारभ्य शान्तिभूतियलारोग्यसंज्ञकानि तोरणान्यस्त्रशुद्धानि वर्मावगुण्ठितानि प्रणवेन विन्यस्य स्वमन्त्रैः स्वनामभिरभ्यर्च्य तच्छाखयोर्मेघमहामेघौ कालनीलौ जलाजलौ अचलभूलितौ प्रणवादिस्वाहान्तैः स्वनामभिः सम्पूज्य, ततो द्वारेषु कमलश्वेतइन्द्रप्रायरक्तकृष्णनीलमेघपीतपद्मवर्णाः पताकाश्च दत्त्वा मध्ये श्वेतचित्रे वा ध्वजे सम्पूज्य पाश्चात्यद्वारेण प्रविशेत्। ततः पश्चिमायां पूर्वाभिमुखो वा मण्डपनिरीक्षणप्रेक्षणताडनाभ्युक्षणावकिरणपूरणसमीकरणसेवनाकुट्टनसन्मार्जनोपलेपनाचक्रीकरणान्तैः कर्मभिः स्वस्वमन्त्रोपेतैः संस्कृत्य चन्दनच्छटाभिः सम्प्रोक्ष्योज्ज्वलस्वच्छभूतान्विचिन्तयन्[2] विनिक्षिप्य पुनस्तान् दर्भकूर्चिकया समाहृत्य[3] मण्डपस्य मध्ये यवाङ्कोपशोभितां[4] छत्रचामरभृङ्गारकलशध्वजदर्पणव्यजनसुप्रतीकाष्टमङ्गलकान्वितां वेदीं संस्थाप्य ततो वासुकिनिर्मोकलघुनी प्रत्यग्रवाससी दधानः कराङ्गुलीविन्यस्तकाञ्चनमुद्रिकः प्रकोष्ठदेशनियोजितकनककङ्कणः तपसा विशुद्धदेहो वेदिकायामुदङ्मुखमुपविश्य भूतशुद्धिं विधाय सकलीकरणार्घपात्रं कृत्वा इन्द्रादीनां कवचं विधाय सत्पुष्पाक्षतगन्धधूपपक्वान्नमनोहरं सर्वविघ्नशान्तये स्वयमाचार्य इन्द्रादिमूर्तिधरैः सह सर्वासु दिक्षु बलिं प्रक्षिप्य क्षेत्राधिपं पुष्पधूपाक्षतनैवेद्यदीपादिना सम्पूज्य हस्तौ

१ स्वीय इति क. पाठः। २ विचिन्तयित्वा इति पाठः। ३ समवृत्य इति ख. ग. पाठः। ४ यवारोप इति ग. पाठः।

पादौ च प्रक्षाल्य कृताचमनो वेदिकायामुपविश्य पञ्चवर्णेन रजसा स्वर्णवाहनायुधालङ्कृतान् लोकपालान् संलिख्य दधिदूर्वाक्षतादिभिर्वाहनायुधसमन्वितान् सम्पूज्य अनन्तरं मण्डपाद् बहिः कुमुदाञ्जनचमरपुष्पदन्ताभिधानान् क्षेत्रपालान् पूजयेत्। ततो हेमाद्येकतमं कुम्भमानीय गालिताम्भसा प्रपूर्य संहृतविकारेष्वासनं दत्त्वा तत्र मूर्तिरूपं कुम्भं विन्यस्य साङ्गं जिनेशं सम्पूज्य पूर्वद्वारि प्रशान्तशिशिरौ। दक्षिणे पर्जन्याशोकौ। पश्चिमे भूतसंजीवनामृतौ। उत्तरे धनेशश्रीकुम्भौ सवस्त्रौ[1] स्रक्सूत्रकण्ठौ सहिरण्यौ चूताश्वत्थदलभूषितवक्त्रौ बीजपूरादिफलसहितौ नन्द्यादिद्वाराधिष्ठितौ सम्पूज्य यथाक्रमं स्वस्वदिक्षु इन्द्रादिधरणेन्द्रान्तं लोकपालाधिष्ठितं कुम्भदशकम् ततोऽखण्डधारया भृङ्गारेण सह कुम्भमाभ्राम्य भो भोः शक्र यथा स्वस्यां दिशि विघ्नप्रशान्तये सावधानेन स्नानान्तं यावद्भवितव्यमिति। अनेन क्रमेण लोकपालान् सम्बोध्य। ततः स्नानमण्डपं दुग्धदधिसर्पिश्चन्दनं कुङ्कुमं सुमनसो धूपं तथा रत्नानि मृत्तिकाः कषायादिकं प्रतिष्ठोपयोगकारकव्रातं तथा रत्नफलसस्यौषधीअष्टवर्गादिसंज्ञकान् कुम्भान्विन्यस्य अस्त्रप्रोक्षितान् कवचावगुण्ठितान् स्वसंज्ञाभिरभ्यर्च्य क्षीरदधिसर्पिरिक्षुसमुद्ररूपान् परिकल्प्य वहिरन्यानपि कुम्भान् संस्थाप्य लोकपालायुधाङ्कितं शिलानवकं पञ्चकं वा तासु कलशोपेतं समानीय स्नानमुपक्रमेत्। सप्तधान्येन रत्नसमूहेन मृद्भिः कषायवर्गेण मूलिकाभिरष्टवर्गेणोदकान्तरचन्दनेन तीर्थाम्भोभिः पञ्चगव्यादिना संस्नाप्य रक्तवस्त्रैराच्छाद्य मण्डपं

[1] सवस्त्रौ सूत्र इति ख. ग. पाठः।

प्रदक्षिणाकृत्य पाश्चात्यद्वारेण प्रवेश्य वेदिकायां संस्थाप्य अधिवासनामन्त्रेणाधिवास्य पुष्पवासधूपादिभिः सम्पूज्य मुद्रान्यासं कृत्वा घर्माभिजसवाससा संच्छाद्य नैवेद्यं दत्त्वा अर्हदादीनि पञ्च तत्त्वानि विन्यस्य क्ष्मापतेजोयाताकाशगन्धरसरूपस्पर्शशब्दोपस्थपायुपादपाणिवाकनासिकाजिह्वाचक्षुस्त्वकश्रोत्रमनोऽहङ्कारबु-द्धय इति निष्ठुरया संनिरोध्य शिलां पूजयेत्। पूर्वादिशिलासु च तत्त्वानि सर्वाणि विन्यस्य निरोध्य पूजयेत् ॥ अथ शिलाकुम्भनामानि-नन्दा भद्रा जया रिक्ता चेति हस्तप्रमाणा अष्टाङ्गुलोच्छ्रिताः स्वस्तिकाङ्किताः शैलमये शैलमयाः इष्टिकामये तन्मयाः पद्म-महापद्म-शङ्ख-मरकत-समुद्राख्याः कुम्भा इति पञ्चमूर्तिपक्षः। नवपक्षे तु सुभद्र-विभद्र-सुदन्त-जय-विजय-पूर्व-उत्तर-संज्ञकाः शिलाः। सुनन्दा भद्रा जया पूर्णा अजिता विजया मङ्गला धरणीसंज्ञकाः मध्यस्था ब्रह्मरूपिणीति। ततः शिलां कुम्भांश्चादाय प्रासादस्थान-मागत्य गर्तासु ॐ अर्हं जिनाय नमः इति मध्यमगर्तायां कुम्भं विन्यस्य लग्नकाले सिद्धशक्तिं विन्यस्य संचिन्त्य ॐ ह्रीं जिनाय स्वाहेति मन्त्रमुच्चार्य नमस्कारेण शिलां निवेशयेत्। ततः पूर्वादिगर्तासु सिद्धानां शक्तिं विन्यस्य तदनन्तरं। ॐ लूं इन्द्राय नमः। ॐ रूं अग्नये नमः। ॐ सूं यमाय नमः। ॐ पूं नैर्ऋतये नमः। ॐ वूं वरुणाय नमः। ॐ शूं वायवे नमः। ॐ यूं कुबेराय नमः। ॐ हूं ईशानाय नमः। ॐ नागाय नमः। ॐ ब्रह्मणे नमः इति लोकेशमन्त्रैस्ताम्रमयकुम्भान् घृतमधुपूरितान् कृतस्रक्सूत्रकण्ठान् विन्यस्य तेषामुपरि शिलाः सं-

१ दशा अष्टाङ्गुल इति ख. पाठः। २ संतकाः शिला इति ख. पाठः। ३ ॐ ह्रीं इति ख. पाठः। ४ ॐ ल्लूं इत्यन्यत्र पाठः।

॥ अथ विम्बप्रतिष्ठाविधिः ॥

तत्र पूर्ववत् मण्डपद्वयं कृत्वा कारकसमूहमाहरेत् । सुवर्णरजतताम्रमयं मृन्मयं वा स्नानार्थं कलशाष्टकम् । आद्यकुम्भचतुष्कम् । वारकाणामष्टोत्तरशतं चतुरङ्गो वेदी मल्लकानां पञ्चाशत् वेणुयववारकान् शरावप्ररूढांश्च स्थपतिकुम्भं यवव्रीहिगोधूमतिलमाषमुद्गवल्लचणकमसूरतुवरीवणबीजनीवारश्यामकादिधान्यवर्गः ॥ १ ॥ हेमरजतताम्रकृष्णलोहत्रपुरीतिन त्रसूर्यकान्तनीलमहानीलमौक्तिकपुष्परागपद्मरागवैडूर्यादिरत्नवर्गः ॥ २ ॥ हेमरजतताम्रकृष्णलोहत्रपुरीतिकांस्यसीसकादिलोहवर्गः ॥ ३ ॥ न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थचम्पकाशोककदम्बाम्रजम्बूबकुलार्जुनपाटलावेतसकिंशुकादिकषायवर्गः ॥ ४ ॥ वल्मीकपर्वताग्रनद्युभयतटमहानदीसंगमकुशबिल्वमूलचतुष्पथदन्तिदन्तगोश्रृङ्गराजद्वारपद्मसरएकवृक्षादिमृत्तिकावर्गः ॥ ५ ॥ गङ्गायमुनामहीनर्मदासरस्वतीतापीगोदावरीसमुद्रपद्मसरस्ताम्रपर्णीनदीसङ्गमादिपानीयवर्गः ॥ ६ ॥ सहदेवीजयाविजयाजयन्तीअपराजिताविष्णुक्रान्ताशङ्खपुष्पीबलाअतिबलाहेमपुष्पीविशालानाकुलीगन्धनाकुलीसहवाराहीशतावरीमेदामहामेदाकाकोलीक्षीरकाकोलीकुमारीबृहतीद्वयं चक्राङ्कामयूरशिखालक्ष्मणादूर्वादर्भपतंजारीगोरम्भारुद्रजटालज्जालिकामेषश्रृङ्गीऋद्धिवृद्ध्याद्यौषधिवर्गः ॥७॥ ऋद्धिवृद्धिशतावरीप्रभृत्यष्टकवर्गः ॥ ८ ॥ वालकामलकजातिपत्रिकाप्रियङ्गुचनारोध्रयष्टीमधुकुष्ठदेवदारुउशीरऋद्धिवृद्धिशतावरीप्रभृत्यष्टकवर्गः ॥ ९ ॥ सिल्हककुष्ठकमांसीमुरमांसीश्रीखण्डागुरुकर्पूरनखपूतिहरिद्राग्रन्थिपर्णकमुस्ताकुष्ठादिसर्वौषधिवर्गः ॥ ९ ॥ सिल्हककुष्ठकमांसीमुरमांसीश्रीखण्डागुरुकर्पूरनखपूतिकेशादिगन्धवर्गः ॥ १० ॥ वासाश्रीखण्डकुङ्कुमकर्पूरमुद्रिकाकङ्कणमदनफलानि रक्तसूत्रं ऊर्णासूत्रं लोहमुद्रिका

ऋद्धिवृद्धियुतं कङ्कणं यवमा[1]लिकातर्कुका शिलागोरोचनाश्वेतसर्षपासितयुगाद्वयं पट्टाच्छादनं पटलकानि घण्टाः धूपदहनकानि रजतवट्टि[2]कां सुवर्णशलाकां कांस्यवट्टिकां आदर्शः नालिकेरबीजपूरककदलकनारङ्गाम्रजम्बूकूष्माण्डवृन्ताकामलकबदरादिप्रशस्तफलवर्गः। पूगीफलनागवल्लीदलानि मातृपुटिकानां शतमष्टोत्तरम्। अखण्डतण्डुलानां सेतिका इक्षुयष्टिका पुष्पाणां चय इति प्रचुरमानीयोत्तमवेदिकायां कारकजातं विन्यस्य हस्तशतप्रमाणायां भुवि जीवरक्षादिना क्षेत्रशुद्धिं विदध्यात्। तथाचोक्तम्॥ [3]काउं खेत्तविसुद्धिं मङ्गलकोउयजुयं मणभिरामम्। वत्थुं जत्थ पइट्ठा कायव्वा वीयरायस्स॥ १॥ इति तदनु पूर्ववत् मण्डपप्रदेशं विधाय ततो मङ्गलार्थमादौ चैत्यवन्दनं शान्त्यर्थं देवतानां च कायोत्सर्गाणि कृत्वा तदनु वेदिकायामुपविश्य ॐनमो अरिहंताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उवज्झायाणं नमोलोएसव्वसाहूणं ॐनमोसव्वोसहिपत्ताणं ॐनमोविज्जाहराणं ॐनमो आगासगामीणं ॐ कं क्षं नमः [4]अशुचिः शुचिर्भवामि स्वाहेति पञ्चसप्तवारान् सुरभिमुद्रया शुचित्वापादनायात्मनि शुचिविद्यां विन्यस्य श्रीमदर्हदादिमन्त्रैरात्मनो रक्षां कुर्यात्। तथाचागमः॥ [5]सुइविज्जाए सुइणा पंचंगाबद्धपरियरेण चिरा। निसिऊण जहाठाणं दिसि देवयमाइए सव्वे॥१॥एवं सन्नद्धगत्तो य सुइ दक्खो जिइंदिओ। सियवत्थपाउरंगो पोस-

१ मालिकाशिला इति ग. पाठः। २ पट्टिकां इति ग. पाठः। ३ कृत्वा क्षेत्रविशुद्धिं मङ्गलकौतुकयुतं मनोभिरामम्। वस्तु यत्र प्रतिष्ठा कर्तव्या वीतरागस्य॥ १॥ ४ अशुर्चि इति क. पाठः। ५ शुचिविद्यया शुचिना पंचंगाबद्धपरिकरेण चिरात्। न्यस्य यथास्थानं दिशि देवतादिकाः सर्वे॥ १॥ एवं संनद्धगात्रश्च शुचिर्दक्षो जितेन्द्रियः। सितवस्त्रप्रावृताङ्गः पौषधिकः करोति च प्रतिष्ठाम्॥ २॥

द्धिओ कुणइ अ पइट्ठम् ॥ २ ॥ ततश्च श्रद्धायुक्तं शुचितपसा शुद्धदेहं शेखरकटककेयूरकुण्डलमुद्रिकाहारवैकक्षादिषोडशाभरणोपेतं देवस्य दक्षिणभुजाश्रितमिन्द्रं परिकल्पयेत् । उक्तंच । उंइयदिशासु विणिवेसियस्स दक्खिणभुयाणुमग्गेण । उत्तमसियवत्थविनसिएणं कयसुकयकम्मेणं ॥ १ ॥ तदनन्तरमिन्द्रस्य मन्त्रमयं कवचं कृत्वा ॐनमोअरिहन्ताणं नमोसिद्धाणं नमोआयरियाणं नमोआगासगामीणं नमोचारणाइलद्धीणं जे इमे किंनरकिंपुरिसमहोरगगंरुलसिद्धगन्धव्वजक्खरक्खसभूयपिसायडाइणिपभइ जिणघरणिवासिणो नियनियनिलयट्ठिया य वियारिणो सन्निहिया य असन्निहिया य ते सव्वे विलेवणपुप्फधूवपईवसणाहं वलिं पडिच्छन्तु तुट्ठिकरा भवन्तु सिवंकरा भवन्तु सन्तिकरा भवन्तु सत्थयणं कुणन्तु सव्वजिणाणं संनिहाणं भावओ पसन्नभावेण सव्वत्थ रक्खं कुणंतु सव्वदुरियाणि नासन्तु सव्वासिवं उवसमन्तु सन्तिपुट्ठितुट्ठिसिवसत्थयणकारिणो भवन्तु स्वाहेत्यादिमन्त्रेण चिन्नोच्चाटनाय भूतवलिं प्रक्षिपेत् । ततः प्रतिमाकोणेषु स्रक्सूत्रफलान्वितान् चतुःकुम्भान् संस्थाप्य ॐह्रां ललाटे । ॐह्रीं वामकर्णे । ॐह्रूं दक्षिणकर्णे ॐह्रौं शिरसि पश्चिमभागे । ॐह्रः मस्तकोपरि । ॐक्ष्मां नेत्रयोः । ॐक्ष्मीं मुखे । ॐक्ष्मूं कण्ठे । ॐक्ष्मौं हृदये । ॐक्ष्मः बाह्वोः । ॐक्रों उदरे । ॐह्रीं कट्यां । ॐह्रूं जङ्घयोः । ॐक्ष्मूं पादयोः । ॐक्ष्मः हस्तयोरिति कुङ्कुमश्रीखण्डकर्पूरादिना चक्षुःप्रतिस्फोटादिनिवारणाय प्रति-

१ उचितदिशासु निनिवेशितस्य दक्षिणभुजानुमार्गेण । उत्तमसितवस्त्रविन्यसितेन कृतसुकृतकर्मणा ॥१॥ २ रगहलइति ख. पाठः । ३ सिग्गकरा इति क. पाठः । ४ ह्रीं पाठान्तरम् । ५ हूं पाठान्तरम् । ६ हूं पाठान्तरम् । ७ अः पाठान्तरम् ।

मायां विलिखेत् । तदनु ॐ ह्रूं क्ष्रूं फुट् किरिटि किरिटि घातय घातय परविघ्नानास्फोटयास्फोटय सहस्रखण्डान् कुरु कुरु परमुद्रां छिन्द छिन्द परमन्त्रान् भिन्द भिन्द क्षः फट् स्वाहेत्यनेन श्वेतसर्षपान् परिक्षिप्य दिग्बन्धाय पूर्वादिकाष्ठासु विनिक्षिप्य तदनु चाचार्यश्चतुरः कलशान् गालिताम्भसा प्रपूर्य पुष्पाक्षतादिभिः सम्पूज्य मन्त्रैरालभ्य स्थपतिं च वस्त्रालङ्कारताम्बूलादिना संपूज्य मुद्रितं कलशं समर्प्य शेषांश्चेन्द्रादीनां समर्प्येष्टांशसमये सूत्रधारकलशपुरःसरां प्रतिमां स्नापयेत् । इति प्रथमं कलशस्नानम् ॥ ततः सप्तधान्यरत्नमृत्तिकाकषायौषधिअष्टवर्गसर्वौषधिपञ्चामृतगन्धवासचन्दनकुङ्कुमकर्पूरतीर्थोदकादियुक्तैः स्वस्वमुद्राभिमन्त्रितैः कुम्भैः स्नापयेदिति ॥ अत्र स्नानमन्त्राः । ॐनमो यः सर्वशरीरावस्थिते महाभूते आइजलं गृह्ण गृह्ण स्वाहेति प्रथमस्नानषट्कस्यायं मन्त्रः । ॐनमो यः सर्वशरीरावस्थिते पृथु विपृथु विपृथु गन्धं गृह्ण गृह्ण स्वाहेत्यष्टवर्गादिस्नानसमूहस्यायं मन्त्रः । ॐनमो यः सर्वशरीरावस्थिते मेदिनि पुरु पुरु पुष्पवति पुष्पं गृह्ण गृह्ण स्वाहेति समस्तस्नानानां पुष्पमन्त्रोऽयम् । ॐनमो यः सर्वशरीरावस्थिते दह दह महाभूते तेजोधिपतये धूपं गृह्ण गृह्ण स्वाहेति समस्तस्नानानां धूपमन्त्रोऽयम् । तदेवमाकारशुद्धिं विधाय परमेष्ठिमुद्रया प्रतिमायां भगवन्तमावाहयेत् । ॐनमोऽर्हत्परमेश्वराय चतुर्मुखपरमेष्ठिने त्रैलोक्यनताय अष्टदिक्कुमारीपरिपूजिताय देवाधिदेवाय दिव्यशरीराय त्रैलोक्यमहिताय आगच्छ आगच्छ[1] स्वाहा । ततोऽभिमन्त्रितचन्दनेन प्रतिमां सर्वाङ्गं समालिप्य[2] अञ्जलिमुद्रया पुष्पाण्यधिरोप्य धूपं चोद्ग्राह्य वासान् प्रक्षिप्य

१ आगच्छ २ इत्यन्यत्र । २ समालभ्या क. ख. पाठः ।

मूलमन्त्रेण संपूज्य हृदये संस्थाप्य मण्डपं प्रदक्षिणीकृत्य हिरण्यकांस्यवसुरत्नकरम्बकप-
श्वेतवाससा प्रच्छाद्य मूलमन्त्रेण संपूज्य हृदये संस्थाप्य मण्डपं प्रवेश्य भद्रपीठे संस्थाप्य अग्रतः
दर्कमप्रक्षेपपूर्वकं नीत्वा मण्डपाग्रे हृदये रथात्समुत्तार्य पश्चिमद्वारेण मण्डपं प्रवेश्य भद्रपीठे संस्थाप्य अग्रतः चतुरस्रं क्षेत्रं
पीठिकायां नन्द्यावर्ताख्यमण्डले मन्त्रान् सम्पूजयेत्। तत्र चन्दनानुलिप्ते श्रीपर्णीफलके पूर्ववत् चतुरस्रं क्षेत्रं
संसाध्य अग्रस्थानात् सूत्रक्रमेण सप्तवृत्तानि कृत्वा प्रथमवृत्ते तद्वृत्तप्रमाणां कर्णिकां तन्मध्ये नवकोणं नन्द्यावर्तं,
पूर्वादिदिक्षु वज्रयवाङ्कुशसुमनोदामानि च लिखित्वा। ततो द्वितीयवृत्ते मूलमध्याग्रेषु शुक्लरक्तपीतं केसरजालं
चतुर्विंशतिमातृयुतं तृतीयादिवृत्तेषु चतुर्विंशतिषोडशाष्टपत्रसंख्यया क्रमेण पद्मानि च निष्पाद्य आग्नेयनैर्ऋ-
तनायव्येशानासु द्वादशगणान्विलिखेत्। बहिश्चतुर्द्वारान्वितं प्राकारत्रयं श्रीशान्तिभूतिबलारोग्यसंज्ञकैस्तो-
रणैरलङ्कृतं धर्ममानगजसिंहध्वजैः समन्वितमालिख्यानन्तरं प्रथमप्राकारपूर्वादिद्वाराभ्यन्तर उभयपार्श्वे कन-
कपीतसितारक्तकृष्णवर्णानि वैमानिकव्यन्तरज्योतिष्कभवनपतिदेवानां युगलानि प्रथमप्राकारद्वारपालान्
वज्रदण्डधनुःपरशुसमन्वितान् सोमयमवरुणकुबेराख्यान्मध्ये च यष्टिहस्तं तुम्बुरुदेवं विलिख्य। ततो द्वितीय-
प्राकारद्वारेषु जया विजया अजिता अपराजिताभिधाना द्वारपालीः। तृतीयप्राकारद्वारेषु तुम्बुरुं चाभिलिख्य तदनु
द्वितीयप्राकारान्तरे तिरश्चः तृतीयप्राकारान्तरे वाहनानि बाह्यभूमौ मनुष्यदेवानालिख्य। चतुर्द्वारोभयपार्श्वेषु
पद्मिनीखण्डमण्डिताः पुष्करिणीर्विलिखेत्। ततो वज्रलाञ्छितमिन्द्रपुरं दत्वा दिक्षु परविद्याक्षः क्षुद्र कोणेषु परमं-

१ कर्णिकान्तर्मध्ये इति ख. पाठः। २ नन्द्यावर्त इति पाठः। ३ तंबुरुं क. तुंबरुं इति पाठः। ४ तिरि—तृतीय इति क. पाठौ।

त्रा क्षः फुट् चतुःकोणेषु पद्मासनानि समारोप्य पद्मपिधानांश्चतुरो मङ्गलकलशान् लिखित्वा बाह्ये वायुभवनं दद्यात्। इत्येतत्सर्वं कर्पूरगोरोचनामृगमदमिश्रेण कुङ्कुमरसेन काञ्चनतूलिकया सन्मण्डलं विलिखेत्। तदनु तन्मध्यकर्णिकायां भगवन्तमावाह्य पुष्पाक्षतचन्दनादिभिः सम्पूज्य पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरासु सिद्धादिचतुष्कं आग्नेयनैर्ऋतवायव्यैशानेषु ज्ञानादिचतुष्कं च पूजयेत्। ततो दक्षिणभागे देवस्य शक्रश्रुतदेवते[1] उत्तरतश्चेशानशान्तिदेवते सम्पूज्य केसरेषु मातृगणं प्रणवादिनमोन्तं सम्पूजयेत्। तदनु पत्रेषु जयादिदेवताचतुष्टयमाग्नेयादिषु जम्भादिदेवतागणं बहिश्चतुर्विंशत्यब्जपत्रेषु लोकान्तिकदेवतागणं अनन्तरषोडशपत्रेषु विद्याषोडशकमभ्यर्च्य। उपरितनपद्मद्वये[2] क्रमेण वैमानिकदेवान् सदेवीकान् दिक्पालांश्च सम्पूज्य ततो द्वादशगणादिकमशेषमपि देवतागणं मण्डलध्वजतोरणादिकं च पुष्पाक्षतादिभिरभ्यर्चयेत्। तथाचोक्तम्। *मज्झे य नसेयव्वं नन्दावज्जं जवं कुसं सुमणम्। तस्सोवरि ट्ठविज्जा पडिमा देवस्स इत्था(च्छा)ए ॥१॥ मज्झे निरञ्जणजिणो पुव्वावरदाहिणोत्तरदिसासु[3]। तह सिद्धसुरूवज्झायसाहूसुति(इ?)रयणतियनासो ॥२॥ केसरनिलये तह मायरो य मरुदेवि विजय[4] सेणा य। सिद्धत्था तह

१ शक्तश्रुत इति क. पाठः। २ उपरिपद्म इति क. पाठः। ३ पुव्वेवर इति ग. पाठः। ४ विजयमाणाय इति क. पाठः।

* मध्ये च न्यासयितव्यं नन्दा(वर्त)वज्रं यवमङ्कुशं सुमनः। तस्योपरि स्थापयेत् प्रतिमां देवस्य इच्छायाः ॥ १ ॥
मध्ये निरञ्जनजिनः पूर्वापरदक्षिणोत्तरदिशासु। तथा सिद्धसूर्युपाध्यायसाधुशुचिरत्नत्रयन्यासः ॥ २ ॥
केसरनिलये तथा मातरश्च मरुदेवी विजया सेना च। सिद्धार्था तथा मङ्गला सुसीमा पृथ्वी च लक्ष्मणा ॥ ३ ॥

मङ्गलसुमीमपुहवीयलक्खणया ॥ ३ ॥ रामो नन्दा विण्हू जेयसामी सुजसे सुधयी अइरा । [1]सिरिदेवीय पहा-वइ तत्तो पउमावइ वप्पी ॥ ४ ॥ सिवे वम्मी तिसलाविय मायाए नामरूवा उ । ॐनमो पुव्वं अन्ते साहा त्ति तओ य वत्तव्वम् ॥ ५ ॥ लोयंतियदेवाणं तत्तो चउवीसपरिगणो नमिउं । सगमंतेहिं विहिणा सोलसविज्जा-गणो य तओ ॥ ६ ॥ पुव्वोत्तराइ(सु)रोहिणीपन्नत्ती वज्जसंकला तह य । वज्जंकुशीय अप्पडिचक्का तह पुरिसदत्ता य ॥ ७ ॥ काली य महाकाली गौरी गंन्धारी जालमाला य । माणवि वइरोट्टाऽच्छुत्ता माणसि महामाणसी चेव ॥ ८ ॥ वेमाणिया य देवा तओ य चउविहा सदेवीया । इंदाइ दिसाइवई नसेज्ज नियएहिं मंतेहिं ॥ ९ ॥ दारे य ठाइ सोमो यमवरुणोय तह कुयेरोय । हत्थेसुं यं रइउं धणुदण्डपासगयगाहिणो तहय ॥ १० ॥

रामा नन्दा विष्णुर्जया श्यामा सुयशाः सुव्रता अचिरा । श्री देवी च प्रभावती ततः पद्मावती वप्रा ॥ ४ ॥

शिवा वामा त्रिशलापि च मातॄणां नामरूपापि तु । ॐनमः पूर्वं अन्ते स्वाहेति ततश्च वक्तव्यम् ॥ ५ ॥

लोकान्तिकदेवानां ततश्चतुर्विंशतिपरिगणं नत्वा । स्वमन्त्रैर्विधिना षोडशविद्यागणश्च ततः ॥ ६ ॥

पूर्वोत्तरादिषु रोहिणी प्रज्ञप्तिर्वज्रशृङ्खला तथाच । वज्राङ्कुशी च अप्रतिचक्रा तथा पुरुषदत्ता च ॥ ७ ॥

काली च महाकाली गौरी गन्धारी ज्वालामाला च । मानवी वैरोट्या अच्छुप्ता मानसी महामानसी चैव ॥ ८ ॥

वैमानिकाश्च देवास्ततश्च चतुर्विधाः सदेवीकाः । इन्द्रादिदिशाधिपतीन्न्यसेत् निजैर्मन्त्रैः ॥ ९ ॥

द्वारे च तिष्ठति सोमः यमो वरुणश्च तथा कुबेरश्चा । हस्तेषु च रचयित्वा धनुर्दण्डपाशगदाग्राहिणस्तथाच ॥१०॥ १ वर इति मत्यन्तरे पाठः।

सक्को य जिणासन्नो णाणादेवा जहोइया वारे। पडिहारोविय तुंबरु मंतोय णमो तओ साहा ॥११॥ एवं नसिउं सव्वं पुज्जेउं विविहगन्धमल्लेहिं । नसियव्वो पञ्चंगो मंतो पडिमा य जत्तेणं ॥ १२॥ इति। अथ नन्दावर्त्तपूजामन्त्राः। ॐनमो अर्हते जिनाय रजोहननायाऽघोरस्वभावाय निरतिशयपूजार्हाय अरुहाय भगवते ह्रां अर्हत्परमेष्ठिने स्वाहा। ॐनमः स्वयम्भुवे अजराय मृत्युंजयाय निरामयाय अनिधनाय भगवते निरञ्जनाय ह्रीं सिद्धपरमेष्ठिने स्वाहा। ॐनमः पञ्चविधाचारवेदिने तदाचरणशीलाय तत्प्रवर्तकाय ह्रूं आचार्यपरमेष्ठिने स्वाहा। ॐनमो द्वादशाङ्गपरमस्वाध्यायसमृद्धाय तत्प्रदानोद्यताय ह्रौं उपाध्यायाय ब्रह्मणे स्वाहा। ॐनमः स्वर्गापवर्गसाधकाय ह्रः साधुमहात्मने स्वाहा ॥ पञ्चपरमेष्ठिपूजामन्त्राः। ॐनमः परमाभ्युदयनिःश्रेयसहेतवे ज्ञानाय नमः। रत्नत्रयादीनां मन्त्राः। ॐनमः शुचित्वापादिकायै शुचिविद्यायै स्वाहा। ॐनमः सौधर्मकल्पोत्तरस्थितये ऐरावतवाहनाय वज्रपाणिशचीपतिविबुधाधीशभास्वत्किरीटप्रच्युतिसमनन्तरापवर्गभाक्शक्राय स्वाहा। ॐनमो दक्षिणपार्श्वासीनधवलमूर्तिवरदपद्माक्षसूत्रपुस्तकालङ्कृतानेकपाणिद्वादशाङ्गश्रुतदेवाधिदेवते सरस्वत्यै स्वाहा। ॐनमो ईशानकल्पोत्तरस्थितये गजवाहनसदेवीकदिव्यायुधपाणिदेवाधीशकनककिरीटोद्भासिने ईशानाय स्वाहा। ॐनमो

शक्रश्च जिनासन्नो नानादेवा यथोदिता द्वारे। प्रतिहारोपि च तुम्वरुः मन्त्रश्च नमस्ततः स्वाहा ॥ ११ ॥
एवं न्यस्य सर्व पूजयित्वा विविधगन्धमाल्यैः। न्यासयितव्यः पञ्चाङ्गो मन्त्रः प्रतिमा च यत्नेन ॥ १२ ॥

१ देवादिदेव इति ग. पाठः। २ मरुदेवीक इति ख. पाठः।

वामपार्श्वासीनधवलद्युतिवरदकमलपुस्तककमण्डलुभूषितानेकपाणिसकलजनशान्तिकारिके शान्तिदेव्यै स्वाहा। ॐनमो दिव्यरत्नात्मने नन्दावर्ताय स्वाहा । ॐनमः सर्वरक्षाविधायिने वज्राय स्वाहा । ॐनमो जयाभ्युदयात्मने यवाय स्वाहा । ॐनमः समस्तविघ्नविनाशकाय अङ्कुशाय स्वाहा । ॐनमो मङ्गलात्मने सुमनोदामाय स्वाहा । इति शक्रादीनां मन्त्राः । ॐनमो मरुदेव्यै सपुत्रिकायै स्वाहा । इत्यादिमातृकादिगणमन्त्राः । ॐनमः पूर्वोत्तरादिग्निवासिभ्यः सारस्वतेभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥ ॐनमः पूर्वदिग्निवासिभ्य आदित्येभ्यः स्वाहा ॥ २॥ ॐनमः पूर्वदक्षिणादिग्निवासिभ्यो वह्निभ्यः स्वाहा ॥३॥ ॐनमो दक्षिणदिग्निवासिभ्यो वरुणेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ ॐनमो दक्षिणापरदिग्निवासिभ्यो गर्दतोयेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ ॐनमो अपरदिग्निवासिभ्यस्तुषितेभ्यः स्वाहा ॥ ६ ॥ ॐनमो अपरोत्तरदिग्निवासिभ्योऽव्याबाधेभ्यः स्वाहा ॥ ७ ॥ ॐनम उत्तरादिग्निवासिभ्योऽरिष्टेभ्यः स्वाहा ॥८॥ ॐनमः सारस्वतादित्यान्तरनिवासिअग्न्याभ ॥ ९ ॥ सूर्याभेभ्यः स्वाहा ॥ १० ॥ ॐनमः आदित्यवह्न्यन्तरनिवासिचन्द्रायस्वाहा ॥ ११ ॥ सत्याभेभ्यःस्वाहा ॥ १२ ॥ ॐनमोवह्निवरुणान्तरनिवासिश्रेयस्कर ॥ १३ ॥ क्षेमंकरेभ्यः स्वाहा ॥ १४ ॥ ॐनमोवरुणगर्दतोयान्तरनिवासिवृषभाभ ॥ १५ ॥ काम[2]चारेभ्यः स्वाहा ॥ १६ ॥ ॐनमो गर्दतोयतुपितान्तरनिवासिनिर्माणराजो ॥ १७ ॥ दिशान्तरक्षितेभ्यः स्वाहा ॥ १८ ॥ ॐनमस्तुपिताव्यायाधान्तरनिवास्यात्मरक्षित ॥ १९ ॥ सर्वरक्षितेभ्यः स्वाहा ॥ २० ॥ ॐनमो अव्याबाधारिष्टान्तर-

१ तोयोत्तर इति ख. ग. पाठः । २ कामवरेभ्य इति ख. पाठः ।

निवासिमरु ॥ २१ ॥ वसुभ्यः स्वाहा ॥ २२ ॥ ॐनमो अरिष्टसारस्वतान्तरनिवास्यश्व ॥ २३ ॥ विश्वेभ्यः स्वाहा ॥ २४ ॥ एते चतुर्विंशतिनिकाये लोकान्तिकदेवानां पूजामन्त्राः ॥ ॐनमः पूर्वदिग्दलासीनइन्दुधवलविग्रहशङ्ख-कार्मुकादिप्रहरणानेकपाणिरोहिण्यै स्वाहा ॥ ॐनमः पूर्वदिग्दलान्तरासीनकुवलयद्युतिदेहशक्त्यादिप्रहरणानेक-पाणिप्रज्ञप्तिकायै स्वाहा। ॐनमः पूर्वदक्षिणदिग्दलासीनहेमावदाततनुलोहशृङ्खलाद्यायुधविविधकरवज्रशृङ्खलायै स्वाहा। ॐनमः पूर्वदक्षिणदिग्दलान्तरासीनकनककान्तिमूर्तिवज्राङ्कुशकुन्तादिशस्त्रबहुभुजभीममहावज्राङ्कुशायै स्वाहा। ॐनमः दक्षिणदिग्दलासीनजाम्बूनदाभविशुद्धशरीरवचश्चचक्रवज्राद्यलङ्कृतानेककराप्रतिचक्रायै स्वाहा। ॐनमः दक्षिणदिग्दलान्तरासीनसुवर्णवर्णमूर्ति–सितनिवसनाद्यनेकहेतिप्रायबाहुपुरुषदत्तायै स्वाहा । ॐनमो दक्षिणापरदिग्दलासीनस्निग्धाञ्जननिभतनुगदाद्यायुधाद्यनेककरकलितकालिकायै स्वाहा। ॐनमो दक्षिणापरदि-ग्दलासीनातसीकुसुमकान्तिमूर्तिवज्राद्यायुधानेककर्ममहाकालिकायै स्वाहा । ॐनमो अपरदिग्दलासीनकनक-कान्तिकायपद्मायुधवरबाहुगौर्यै स्वाहा । ॐनमो अपरदिग्दलान्तरासीनशुककान्तिमूर्तये वज्रमुशलाद्यायु-धसमृद्धानेककरगन्धार्यै स्वाहा । ॐनमो अपरोत्तरदिग्दलासीनामृतफेनपिण्डपाण्डुरशरीराकारज्वलन्महाज्वा-लादिमहाभयङ्करकरप्रहरणानेकभीमभुजज्वालामात्रे[1] स्वाहा। ॐनमः अपरोत्तरदिग्दलान्तरासीनमरकतश्यामा-ङ्गोन्मूलिततरुवरादिप्रहरणानेकभीमकरमानव्यै स्वाहा। ॐनमः उत्तरदिग्दलासीनप्रियङ्गुपुष्पद्युतितनुभीमभुज-

१ ज्वालायै इति पाठान्तरम् ।

कावदातद्युतिवैमानिकयुगलकाभ्यां स्वाहा । ॐनमः प्रथमप्राकारदक्षिणद्वाराभ्यन्तरतोरणोभयपार्श्वव्यवस्थितमवलद्युतिव्यन्तरयुगलकाभ्यां स्वाहा। ॐनमः प्रथमप्राकारपश्चिमद्वाराभ्यन्तरतोरणोभयपार्श्वव्यवस्थितरक्तद्युतिज्योतिष्कयुगलकाभ्यां स्वाहा । ॐनमः प्रथमप्राकारोत्तरद्वाराभ्यन्तरतोरणोभयपार्श्वाश्रितकृष्णद्युतिभवनपतियुगलकाभ्यां स्वाहा॥ इति वैमानिकादियुगलानां मन्त्राः ॥ ॐनमः पूर्वदिग्लोकाधिपतिकार्मुकव्यग्रपाणिपूर्वद्वारे तिष्ठ २ सोमाय स्वाहा । ॐनमो दक्षिणदिग्लोकेशदण्डव्यग्रपाणि दक्षिणद्वारे तिष्ठ २ यमाय स्वाहा । ॐनमो अपरदिग्लोकाधिरक्षपाशहस्तापरद्वारि तिष्ठ २ वरुणाय स्वाहा। ॐनम उत्तरदिग्लोकपालमहागदाव्यग्रहस्तोत्तरद्वारि तिष्ठ २ वैश्रवणाय स्वाहा॥ इति प्रथमप्राकारद्वारपालपूजामन्त्राः॥ ॐनमः पूर्वदिग्द्वाराधिदेवते सितद्युतिअभयपाशाङ्कुशमुद्गरव्यग्रपाणि पूर्वद्वारि तिष्ठ २ जये स्वाहा । ॐनमो दक्षिणदिग्द्वाराधिदेवते रक्तद्युतिअभयपाशाङ्कुशमुद्गरालङ्कृतपाणि दक्षिणद्वारे तिष्ठ २ विजये स्वाहा । ॐनमो अपरदिग्द्वाराधिदेवते कनकप्रभे अभयपाशाङ्कुशमुद्गरव्यग्रपाणि पश्चिमद्वारे तिष्ठ २ अजिते स्वाहा । ॐनम उत्तरदिग्द्वाराधिदेवते श्यामद्युतिअभयपाशाङ्कुशमुद्गरालङ्कृतपाणि उत्तरद्वारे तिष्ठ २ अपराजिते स्वाहा॥ इति द्वितीयप्राकारद्वारपालानां पूजामन्त्राः॥ ॐनमो भगवदर्हत् प्रतिपन्नप्रतिहारभावत्वेनाधिष्ठितद्वाराभ्यन्तराय जटामुकुटधारिणे नरशिरःकपालमालाभूषितशिरोधराय खट्वाङ्गपाणये तुम्बरवे स्वाहा॥ इति तुम्बरुपूजामन्त्रः॥ ॐनमो न्यग्रोधात्मकेभ्यः

१ व्यग्र इति पाठान्तरम् ।

स्वाहा । ॐनमः ऊर्ध्वदिगन्तराध्यासिने अच्युतोत्तरस्थितये अप्रतिहतपरमानन्दाय ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ॥ इति दिग्देवतानां पूजामन्त्राः॥ ॥ ॐनमः पूर्वदिग्दलासीनरक्तद्युतिअक्षसूत्रकमण्डलुपाणिसकलजनकर्मसाक्षिणे आदित्याय स्वाहा । ॐनमो अपरोत्तरदिग्दलासीनधवलद्युतिअक्षमालाकमण्डलुपाणिअमृतात्मने सोमाय स्वाहा ॥ ॐनमो दक्षिणदिग्दलासीनरक्तप्रभाक्षवलयकुण्डिकालङ्कृतपाणितेजोमूर्तये मङ्गलाय स्वाहा। ॐनमः उत्तरदिग्दलासीनहेमप्रभाक्षसूत्रकमण्डलुव्यग्रपाणये बोधात्मने बुधाय स्वाहा ॥ ॐनमः उत्तरपूर्वदिग्दलासीनहरितालद्युतिअक्षसूत्रकुण्डिकायुतपाणित्रिदशमन्त्रिणे बृहस्पतये स्वाहा ॥ ॐनमः पूर्वदक्षिणदिग्दलासीनधवलवर्णाक्षसूत्रकमण्डलुपाणिअसुरमन्त्रिणे शुक्राय स्वाहा ॥ ॐनमो अपरदिग्दलासीनासितद्युतिअक्षवलयकुण्डिकालङ्कृतपाणिलम्बकूर्चभासुरमूर्तये शनैश्चराय स्वाहा ॥ ॐनमो दक्षिणापरदिग्दलासीनातिकृष्णवर्णपाणिद्वयविहितार्घमुद्रमहातमःस्वभावाय राहवे स्वाहा ॥ ॐनमः पूर्वदिग्दलासीनधूम्रवर्णद्युतिअक्षसूत्रकुण्डिकालङ्कृतपाणिद्वयानेकस्वभावात्मने केतवे स्वाहा ॥ इति ग्रहदेवतानां पूजामन्त्राः ॥ ॐनमो दक्षिणदिग्भागासीनस्निग्धाञ्जनद्युतिमुद्गरपाशडमरुकाद्यनेकशस्त्रालङ्कृतानेकपाणिकामचारिणे क्षेत्रपालाय स्वाहा । ॐनमः पूर्वदक्षिणदिग्व्यवस्थितगणधरादित्रिकाय स्वाहा । ॐनमो दक्षिणापरदिग्भागावस्थितभवनपत्यादिदेवीत्रिकाय स्वाहा । ॐनमो अपरोत्तरदिग्व्यवस्थितभवनपत्यादिदेवत्रिकाय स्वाहा। ॐनमः उत्तरपूर्वदिग्व्यवस्थितवैमानिकादित्रिकाय स्वाहा ॥ इति द्वादशगणपूजामन्त्राः ॥ ॐनमः प्रथमप्राकारपूर्वद्वाराभ्यन्तरतोरणोभयपार्श्वव्यवस्थितकन

विति। ॐनमो भगवओ उसभसामिस्स पढमतित्थयरस्स सिज्झउमे भगवई महाविज्जा जेण सवेण इंदेण मघदेयसमुदयेण मेरुम्मि सव्वोसहीहिं सवे जिणा अहिसित्ता तेण सवेण अहिवासयामि सुवयं दढवयं सिद्धं गुद्धं सम्मं दंसणमणुपत्तं हिरि हिरि सिरि सिरि मिरि मिरि गुरु गुरु अमले अमले विमले विमले सुविमले सुविमले मोक्खमग्गमणुपत्तो स्वाहा। अहवा ॐनमो खीरासवलद्धीणं ॐनमो महुआसवलद्धीणं ॐनमो संभिण्णसोइणं ॐनमो पयाणुसारीणं ॐनमो कुट्ठबुद्धीणं जमियं विज्जं पउंजामि सा मे विज्जा पसिज्झउ ॐकंक्षः स्वाहा॥ अधिवासने विधे॥ ॐनमो वग्गु २ निवग्गु २ सुमिणे सोमणसे महु महुरे जयंते अपराजिए स्वाहा॥ सौभाग्यविद्या॥ अनन्तरमाचार्यः सौभाग्यमन्त्रेण सप्तवारान् परिजप्य कङ्कणं मदनफलं यवमालिकां च निबन्धयेत्॥ तदनु क्ष्मातेजोवाय्वाकाशपादपाणिपायुउपस्थवाकघ्राणजिह्वाचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनःप्रभृतीनि तत्त्वानि संस्थाप्य अनन्तरमारोग्यकान्तिसौरभ्यप्रस्वेदरहिततत्वमसृक्मांसयोः शुभ्रत्वं आहारनीहारयोरदृश्यत्वं निःश्वाससुगन्धतेति सहजगुणकदम्बकं विन्यसेत्। ॐनमो विश्वरूपाय अर्हते केवलज्ञानदर्शनधराय हूं ह्रौं सः सहजगुणान् जिनेशे स्थापयामि स्वाहा॥ सहजगुणस्थापनमन्त्रः॥ ततो मन्त्रजसवासससाच्छादयेत्। तथाचागमः। सदसनवधवलवत्थेण छाइउं वासपुप्फधूपेणं। अहिवासिज्ज तिन्नि वाराओ सूरिणो सूरिमन्तेण॥१॥ ततश्च पुष्पा-

१ गुरुगुरु इति ग. अधिकम्। २ पसीयउ इत्यन्यत्र। ३ सुमणे इत्यन्यकल्पेषु। ४ सदशनवधवलवस्त्रेण छादयित्वा वासपुष्पधूपेन। अधिवासयेयुः त्रीणि वाराणि सूरयः सूरिमन्त्रेण॥ १॥

सुराधिपतोरणेभ्यः स्वाहा । ॐनम उदुम्बरात्मकेभ्यः धर्मराजतोरणेभ्यः स्वाहा । ॐनम अश्वत्थात्मकेभ्यः सुराधिपतोरणेभ्यः[1] स्वाहा । ॐनमः प्लक्षात्मकेभ्यः यक्षाधिपतोरणेभ्यः स्वाहा ॥ इति तोरणपूजामन्त्राः ॥ ॐनमः पूर्वद्वारव्यवस्थितेभ्यो धर्मध्वजेभ्यः स्वाहा । ॐनमो दक्षिणद्वारव्यवस्थितेभ्यो मानध्वजेभ्यः स्वाहा । ॐनमः पश्चिमद्वारव्यवस्थितेभ्यो गजध्वजेभ्यः स्वाहा । ॐनमः उत्तरद्वारव्यवस्थितेभ्यः सिंहध्वजेभ्यः स्वाहा ॥ इति ध्वजानां पूजामन्त्राः ॥ ॐनमः पीतद्युतिवज्रलाञ्छितकठिनात्मने पृथिवीमण्डलाय स्वाहा । ॐनमः कृष्णद्युतिषड्बिन्दुलाञ्छितवृत्तात्मने वायुमण्डलाय स्वाहा ॥ इति मण्डलपूजामन्त्रः ॥ एवमुक्तानुक्तमपि प्रणवादिस्वाहान्तैः स्वस्वनामभिः पूज्यम् ॥ इति नन्दावर्तपूजा ॥ ॥ ततो धूपमुत्क्षिप्य नानाकन्दमूलफलपक्वान्नहव्यो बलिः प्रदेयः । सदशेन सितवाससा नूतनेन पट्टमाच्छाद्य पुष्पाक्षतचन्दनादिना वस्त्रोपरि सम्पूज्य स्थिरप्रतिमां तत्कर्णिकायां परिकल्प्य चलप्रतिमां तत्रैव स्थापयेदिति । ततः पुष्पाक्षतचन्दनवासयवालिकाकङ्कणसदशवस्त्रोपरि[2] सम्पूज्य मदनफलानि सौभाग्यमन्त्रेणाधिवासनामन्त्रेण वा मुद्राभिश्चाभिमन्त्र्य प्रतिमासमीपं गत्वा चन्दनेन प्रतिमां सर्वाङ्गां विलेपयेत् । ततः पुष्पाण्यारोप्य वासक्षेपं कृत्वा तदनु कपाटजिनचक्रमुद्राभ्यां शक्तिं तेजस्विनीं कृत्वा पञ्चस्वष्टसु चाङ्गेष्वाचार्यमन्त्रेण द्वितीयेन मन्त्रन्यासं विधाय पश्चात्सौभाग्यमुद्रया सौभाग्यमन्त्रं न्यसेत् । तत्राङ्गानि शिरउभयांसकुक्षिद्वयपर्यवसानानि पञ्च तथा शिरोहृदयनाभिपृष्ठिबाहुद्वयोरुयुगलसंज्ञकान्यष्टा-

१ सलिलाधिप इति पाठः । २ वस्त्रमदन इति क. पाठः ।

गिति । ॐनमो भगवओ उसभसामिस्स पढमतित्थयरस्स सिज्झउमे भगवई महाविज्जा जेण सव्वेण इंदेण मघदेयमसमुद्दयेण मेरुम्मि सव्वोसहीहिं सव्वे जिणा अहिसित्ता तेण सव्वेण अहिवासयामि सुव्वयं दढव्वयं सिद्धं सुद्धं सम्मं दंसणमणुपत्तं हिरि हिरि सिरि सिरि मिरि मिरि गुरु गुरु अमले अमले विमले विमले सुविमले सुविमले मोक्खमग्गमणुपत्ते स्वाहा । अहवा ॐनमो खीरासवलद्धीणं ॐनमो महुआसवलद्धीणं ॐनमो संभिण्णसोइणं ॐनमो पयाणुसारीणं ॐनमो कुट्ठबुद्धीणं जमियं विज्जं पउंजामि सा मे विज्जा पसिज्झउ[1]ॐकंक्षः स्वाहा ॥ अधिवासने विधे ॥ ॐनमो वग्गु २ निवग्गु २ सुमिणे[2] सोमणसे महु महुरे जयंते अपराजिए स्वाहा ॥ सौभाग्यविद्या ॥ अनन्तरमाचार्यः सौभाग्यमन्त्रेण सप्तवारान् परिजप्य कङ्कणं मदनफलं यवमालिकां च निबन्धयेत् ॥ तदनु क्ष्मातेजोवाय्वाकाशपादपाणिपायुउपस्थवाक्घ्राणजिह्वाचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनःप्रभृतीनि तत्त्वानि संस्थाप्य अनन्तरमारोग्यकान्तिसौरभ्यप्रस्वेदरहितत्वमसृक्मांसयोः शुभ्रत्वं आहारनीहारयोरदृश्यत्वं निःश्वाससुगन्धत्वेति सहजगुणकदम्बकं विन्यसेत् । ॐनमो विश्वरूपाय अर्हते केवलज्ञानदर्शनधराय हूं ह्रौं सः सहजगुणान् जिनेशे स्थापयामि स्वाहा ॥ सहजगुणस्थापनमन्त्रः ॥ ततो मन्त्रजसवाससाच्छादयेत् । तथाचागमः । सदसनवधवलवत्थेण छाइउं वासपुप्फधूपेणं । अहिवासिज्ज तिन्नि वाराओ सूरिणो सूरिमन्तेण ॥ १॥ ततश्च पुष्पा-

---

१ कुरुकुरु इति ग. अधिकम् । २ पसीयउ इत्यन्यत्र । ३ सुमणे इत्यन्यकल्पेषु । ४ सदशनवधवलवस्त्रेण छादयित्वा वासपुष्पधूपेन । अधिवासयेत्तु त्रीणि वाराणि सूरयः सूरिमन्त्रेण ॥ १ ॥

क्षतचन्दनादिकमुपरि प्रक्षिप्य रत्नफलमिश्रेण ससधान्येनाभिषिञ्चेत्। ततो नववस्त्राच्छादितायाः प्रतिमायाः चतुर्दिक्षु श्वेतकलशान् यवशरावयवारकान्वितान् स्थापयेत् ॥ तथाचागमः। चत्तारि[1] पुरो कलसा सलिलक्खयकणयरूप्पमणिगब्भा। वरकुसुमदामकण्ठोवसोहिया चन्दणवलित्ता ॥ २ ॥ जववारयसयवत्ताइघट्टिया रयणमालियाकलिया। सुह[3]पुण्ण[2]चत्तचउतंतुगोत्थया होंति पासेसु ॥ ३ ॥ ततो घृतगुडपूर्णान् मङ्गलप्रदीपान प्रज्वालयेत्। तथाचोक्तम्। मंगलदीवा[4] य तहा घयगुलपुण्णा तहेखुरखा[5] य ॥ वरवन्नअक्खयविचित्तसोहिया तह य कायव्वा ॥ ४ ॥ तदनु कन्दमूलफलसम्मिश्रो विचित्रपक्वान्नमनोहरससरावकायुतः—तासां च द्रव्याणि पायसं गुडपिण्डाः कूसरा दध्योदनं सुकुमारिका शाल्योदनं सिद्धपिण्डकाश्चेति मनोहरो बलिर्देयः ॥ उक्तंच। ओस[6]हिफलवत्थसुवण्णरयणसुत्ताइयाइं विविहाइं। अन्नाइंवि गरूयसुदंसणाइं दव्वाइं विमलाइं ॥१॥ चित्तबलिगन्धमल्लविचित्तकुसुमाइं चित्तवासाइं। विविहाइं धन्नाइं सुहाइं रुवाइं उवणेह ॥२॥ ततो यववारकवेदिकादीन्यष्टमङ्गलकानि चतुरिकायां स्थापयेत्। चतुरिकावेद्यौ रक्तसूत्रेण वेष्टयेत्। चतुःकोणेषु रक्षार्थं कुलिशरूपानस्त्राभिम-

---

१ चत्वारः पुरः कलशाः सलिलाक्षतकनकरूप्यमणिगर्भाः। वरकुसुमदामकण्ठोपशोभिताश्चन्दनावलिप्ताः ॥२॥ यववारकशतपत्रादिघट्टिता रत्नमालिकाकलिताः। मुखपूर्णचत्रचतुस्तन्तुकावस्तुता भवन्ति पार्श्वेषु ॥ ३ ॥ २ पुण्ण इति पाठान्तरम्। ३ सुह इति पाठान्तरम्। ४ मङ्गलदीपाश्च तथा घृतगुडपूर्णास्तथेक्षुरकाश्च। वरवर्णाक्षतविचित्रशोभितास्तथा च कर्तव्याः॥४॥ ५ तहेखुरुखा इति पाठान्तरम्। ६ ओषधिफलवस्त्रसुवर्णरत्नसूत्रादिकानि विविधानि। अन्यान्यपि गुरुकसुदर्शनानि द्रव्याणि विमलानि ॥ १ ॥ चित्रबलिगन्धमाल्यविचित्रकुसुमानि चित्रवासासि। विविधानि धन्यानि शुभानि रूपाणि उपनयत ॥२॥

श्रितान् कणशान् निवेशयेत् । तदनु रूपयौवनलावण्यवत्यो रचितोदारवेषा अविधवाः सुकुमारिकाः गुडपिण्ड-
पिहितमुखान् चतुरः कुम्भान् कोणेषु संस्थाप्य कांस्यपात्रीविनिहितदूर्वादध्यक्षततंकुकाद्युपकरणसमन्विताः
सुवर्णादिदानपुरस्सरमष्टौ चतस्रो वा नार्यो रक्तसूत्रेण स्पृशेयुः । शेषाश्च मङ्गलानि दद्युः ॥ तथाचागमः ।
गउं नारीओमिणणं नियमा अहियासु नत्थि उ विरोहो। नेवत्थं व इमासिं जं पवरं तं इहं सेयं॥१॥ दिक्खिय जिण-
ओमिणणा दाणाउ ससत्तिओ तहेयंमि । वेहव्वं दालिद्दं न होइ कइयावि नारीणं ॥२॥ तासां च लवणगुडादि
कृत्वा लवणारात्रिकमुत्तारयेत् । तथाचोक्तम् । आरत्तियमवयारणमङ्गलदीवं च निम्मिउं पच्छा । चउनारीहिं
निम्मच्छणं च विहिणा उ कायव्वं ॥३॥ ततो वर्धमानस्तुतिभिः संघसहिताश्चैत्यवन्दनमधिवासनादिदेवतानां
कायोत्सर्गाणि कुर्यात् । उक्तं च। वंदितु चेइयाइं उस्सग्गो तह य होइ कायव्वो । आराहणानिमित्तं पवयणदे-
वीए संघेण ॥ ४ ॥ विश्वाशेषसु वस्तुषु मन्त्रैर्याजस्रमधिवसति वसतौ। सास्यामवतरतु श्रीजिनतनुमधिवासनादेवी
॥५॥ प्रोत्फुल्लकमलहस्ता जिनेन्द्रवरभवनसंस्थिता देवी। कुन्देन्दुशङ्खवर्णा देवी अधिवासना जयति ॥६॥ एवमनेन

१ पात्रनिनिहित इति क. पाठः । २ कुङ्कुमाद्युप इति क. ख. पाठः । ३ चतुर्नार्यवमानं नियमात् अधिकासु नास्ति तु विरोधः ।
नेपथ्यं च आसां यत् प्रवरं तत् इह श्रेयः ॥ १ ॥ दीक्षितजिनानां अवमानात् दानात् स्वशक्तितः तथा अस्मिन् । वैधव्यं दारिद्र्यं
न भवति कदापि नारीणाम् ॥ २ ॥ ४ आरात्रिकावतारणं मङ्गलदीपं च निर्माय पश्चात् । चतुर्नारीभिर्निर्मञ्छणं विधिना तु कर्तव्यम् ॥३॥
५ वन्दित्वा चैत्यानि उत्सर्गस्तथा च भवति कर्तव्यः । आराधनानिमित्तं प्रवचनदेव्याः सङ्घेन ॥ ४ ॥

विधिना श्रीमद्भगवन्तमधिवास्य गन्धधूपपुष्पाद्यधिवासितायां स्वास्तीर्णायां विद्रुमशय्यायां शाययेत्। [1]वर्मजसाऽरक्तवाससा चाच्छादयेत्। तदनु ससगीतवाद्यमङ्गलादिना चतुर्विधश्रमणसङ्घेन सह। ततः प्रभातायां शर्वर्यामुदये प्राप्ते वासरे सूरिः प्रतिष्ठां कुर्यात्॥ उक्तं च॥ [2]इय विहिणा अहिवासेज्ज देवबिम्बं निसाए सुद्धमणो। तो उग्गयम्मि सूरे होइ पइट्ठासमारम्भो॥ १॥ इति अधिवासनाविधिः॥ ततः काञ्चित् कालकलां विलम्ब्य पूर्ववच्छान्तिबलिं प्रक्षिप्य चैत्यवन्दनादिकं कर्म कृत्वा वस्त्रमपनीयाऽविधवनायिकायाः समर्पयेत्। ततो रजतमयवर्तिकानिहितमधुदिव्यया सुवर्णशलाकया अर्हन्मन्त्रमुच्चार्य ज्ञानचक्षुरुन्मीलयेत्॥ तथा चागमः॥ [3]कल्लाणसलायाए महुघयपुण्णाए अच्छि [4]उग्घाडे। अण्णेण वा हिरण्णेण निययजहसत्तिविहवेण॥२॥ दृष्टिन्यासे च दृष्टेराप्यायननिमित्तं घृतादर्शदधीनि संदर्शयेत्। तदनु योजनेऽपि कोटिसहस्रावस्थानं वचनस्य स्वस्वभाषया परिणमनं रुग्वैरमारिदुर्भिक्षडमरादीनामभावः। अतिवृष्ट्यनावृष्टी न भवतः। इति कर्मक्षयोत्पन्नगुणान् जिनेन्द्राणां स्थापयेत्। ॐनमो भगवते अर्हते घातिक्षयकारिणे घातिक्षयोत्पन्नगुणान् जिने संस्थापयामि स्वाहा। घातिकर्मक्षयोत्पन्नैकादशातिशयस्थापनामन्त्रः॥ पश्चादाचार्यः स्वमन्त्रोच्चारपुरस्सरं प्रासादं गत्वा विघ्नानुत्साद्य रत्नादिपञ्चकं विन्यसेत्। तत्र पूर्वस्यां वज्रं, आग्नेय्यां सूर्यकान्तं, दक्षिणस्यां नीलं, नैर्ऋत्यां महानीलं,

१ धर्म इति स्यात्। २ इति विधिना अधिवासयेत् देवबिम्बं निशायां शुद्धमनाः। तत उद्गते सूर्ये भवति प्रतिष्ठासमारम्भः॥ १॥ ३ कल्याणशलाकया मधुघृतपूर्णया अक्षी उद्घाटयेत्। अन्येन वा हिरण्येन नियतयथाशक्तिविभवेन॥ २॥ ४ उघारे इति ग. पाठः।

पश्चिमस्यां मौक्तिकं, वायव्यां पुष्परागं, उत्तरस्यां पद्मरागं, ईशान्यां वैडूर्यमिति पूर्वादिगर्तासु विन्यस्य। मध्य-गर्तायां समस्तानीति। ततो हेमताम्रकृष्णलोहत्रपुरौप्यरीतिकाकांस्यसीसकाद्यपि पूर्वादिगर्तासु मध्ये सम-ग्राणि हेमशक्तिमनुस्मरन् न्यस्येत्। तदनु हरितालीं मनःशिलां तौरिकां सुवर्णमाक्षिकां पारदं हैमगैरिकं गन्धकां अभ्रकामिति धातून् स्मृतिबीजात्मकान् पूर्वादिगर्तासु। मध्ये समस्तानि। अथोशीरविष्णुक्रान्तारक्त-चन्दनकृष्णागुरुश्रीखण्डं उत्पलसारिकं कुष्टं शङ्खपुष्पिकाद्यौषधीरारोग्यशक्तिमनुसंधाय यथासंख्यं पूर्वादिग-र्तासु मध्यगर्तायामखिलाङ्यसेदिति ॥ यद्वा सर्वरत्नाभावे वज्रं लोहानां सुवर्णं धातूनां हरितालं औषधीनां सहदेवी बीजानां यवाः एकं वा पारदं सर्वगर्तासु विन्यस्य। मध्यमगर्तायां सिंहासनपाण्डुकम्बलशिलालङ्कृतं हेममयं ताम्रमयं मृन्मयं मेरुं स्थापयेदिति। स्थिरप्रतिष्ठायामयं विधिरितरायां रत्नगर्भाकुलालचक्रमृत्तिकां दर्भांश्च स्थापयेदिति। ततो घर्मजसवाससा प्रच्छाद्य लोकपालानां बलिं दत्वा जयशब्दादिमङ्गलैः सतूर्यनि-र्घोषै रत्नकरम्बकं संक्षिप्य अधिवासनामण्डपात् भगवन्तं भद्रपीठे समुत्तार्य स्थिरो भवेत्युक्त्वा छादिकाभिः सूत्रान्तरेण प्रगुणं विधाय लग्नकालमवलोकयेत्। अनन्तरमाचार्यो मध्यमया चन्दनं अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां वासान् मुष्टौ पुष्पाक्षतान् संगृह्य स्वमंत्रेण कुम्भकविधिना सृष्टिमार्गमनुस्मरन् सूत्रधारोपनीतछदिकं प्राणेन सह प्रतिष्ठाप्य। ॐ अर्हं इति मन्त्रेणोत्तमाङ्गादिषु वासादिक्षेपं कुर्यात्। तत आचार्यमन्त्रेण। ॐ नमो अरिहंताणं।

---

१ समन्त्रेण इति ग. पाठः। २ मनुसरन् इति क. पाठः।

ॐनमो सिद्धाणं। ॐनमो आयरियाणं। ॐनमो उवज्झायाणं। ॐनमो लोएसव्वसाहूणं। ॐनमो ओहिजिणाणं। ॐनमो परमोहिजिणाणं। ॐनमो सव्वोहिजिणाणं। ॐनमो अणन्तोहि जिणाणं। ॐनमो केवलिजिणाणं। ॐनमो भवत्थ[1]केवलिजिणाणं। ॐनमो भगवओ अरहओ महई महावीरवद्धमाणसामिस्स सिज्झउ मे भगवई (इमा) महई महाविज्जा वीरे २ महावीरे जयवीरे सेणवीरे वद्धमाणवीरे जये विजये जयन्ते अपराजिए अणिहए माचल २ वृद्धिंदे[2] २ हूं २ ह्रीं २ सँः[3] २ ओहिणिं[4] मोहिणि स्वाहेत्यादिना प्रतिष्ठामन्त्रेणाचार्यमन्त्रेण वा चक्रमुद्रया प्रतिमायां त्रिपञ्चसप्तवारान् मन्त्रन्यासं विधाय ॐ ह्रीं अर्हन्मूर्तये नमः इति पुनः प्रवचनमुद्रया मूर्तिं प्रतिबोध्य स्थावरे तिष्ठ २ स्वाहा इति जिनमुद्रया स्थिरीकरणं कृत्वा आचार्यः धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्याऽङ्गमन्त्रेण गरुडमुद्रया दुःखविघ्नादीनुत्साद्य सौभाग्यमन्त्रेण योनिमुद्रया सौभाग्यमारोप्य ऋषभाद्येकतमं जिने नाम कृत्वा गन्धपुष्पधूपादिभिः सम्पूज्य नमस्कारमुद्रया नमस्कृतिं विदध्यात् ॥ तदनु कनककमलपातश्चतुरङ्गताकण्टकानामधोमुखीभावो रोमनखानामवस्थितत्वमिन्द्रियार्थानुकूलता सर्वर्तूनां प्रादुर्भावो गन्धोदकवृष्टिः शकुनानां प्रदक्षिणगतयो द्रुमाणामवनतिः प्रभञ्जनानुकूलता भवनपतिप्रभृतीनां जघन्येन कोटिमात्रावस्थानमित्येवं सुरकृतातिशयप्रातिहार्ययक्षयक्षेश्वरीधर्मचक्रमृगध्वजेन्द्ररत्नध्वजप्राकारत्रयादीन् प्रत्येकं स्वस्वमन्त्रैः संस्थापयेत् ॥ तत्रातिशयादीनां स्थापनमन्त्राः। ॐनमो भगवते अर्हते सुरकृतातिशयान् जिनस्य शरीरे

१ सव्वत्थ इति पाठान्तरम्। २ वुद्धिदे इति ग. पाठः। ३ सा २ इति पाठान्तरम्। ४ अरिणि इत्यन्यकल्पेषु दृश्यते।

स्थापयामि स्वाहा। ॐनमो भगवते अर्हते असिआउसा जिनस्य प्रातिहार्याष्टकं स्थापयामि स्वाहा। ॐयक्षेश्वराय स्वाहा। ॐ ह्रीं हूं ह्रीं शासनदेव्यै स्वाहा। ॐधर्मचक्राय स्वाहा। ॐमृगद्वन्द्वाय स्वाहा। ॐरत्नध्वजाय स्वाहा। ॐनमो भगवते अर्हते जिनप्राकारादित्रयं स्थापयामि स्वाहा॥ इति अतिशयादीनां स्थापनामन्त्राः॥ ततोऽविधवानारीभिः प्राग्वत् स्पर्शनादिकं कर्म कृत्वा लवणारात्रिकमुत्तार्य चतुर्विधश्रमणसङ्घसहितो देववन्दनं प्रतिष्ठादिदेवतानां कायोत्सर्गाणि कुर्यात्॥ तथा चागमः॥ तो चेइयाइं विहिणा वन्दिज्जा सयलसङ्घसंजुत्तो। परिवट्टमाणभावो जिणदेवे दिन्नदिट्ठीओ॥ १॥ ततोचिय पवयणदेवयाए पुणरवि करेज्ज उस्सग्गो। आराहणथिरकरणट्ठयाए परमाए भत्तीए॥ २॥ यदधिष्ठिताः प्रतिष्ठाः सर्वाः सर्वास्पदेषु नन्दन्ति। श्रीजिनबिम्बं सा विशतु देवता सुप्रतिष्ठमिदम्॥ ३॥ जइ सग्गे पायाले अहवा खीरोदहिम्मि कमलवणे। भयवइ करेहि संत्ति सन्निज्झं सयलसङ्घस्स॥४॥ अट्ठविहकम्मरहियं जा वन्देइ जिणवरं पयत्तेण। सङ्घस्स हरउ दुरियं सिद्धा सिद्धाइया देवी॥ ५॥ ततोऽञ्जलिमुद्रया सिद्धादिमङ्गलोद्घोषणपूर्वकमुत्तरोत्तरपूजाभिवृद्धये सङ्घेन सह

---

१ श्रुं इत्यन्यत्र। २ वत्सायेति पाठान्तरम्। ३ ततश्चैत्यानि विधिना वन्देत सकलसङ्घसंयुक्तः। परिवर्धमानभावो जिनदेवे दत्तदृष्टिकः॥ १॥ ततश्चैव प्रवचनदेवतायाः पुनरपि कुर्यादुत्सर्गः। आराधनस्थिरीकरणार्थकया परमया भक्त्या॥ २॥ यदि स्वर्गे पाताले अथवा क्षीरोदधौ कमलवने। भगवती करोति शान्तिं सान्निध्यं सकलसङ्घस्य॥ ४॥ अष्टविधकर्मरहितं या वन्दते जिनवरं प्रयत्नेन। सङ्घस्य हरतु दुरितं सिद्धा सिद्धायिका देवी॥ ५॥ ४ मङ्गलाघोषण इति पाठः।

पुष्पगन्धादिमिश्रस्य ससधान्यकस्य प्रक्षेपं कुर्यात् । उक्तं च । [1]वन्दितुं चेइयाइं इमाइं तो सरभसं पढेज्जा । सुमङ्गलसाराइं तहा थिरत्तसारेण सिद्धाइं ॥१॥ तद्यथा । जह सिद्धाण पइट्ठा तिलोयचूडामणिम्मि सिद्धिपए । आचन्दसूरियं तह होइ इमा सुप्पइट्ठत्ति ॥ २॥ गेविज्जगकप्पाणं सुपइट्ठा वण्णिया जहा समए । आचन्दसूरियं तह होइ इमा सुप्पइट्ठत्ति ॥ ३ ॥ जह मेरुस्स पइट्ठा[2] असेससेलाणमज्झयारम्मि । आचन्दसूरियं तह होइ इमा सुप्पइट्ठत्ति ॥ ४ ॥ कुलपव्वयाणवक्खारवट्टवेयड्ढदीहियाणं च । कूडाण जमगकंचणवित्तविचित्ताइयाणं च ॥ ५ ॥ अञ्जणगरुयगकुण्डलमाणुसइसुयारमाइयाणं च । सेलाण जह पइट्ठा तह एसा होइ सुपइट्ठा ॥ ६ ॥ जह लवणस्स पइट्ठा असेसजलहीण मज्झयारम्मि । आचन्दसूरियं तह होइ इमा सुप्पइट्ठत्ति ॥ ७ ॥ कुण्डा-

---

१ वन्दित्वा चैत्यानि इमानि ततः सरभसं पठेत् । सुमङ्गलसाराणि तथा स्थिरत्वसारेण सिद्धानि ॥ १ ॥ यथा. सिद्धानां प्रतिष्ठा त्रिलोकचूडामणौ सिद्धिपदे । आचन्द्रसूर्यं तथा भवति इमा सुप्रतिष्ठा इति ॥ २ ॥ ग्रैवेयककल्पानां सुप्रतिष्ठा वर्णिता यथा समये । आचन्द्रसूर्यं तथा भवति इमा सुप्रतिष्ठा इति ॥ ३ ॥ यथा मेरोः प्रतिष्ठा अशेषशैलानां मध्ये (मध्यकारे) । आचन्द्रसूर्यं तथा भवति इमा सुप्रतिष्ठा इति ॥ ४ ॥ कुलपर्वतानां वक्षस्कारवृत्तवैताढ्यदीर्घिकाणां च । कूटानां यमलकांचनवित्तविचित्रादिकानां च ॥ ५ ॥ अञ्जन-रुचककुण्डलमानुषोत्तरइषुकारआदिकानाम् । शैलानां यथा प्रतिष्ठा तथा एषा भवति सुप्रतिष्ठा ॥६॥ यथा लवणस्य प्रतिष्ठा अशेषजलधीनां मध्ये (मध्यकारे) । आचन्द्रसूर्यं तथा भवति इमा सुप्रतिष्ठा इति ॥ ७ ॥ कुण्डानां द्रहाणां तथा महानदीनां च यथा सुप्रतिष्ठा ।

२ पइट्ठो इति क. पाठः ।

आकालमीतहेसा वि होउ निच्चन्तु सुपइट्टा ॥८॥ जम्बुद्दीवाईणं दी-
व दहाणं तह महानईणं य जह य सुपइट्टा । आकालगीतहेसा वि होउ निच्चन्तु सुपइट्टा ॥८॥ जम्बुद्दीवाईणं दी-
वसमुद्दाणं सव्वकालंमि । जह एयाण पइट्ठा सुपइट्ठा होउ तह एसा ॥ ९ ॥ धम्माधम्मागासत्थिकायमइयस्स
सव्वलोयस्स । जह सासया पइट्ठा एसावि तहेव सुपइट्ठा ॥ १० ॥ पञ्चण्हवि सुपइट्ठा परमेट्ठीणं जहा सुए
भणिया । नियया अणाइणिहणा तह एसा होउ सुपइट्ठा ॥ ११ ॥ तह पवयणस्स गमभंगहेउनयनीइकालकलि-
यस्स । जह एयस्स पइट्ठा निच्चा तह होउ एसावि ॥ १२ ॥ तह संघनराहिवजणवयाण रज्जस्स तहय ठाणस्स ।
गोट्ठीए सव्वकालंपि सासया होउ सुपइट्ठा ॥ १३ ॥ इय एसा सुपइट्ठा गुरुदेवजईहिं तह य भविएहिं । निउणं
पुट्ठा सद्धेण चेव कप्पट्ठिआ होइ ॥ १४ ॥ सोउं मङ्गलसद्दं सउणं ति जहेव इट्ठ सिद्धित्ति । एत्थंपि तहा सम्मं

आकालमीतहेसापि भवतु नित्यं तु सुप्रतिष्ठा ॥ ८ ॥ जम्बुद्वीपादीनां द्वीपसमुद्राणां सर्वकाले । यथा एषां प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठा भवतु तथा
एषा ॥ ९ ॥ धर्माधर्माकाशास्तिकायमयस्यास्य सर्वलोकस्य । यथा शाश्वता प्रतिष्ठा एषापि तथैव सुप्रतिष्ठा ॥ १० ॥ पञ्चानामपि सुप्रतिष्ठा
परमेष्ठीनां यथा श्रुते भणिता । नियता अनादिनिधना तथा एषा भवतु सुप्रतिष्ठा ॥ ११ ॥ तथा प्रवचनस्य गमभङ्गहेतुनयनीतिकालक-
लितस्य । यथा एतस्य प्रतिष्ठा नित्या तथा भवतु एषापि ॥ १२ ॥ तथा सङ्घनराधिपजनपदानां राज्यस्य तथैव स्थानस्य । गोष्ठ्याः
सर्वकालमपि शाश्वता भवतु सुप्रतिष्ठा ॥ १३ ॥ इति एषा सुप्रतिष्ठा गुरुदेवयतिभिः तथाच भविकैः । निपुणं पृष्टा सद्धेन चैव कल्पस्थिता
भवति ॥ १४ ॥ श्रुत्वा मङ्गलशब्दं शकुनं इति यथैव इष्टं सिध्यति । अत्रापि तथा सम्मं ज्ञातव्यं बुद्धिमद्भिः ॥ १५ ॥

१ नगद्दरिसाणाणं उड्ढलोयंमि जहय सुपइट्ठा । आचन्दसूरियं तह होइ इमा सुपइट्ठत्ति इत्यधिकम् । २ सउणि इति पाठान्तरम् ।
३ सिद्धित्ति इति श्रीहरिभद्रकृताष्टकपञ्चाशके ।

नायव्वं वुद्धिमन्तेहिं ॥ १५ ॥ राया बलेण वट्टइ जसेण धवलेइ सयलदिसिभाए। पुण्णं वड्ढइ विउलं सुपइट्ठा जस्स देसंमि ॥ १६ ॥ उवहणइ रोगमारी दुब्भिक्खं हणइ कुणइ सुहभावे। भावेण कीरमाणा सुपइट्ठा सयललोयस्स ॥ १७ ॥ जिणबिंबपइट्ठं जे करिंति तह कारविंति भत्तीए। अणुमण्णन्ति पइदिणं सव्वे सुहभाइणो होंति ॥ १८ ॥ दव्वं तमेव भणइ जिणबिम्बपइट्ठणंमि धण्णाणं। जं लग्गइ तं सयलं दोग्गइजणणं हवइ सेसं ॥ १९ ॥ एवं नाऊण सया जिणवरबिम्बस्स कुणह सुपइट्ठं। पावेह जेण जरमरणवंज्जियं सासयं ठाणं ॥ २० ॥ ततो मुखोद्घाटनकं कृत्वा शान्त्यर्थं शान्तिबलिं क्षिपेत्। ॐनमो भगवते अर्हते शान्तिनाथस्वामिने सकलकलातिशेषमहासम्पत्समन्विताय त्रैलोक्यपूजिताय नमोनमः शान्तिदेवाय सर्वामरसुसमुहस्वामिसम्पूजिताय भुवनपालनोद्यताय सर्वदुरितविनाशनाय सर्वाशिवप्रशमनाय सर्वदुष्टग्रहभूतपिशाचमारिशाकिनीप्रमथनाय नमो भगवति जये विजये अजिते अपराजिते जयन्ति जयावहे सर्वसङ्घस्य भद्रकल्याणमङ्गलप्रदे

राजा वलेन वर्धते यशसा धवलयति सकलदिशिभागे। पुण्यं वर्धते विपुलं सुप्रतिष्ठा यस्य देशे ॥ १६ ॥ उपहन्ति रोगमारी दुर्भिक्षं हन्ति करोति सुखभावे। भावेन क्रियमाणा सुप्रतिष्ठा सकललोकस्य ॥ १७ ॥ जिनविम्बं प्रतिष्ठितं ये कुर्वन्ति कारयन्ति भक्त्या। अनुमन्यन्ते प्रतिदिनं सर्वे सुखभागिनो भवन्ति ॥ १८ ॥ द्रव्यं तदेव भणति जिनबिम्बप्रतिष्ठाने धन्यानाम्। यद् लगति तत् सकलं दुर्गतिजनकं भवति शेषम् ॥ १९ ॥ एवं ज्ञात्वा सदा जिनवरबिम्बस्य कुरुत सुप्रतिष्ठाम्। प्राप्नुथ येन जरामरणवर्जितं शाश्वतं स्थानम् ॥ २० ॥

१ वंधियमिति पाठान्तरम्।

साधूनां श्रीशान्तितुष्टिपुष्टिदे स्वस्तिदे भव्यानां सिद्धिवृद्धिनिर्वृत्तिनिर्वाणजनने सत्वानामभयप्रदानरते भक्तानां शुभावहे सम्यग्दृष्टीनां धृतिरतिमतिबुद्धिप्रदानोद्यते जिनशासनरतानां श्रीसम्पत्कीर्तियशोवर्धनि रोगजलज्वलनविषविषधरदुष्टज्वरव्यन्तरराक्षसरिपुमारिचौरईतिश्वापदोपसर्गादिभयेभ्यो रक्ष २ शिवं कुरु २ शान्तिं कुरु २ तुष्टिं कुरु २ पुष्टिं कुरु २ ॐनमो नमः हूं हः क्षः ह्रीं फट् २ स्वाहा ॥ शान्तिबलिमन्त्रः ॥ तदनु सङ्घादिपूजा दीनानाथादिदानं बन्धमोक्ष इति प्रवचनोद्भासनानिमित्तमवश्यं कर्तव्यमिति ॥ उक्तंच ॥ सत्तीए सङ्घपूया विसेसपूया य बहुगुणा एसा । जं एस सुए भणिओ तित्थयराणंतरो सङ्घो ॥ १ ॥ गुणसमुदओ य सङ्घो पवयण तित्थन्ति होइ एगट्ठा । तित्थयरोवि य एयं नमए गुरुभावओ चेव ॥ २ ॥ तप्पुव्विया अरहया पूइयपूया य विणयकम्मं य । कयकिच्चो(किच्चो)वि जह कहं कहेइ नमए तहा तित्थं ॥ ३ ॥ एयंमि पूइयंमि नत्थि तयं जं न पूइयं होइ । भुवणेवि पूयणिज्जं न पुणट्ठाणं जओ अन्नं ॥ ४ ॥ तप्पूयापरिणामो हंदि महाविसयमो मुणे-

१ शक्त्या सङ्घपूजा विशेषपूजा च बहुगुणा एषा । यत् एषः श्रुते भणितः तीर्थकरानन्तरः सङ्घः ॥ १ ॥ गुणसमुदयश्च सङ्घः प्रवचनं तीर्थमिति भवन्ति एकार्थाः । तीर्थंकरोपि च एनं नमति गुरुभावतश्चैव ॥ २ ॥ तत्पूर्विका अर्हत्ता पूजितपूजा च विनयकर्म च । कृतकृत्यो (कृतकृत्यो) पि यथा कथं कथयति नमति तथा तीर्थम् ॥ ३ ॥ एतस्मिन् पूजिते नास्ति (तकत्) तत् यत् न पूजितं भवति । भुवनेपि पूजनीयं न पुनः स्थानं यतः अन्यत् ॥ ४ ॥ तत्पूजापरिणामो हन्त महाविषयो मन्तव्यः । तद्देशपूजनेपि देवतापूजादि

१ गुरुभाव इति क. पाठः । २ गुणठाणं इति पञ्चाशके ।

यव्वो । तद्देसपूयणम्मि वि देवयपूयाइ नाएण ॥ ५ ॥ आसन्नसिद्धियाणं लिंगमिणं जिणवरेहिं पन्नत्तं । सङ्घंमि चेव पूया सामन्नेणं गुणनिहिम्मि ॥ ६ ॥ एसा य महादाणं एसच्चिय होइ भावजन्नत्ति । एसो गिहत्थसारो एसच्चिय सम्पयामूलम् ॥ ७ ॥ एईए फलं एयं परमं निव्वाणमेव नियमेण । सुरनरसुहाइं अणुसंगियाइं इह किसिपलालं व ॥ ८ ॥ कयमत्थपसंगेणं उत्तरकालोइयं इयह्निम्पि । अणुरूपं कायव्वं तित्थुन्नइकारगं नियमा ॥ ९ ॥ जइओ जणोवयारो विसेसओ णवरसयणवग्गम्मि । साहम्मियवग्गम्मि य एयं खलु परमवच्छल्लम् ॥ १० ॥ तदनन्तरमष्टाहिका देशकालकार्यवशात्त्र्यहिका वा नियमतः कर्तव्येति ॥ तथाचोक्तम् ॥ अट्ठाहिया य महिमा सम्मं अणुबन्धसाहिया केइ । अहवा तिन्नि य दियहे निओगओ चेव कायव्वा ॥ ११ ॥ तदनु तथाविधकार्यवशात्

ज्ञातेन ॥ ५ ॥ आसन्नसिद्धिकानां लिङ्गमिदं जिनवरैः प्रज्ञप्तम् । सङ्घे चैव पूजा सामान्येन गुणनिधौ ॥ ६ ॥ एषा च महादानं एषा चैव भवति भावयज्ञ इति । एष गृहस्थसारः एषापि च सम्पदामूलम् ॥ ७ ॥ अस्याः फलं एतत् परमं निर्वाणमेव नियमेन । सुरनरसुखानि आनुषङ्गिकाणि इह कृषिपलालमिव ॥ ८ ॥ कृतमर्थप्रसङ्गेण उत्तरकालोदितं इदानीमपि । अनुरूपं कर्तव्यं तीर्थोन्नतिकारकं नियमात् ॥ ९ ॥ जनितो जनोपकारः विशेषतः नवरं स्वजनवर्गे । साधर्मिकवर्गे च एतत् खलु परमवात्सल्यम् ॥ १० ॥

१ कारणं इति ग. पाठः । २ अष्टाहिका च महिमा सम्यग् अनुबन्धसाधिका केचित् । अथवा त्रीन् च दिवसान् नियोगतश्चैव कर्तव्या ॥ ११ ॥

प्रथमदिने तृतीयदिने वा विशेषपूजां विधाय लोकपालान् सम्पूज्य सुवासिनीमङ्गलपूर्वकं । ॐ ह्रूं क्ष्रूं क्ष्वीं सः इत्यनेन मन्त्रेण प्रतिसरोन्मोचनकं कृत्वा नन्द्यावर्तसंनिधौ गत्वा विसर्जनार्थमर्घं दत्वा भोगाङ्गानि पूर्वोक्तन्यायेन संहृत्य देवे संयोज्य संहारमुद्रया स्वस्थानं गच्छ गच्छ इत्यनेन मन्त्रेण पूजां द्वादशान्तमानीय शिरस्यारोप्य पूरकेण सापेक्षं क्षमस्वेति हृत्कमले विसर्जयेत् ॥ उक्तंच । अट्ठाहियावसाणे पडिससरोमुयणमेव कायव्वं । भूयबलिदीणदाणं एत्थंपि ससत्तिओ कुज्जा ॥ १ ॥ ततो घृतदुग्धदध्यादिभिः स्नानं विधाय अष्टोत्तरशतेन घटकाणां स्नापयेत् । ततो मासं प्रति द्वादश स्नपनानि कृत्वा पूर्णे संवत्सरे अष्टाह्निकापूर्विकां विशेषपूजां विधाय दीर्घायुर्ग्रन्थिं निबन्धयेदित्येवमुत्तरोत्तरं विशेषपूजादिकं निःश्रेयसार्थिना सर्वदैवावहितेन कर्तव्यमिति । इय सत्तिविहवसत्ताणुसारओ वण्णिया पइट्ठाउ । विहवाभावासत्तीए असठभावो इयं कुज्जा ॥ १ ॥ पुहइमयं पिहु अङ्गुट्ठमेत्तयं तणकुडाए विसुओ य । सुइभूओ जिणबिंबं ठविज्ज इमिणा विहाणेण ॥ २ ॥ संसारविरागमणो गरहानिंदाजुगुच्छियप्पाणो । काऊण भावमंगल पंचनमुक्काररूवं तु ॥ ३ ॥

१ पुं अन्यत्रपुस्तके । २ अष्टाह्निकावसाने प्रतिसरोन्मोचनमेव कर्तव्यं भूतबलिदीनदानं अत्रापि स्वशक्तितः कुर्यात् ॥ ३ देवदाणमित्यन्यत्रपुस्तके ।
४ इति शक्तिविभवसत्त्वानुसारतो वर्णिता प्रतिष्ठा तु । विभवाभावाशक्त्या अशठभाव इमां कुर्यात् ॥ १ ॥
पृथ्वीमयं पृथु अङ्गुष्ठमात्रकं तृणकुट्यां विश्रुतश्च । शुचिभूतो जिनबिम्बं स्थापयेत् अनेन विधानेन ॥ २ ॥
संसारविरागमना गर्हानिन्दाजुगुप्सितात्मा । कृत्वा भावमङ्गलं पञ्चनमस्काररूपं तु ॥ ३ ॥

कासस्स य कुसुमेहिं पुण्हउ[2] (सुरहि) सुरहिकुसुमविरहंमि । कारिज्ज पइट्ठं परमभत्तिबहुमाणसंजुत्तो ॥ ४ ॥ कलसाईणमभावे विरहे तह सेसमङ्गलाणं च । पञ्चनमुक्कारो च्चिय भावोत्तममंगलं नियमा ॥ ५ ॥ पज्जत्तमिणे णियमा मायालोहेहिं विप्पमुक्कस्स । पञ्चनमोक्कारेणं जं कीरइ मंगलाईयं ॥ ६ ॥ सवत्थ भावमङ्गल–पञ्चनमोक्कारपुविया किरिया । कायवा जिणबिंबाण सबभावेण सुपइट्ठा ॥ ७ ॥ मणिकयसुवन्नरीरीपडिमं पाहाणणिम्मिए भुवणे । जो ठवइ भत्तिजुत्तो तस्स दुहं नैव कइयावि ॥ ८ ॥ इय सामन्नपइट्ठा–विहाणमेयं समासओ भणियं । इण्हिं भणिमो लिप्पाइयाण अचलाण पडिमाणं ॥ ९ ॥ ॥ तत्र पूर्ववत् भूतबलिं दत्वा चैत्यवन्दनादिकं कर्म निवर्तयित्वा शुद्धदर्पणमानीय प्रतिमाभिमुखं स्नानमण्डपपीठिकायां प्रतिमावदादर्शप्रतिबिम्बितां शान्ताकृतिमभिषिच्य शेषं पूर्वविधिना निखिलमपि कर्म कर्तव्यमिति । एवमनेन विधिना

---

१ काशस्य च कुसुमैः पुण्यस्तु सुरभि सुरभिकुसुमविरहे । कारयेत् प्रतिष्ठां परमभक्तिबहुमानसंयुक्तः ॥ ४ ॥
कलशादीनामभावे विरहे तथा शेषमङ्गलानां च । पञ्चनमस्कारश्चैव भावोत्तममङ्गलं नियमात् ॥ ५ ॥
पर्याप्तमस्मिन् नियमात् मायालोभैर्विप्रमुक्तस्य । पञ्चनमस्कारेण यत् करोति मङ्गलादिकम् ॥ ६ ॥
सर्वत्र भावमङ्गलपञ्चनमस्कारपूर्विका क्रिया । कर्तव्या जिनबिम्बानां सर्वभावेण सुप्रतिष्ठा ॥ ७ ॥
मणिकट(काष्ट)सुवर्णरीतिप्रतिमां पाषाणनिर्मिते भुवने । यः स्थापयति भक्तियुक्तस्तस्य दुःखं नैव कदापि ॥ ८ ॥
इति सामान्यप्रतिष्ठाविधानमेतत् समासतो भणितम् । इदानीं भणामो लेपादिकानां अचलानां प्रतिमानाम् ॥ ९ ॥
२ पुण्ह ॐ इति पाठान्तरम् । कचित् पुण्ह ॐ सुरहि सुरहि इति पाठो दृश्यते ।

यथागत् विज्ञागाभ्यस्य चाभिमानादिरहितेनार्येण प्रतिष्ठादिकं कर्तव्यमन्यथाकरणे भवपातः । तथाचोक्तम् । अंगियाणी उणियविहिं जिणबिंबं जो ठवेइ मूढमणो । अहिमाणलोहजुत्तो निवडइ संसारजलहिम्मि ॥ १ ॥ सरस्वत्यादिप्रतिमानां च पूर्ववत् मण्डलादिकं कर्म कृत्वा स्वेन स्वेन मन्त्रेण प्रतिष्ठा कर्तव्येति । तत्र तासां प्रतिष्ठादिमन्त्राः । ॐ क्ष्रूं नमः । ॐ ह्रीं हं ह्रीं नमः । ॐ जये श्रीं हँ सुभद्रेइं स्वाहा ॥ समस्तवैयावृत्यादीनामभिनासनाप्रतिष्ठासौभाग्यमन्त्रः । इदानीं विवरणे ॐ इं ह्रीं श्रीं ह्रीं इं सरस्वति अवतर २ तिष्ठ २ स्वाहा । ॐ ह्रीं माणिभद्रयक्ष अवतर २ तिष्ठ २ स्वाहा । ॐ ह्रीं वं ब्रह्मणे शान्ति अवतर २ तिष्ठ २ स्वाहा । ॐ ह्रीं अं अम्बिके अवतर २ तिष्ठ २ स्वाहा ॥ इति बिम्बप्रतिष्ठा तृतीया ॥ ॥ अथ हृत्प्रतिष्ठाविधिः ॥ तत्र पूर्ववत् मण्डपप्रवेशं विधायोत्तरवेदिकायां यथाविभवतो हेममयं पुरुषं संनिधाय पूर्ववत् संस्नाप्य चन्दनादिना विलिप्य वस्त्रैः संछाद्य निवासमण्डपं समानीय वेदिकायां संस्थाप्य जिनाज्ञया यदयाधितं द्वादशान्तात् समानीय तदनु । ॐ ह्रां आत्मन् त्वया जिनाज्ञया अत्र शरीरे संस्थातव्यमिति रेचकेन विन्यस्य कलाविद्यारागप्रभृतिबुद्धिअहङ्कारमनःश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाकाशवायुतेजोजलपृथ्वीलक्षणं साधिपानधिवासिकं देहं विन्यस्य ॥ तद्यथा ॐ ह्रां कलायै नमः । ॐ ह्रां कलाधिपतये नमः । ॐ कलाधिपास्य

---

१ आणागेण इति पाठान्तरम् । २ ॐ क्षुं ह्रीं क्षूं ह्रीं नमः । ॐ जये श्रीं ह्रीं सुभद्रे इं स्वाहा इत्यन्यत्र ।

* अनिशानी न्यूनविधिं जिनबिम्बं यः स्थापयति मूढमनाः । अभिमानलोभयुक्तो निपतति संसारजलधौ ॥

कर्तृत्वव्यक्तिं कुरु २। ॐ हां विद्यायै नमः। ॐ हां विद्याधिपतये नमः। विद्याधिपास्य ज्ञानाभिव्यक्तिं कुरु २। ॐ हां रागाय नमः। ॐ हां रागाधिपतये नमः। रागाधिपास्य विषयेषु रागं कुरु २। ॐ हां बुद्ध्यै नमः। ॐ हां बुद्ध्यधिपतये नमः। बुद्ध्यधिपास्य बोधं कुरु २। ॐ हां अहङ्काराय नमः। ॐ हां अहङ्काराधिपतये नमः। अहङ्काराधिपास्याभिमानं कुरु २। ॐ हां मनसे नमः। ॐ हां मनोधिपतये चन्द्राय नमः। मनोधिपास्य संकल्पविकल्पं कुरु २। ॐ हां श्रोत्राभ्यां नमः। ॐ हां श्रोत्राधिपतये आदित्याय नमः। श्रोत्राधिपास्य शब्दग्राहकत्वं कुरु २। ॐ हां त्वचे नमः। ॐ हां त्वगधिपतये वायवे नमः। त्वगधिपास्य स्पर्शग्राहकत्वं कुरु २। ॐ हां चक्षुषे नमः। ॐ हां चक्षुरधिपतये रक्ताय नमः। चक्षुरधिपास्य रूपग्राहकत्वं कुरु २। ॐ हां घ्राणाय नमः। ॐ हां घ्राणाधिपतये अश्विभ्यां नमः। घ्राणाधिपास्य गन्धग्राहकत्वं कुरु २। ॐ हां वाचे नमः। ॐ हां वाचाधिपतये अग्नये नमः। वाचाधिपास्य वाचं कुरु २। ॐ हां पाणिभ्यां नमः। ॐ हां पाण्यधिपतये इन्द्राय नमः। पाण्यधिपास्य पदार्थग्राहकत्वं कुरु २। ॐ हां पादाभ्यां नमः। ॐ हां पादाधिपतये विष्णवे नमः। पादाधिपास्य गमनोत्साहं कुरु २। ॐ हां पायवे नमः। ॐ हां पाय्वधिपतये मित्राय नमः। पाय्वधिपास्य वायूत्सर्गं कुरु २। ॐ हां उपस्थाय नमः। ॐ हां उपस्थाधिपतये ब्रह्मणे नमः उपस्थाधिपास्यानन्दं कुरु २। ॐ हां शब्दाय नमः। ॐ हां स्पर्शाय नमः। ॐ हां रूपाय नमः। ॐ हां रसाय नमः। ॐ हां गन्धाय नमः। ॐ हां आकाशाय नमः। ॐ हां वायवे नमः। ॐ हां तेजसे नमः। ॐ हां अद्भ्यो नमः। ॐ हां पृथिव्यै नमः। एवं शेषतत्त्वजातं विन्यस्य

नाडीदशकं पुनरिडा पिङ्गला सुष्मना सावित्री शङ्खिनी कूष्माण्डी यशोवती हस्तिजिह्वा पूषा अलम्बुषाख्यं नाडीदशकं विन्यसेत्। ॐ ह्रां इडायै नमः एवं सर्वा प्राणापानसमानोदानव्याननागकूर्मघृकदेवदत्तधनञ्जयाख्यवायुदशकं विन्यसेत्। तदन्वाचार्यः गन्धपुष्पाक्षतादिभिः सम्पूज्य मुद्राभिरालभ्यार्हदाज्ञया प्रासादअपि यनञ्जगान्ना विन्यसेत्। ततः शुकनासोर्ध्वं गर्भगृहे खदायां हेमायेकस्थितिपर्यन्तं त्वया स्थातव्यमित्यनेन मार्गेण धरान्तं निरोधयेत्। ततः शुकनासोर्ध्वं गर्भगृहे खदायां हेमाद्येकनवं कुम्भं सूर्तिभूतं विन्यस्य मधुघृताभ्यामापूर्य रत्नादिपञ्चकं विन्यस्य चन्दनादिना आलिप्य शुक्ले वाससी परिधाप्य रत्नपुरुषं विन्यसेत्। ततो भगवन्तं संपूज्याचार्याणां यथाशक्त्या पूजां विधाय भगवन्तं क्षामयेत्॥ ॥ इति ध्वजप्रतिष्ठा चतुर्थी॥ ॥ अथ चूलिकादिप्रतिष्ठाविधिः॥ तत्र पूर्ववत् मण्डपवेदिकादिकं विधाय प्रतिष्ठोपयोगिद्रव्यजातमानीय भूतबलिं विधाय चैत्यवन्दनं कुर्यात्। तदनु चोत्तरवेदिकायां चूलकं कलशं ध्वजं धर्मचक्रं द्रव्यजातं चानीय रत्नौषधिकषायाष्टवर्गमृचन्दनसर्वौषध्यादिजलकलशैः संस्थाप्य श्वेते वाससी परिधाप्य अधिवासनामण्डपं प्रदक्षिणीकृत्य पूर्वद्वारेणान्तः प्रविश्य मूलवेदिकायां पर्यङ्के निवेश्य प्रतिमावत् सर्वेषां विधानमन्त्रेण गन्धधूपपुष्पाक्षतादिभिरधिवास्य बलिं निवेदयेत्। तदनु प्रासादं गत्वा कुम्भकजङ्घाशिखरकपालमलसारकेषु ब्रह्मपञ्चकं पृथिव्यादीनि च तत्त्वानि विन्यस्य पुष्पाक्षतादिभिर्मूलमन्त्रेण प्रासादमधिवासयेत्। ततो ध्वजं धर्मनेत्रपट्टांशुकादिनिर्मितं कनकघण्टिकाघर्घरिकोपशोभितं विचित्रपुष्पकटकालङ्कृते धूप-

१ सुषुम्ना इति स्यात्।

भादिचिह्निते दण्डे संयोज्य ईशान्यां मण्डलके कुम्भं विन्यस्य तस्योपरि तलिकायां महाध्वजं प्रासादायतिमानं लग्नसमये कृत्वा देशिकः शिल्पी वाऽन्यतमो वा प्रासादं प्रदक्षिणीकृत्य शुभाशयः प्रासादमधिरोहयेत् । ततश्चारुशक्तिं चूलकाधारे रत्नपञ्चकं विन्यस्य वाममार्गानुगामिना प्राणेन चूलकं कलशं ध्वजं धर्मचक्रं च यथाक्रमं स्थापयेत् । ततश्च लग्नसमये ध्वजाधारे रत्नपञ्चकं निक्षिप्य प्रणवासनं दत्वा वामनाडीप्राणेन सहोर्ध्वीभूतं दण्डं मूलमन्त्रेण निवेशयेत् । ततो मुद्रासहिताभिमन्त्रितकलशेन तत्कालोचितफलैर्धान्यैश्च घटमापूर्य कलशस्याभिषेकं कृत्वा श्वेतवाससी परिधापयेत् । तदनु मङ्गलशङ्खतूर्यादिनिर्घोषैर्महाध्वजं प्रसार्य चतुर्विधश्रीश्रमणसङ्घेन स्वबान्धवयुतेन यजमानेन सह प्रदक्षिणात्रयं विधाय आचार्यो ध्वजाग्रं श्रीमद्देवपादमूले संनिरोध्य शान्तिबलिं प्रक्षिप्य देवं सम्पूज्य क्षमापयेत् । तदनुकारापकाय ध्वजचटापनफलं श्रावयेत् ॥ तद्यथा ॥ देवस्यायतने भक्त्या ध्वजमारोपयन्ति ये । त्रैलोक्यश्रीस्तनोत्सङ्गे स्वं समारोपयन्ति ते ॥ १ ॥ धत्ते ध्वजोऽत्र धन्यानां सुरसद्मशिरःस्थितः । तरङ्गिततनुः साक्षात् स्वर्गनिःश्रेणिरूपताम् ॥२॥ यावन्तः प्राणिनस्तत्र लग्नाः कुर्युः प्रदक्षिणाः । तावन्तः प्राप्नुवन्त्यत्र शिवस्थानकमुत्तमम् ॥ ३ ॥ स च श्रुत्वा कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानो देवगुरुसङ्घपूजां विधाय दीनानाथानां चानुकम्पया स्वविभवानुरूपमन्नदानादिकं दद्यादिति ॥

दण्डं च नूतनं वेणुमयं अव्यङ्गं सत्वचं सरलं शुभदेशजं प्रवर्धमानपर्व सर्वलक्षणसंयुतमाचार्यो गृहीत्वा देव-

१ त्वामिति पाठान्तरम् ।

प्रासादमानेन प्रमाणं परिकल्पयेत् । तत्र हस्तात्प्रभृति नवहस्तपर्यन्तेषु प्रतिमाप्रासादेषु चतुष्करादारभ्य त्रिवृद्ध्या दण्डप्रमाणमवसेयम् । ध्वजं चायामतो जङ्घार्धलम्बिजङ्घान्तं दण्डप्रमाणं च कर्तव्यम् । विस्तरतस्तु दशद्वादशषोडशाङ्गुल इति । मुक्ते हस्तोच्छ्रिते कलशात्कर्ता रोगातङ्कवर्जितः स्यात् । द्विहस्तोच्छ्रिते बहुप्रजो भवति । त्रिहस्तोच्छ्रिते धनधान्यैर्वर्धते । चतुर्हस्तोच्छ्रिते नृपवृद्धिः । पञ्चहस्तोच्छ्रिते सुभिक्षं राष्ट्रवृद्धिश्चेति । तथा प्राच्यां गते कर्ता सर्वकामावाप्तिं आग्नेय्यां तापं याम्यां व्याधिभयं नैर्ऋत्यां रोगातङ्कं वारुण्यां मित्रभावं वायव्यां धान्यसम्पदं उदीच्यां धनलाभं ऐशान्यामायुर्वृद्धिं प्राप्नोतीति ॥ तत्राशुभाशागते केतौ नमस्कारसहस्रं जपित्वा विशेषपूजां विधाय शान्तिं कुर्यात् ॥ इति शङ्कुप्रतिष्ठा पञ्चमी ॥

॥ अथ वेदिकालक्षणम् ॥ तत्र नन्दा सुनन्दा प्रबुद्धा सुप्रभा सुमङ्गला कुमुदमाला विमला पुण्डरीकिण्याख्या अष्टवेदिकाः । तत्रायामविस्ताराभ्यां हस्तप्रमाणा चतुरङ्गुलोच्छ्रया नन्दा । शेषास्तु विष्कम्भायामयोर्यथोत्तरं ह्रासवृद्ध्या पिण्डे चतुरङ्गुलाधिक्येनोत्तरोत्तरप्रवृद्धाः स्युः । तासां च मध्ये पूर्ववच्चतुरस्रं क्षेत्रं संसाध्य नन्दाद्येकतमां विचित्रमणिमयेन रजसा वेदिकां निष्पाद्य तत्कोणेषु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां यथाक्रमं पलाशन्यग्रोधोदुम्बरशमीमयान् कीलकान्निवेशयेत् । यद्वा सर्वेषां वर्णानां वंशमयाः शस्तास्ते सर्वेऽप्येकदारुमया निर्व्रणा ऊर्ध्वशाखाश्रिता राजिकोटरवर्जिता निर्ग्रन्थयो द्वादशाङ्गुलप्रमाणाः कर्तव्याः । ते च काष्ठलोष्ठलोहाश्मभिर्न हन्तव्याः । वेधश्च त्याज्यः ॥ इति वेदिकालक्षणम् ॥

॥ अथ जीर्णोद्धारविधिः ॥

॥ तत्र खण्डितस्फुटितभग्नवलितपतितजीर्णदग्धसगर्भव्रणदूषितन्यूनाधिकवक्रविकरालभीषणदोषदुष्टं मन्त्रासन्निधानात् पिशाचादीनामधिष्ठानभूतं बिम्बमुद्धृत्य बिम्बान्तरं प्रतिष्ठापयेत् । मन्त्राचार्यः[1] प्रातरुत्थाय कृतशौचस्नानविधिर्विहितसकलीकरणः खण्डितस्फुटितभग्नादिकारणैर्[2]बिम्बान्तरं कर्तुकामः शान्त्यर्थं दिक्पालानां बलिं दद्यात् । ततः ॐ इन्द्राय प्रतिगृह्ण स्वाहा । ॐ अग्नये प्रतिगृह्ण स्वाहा । ॐ यमाय प्रतिगृह्ण स्वाहा । ॐ नैर्ऋतये प्रतिगृह्ण स्वाहा । ॐ वरुणाय प्रतिगृह्ण स्वाहा । ॐ वायवे प्रतिगृह्ण स्वाहा । ॐ कुबेराय प्रतिगृह्ण स्वाहा । ॐ ईशानाय प्रतिगृह्ण स्वाहा । ॐ ब्रह्मणे प्रतिगृह्ण स्वाहा । ॐ नागाय प्रतिगृह्ण स्वाहा । इति स्वस्वदिक्षु यथाक्रमं बहिर्बलिं प्रक्षिप्य वायव्यां ॐ क्षं क्षेत्रपालाय स्वाहेति क्षेत्रपालाय बलिं दत्वा । ॐ सर्वभूतेभ्यो वषट् स्वाहेति भूतादीन् संतर्प्य चैत्यादिवन्दनं कृत्वा मण्डलसमीपमागत्य स्वासनं प्रणवेन संपूज्य समुपविश्य भूतशुद्धिं सकलीकरणं विशेषार्घपात्रद्रव्यशुद्धिं कृत्वा आसनपूजाप्रभृत्यावाहनान्तं कर्म कृत्वाऽर्घपाद्याचमनीयानि दत्वा नित्यविधिना साङ्गं भगवन्तं सम्पूज्य । ततः प्राच्यां । ॐ इन्द्राय स्वाहा । ॐ वज्राय स्वाहा । आग्नेय्यां ॐ अग्नये स्वाहा । ॐ शक्तये स्वाहा । याम्यायां ॐ यमाय स्वाहा । ॐ दण्डाय स्वाहा । नैर्ऋत्यां ॐ नैर्ऋतये स्वाहा । ॐ खड्गाय स्वाहा । वारुण्यां ॐ वरुणाय स्वाहा । ॐ पाशाय स्वाहा । वायव्यां ॐ वायवे स्वाहा ।

१ तत्राचार्य इति पाठान्तरम् । २ खण्डितभग्नादि इति पाठः ।

ॐ ध्वजाय स्वाहा । उत्तरस्यां ॐ कुबेराय स्वाहा । ॐ गदायै स्वाहा । ऐशान्यां ॐ ईशानाय स्वाहा । ॐ शूलाय स्वाहा । अधश्च ॐ ब्रह्मणे स्वाहा । ॐ पद्माय स्वाहा । नैर्ऋत्यां ॐ नागाय स्वाहा । ॐ उत्तराय स्वाहा । एवं मायाल्लोकपालान् संपूज्य तदनु भो भोः शक्र त्वया स्वस्यां दिशि विघ्नप्रशान्तये सावधानेन शान्तिकर्मान्तं यावद्भगवदाज्ञया स्थातव्यमित्यनेन क्रमेण सर्वलोकपालान् भगवदाज्ञां श्रावयन्नस्त्रदुर्गमनुस्मरन् मण्डपस्याभ्यन्तरे समन्ताद्घर्घाम्भसां सेचनेन विघ्नोचाटनं विधाय देवसन्निधिं गत्वा सम्पूज्य प्रातिलोम्येन विसर्जनार्थमर्घं दत्वा भगवन्तं बिम्बमिदमशेषदोषावहमस्य चोद्धारे सति शान्तिः स्यादिति भगवतोक्तं । अतोऽस्य समुद्धाराय समुद्यतं मामधितिष्ठैवं कुर्विति लब्धानुज्ञो हेमाद्येकतमं कुम्भमानीय गालिताम्भसा प्रपूर्य चन्दनपुष्पाक्षतैः सम्पूज्य मूलमन्त्रेणाभिमन्त्र्य मुद्राभिरालभ्य देवं स्नपयेत् । तदनु बिम्बसंचालनार्थं साहस्रिकं जपं कृत्वा सुवर्णपुष्पाणामष्टोत्तरशतेन बिम्बस्य पूजां विधाय प्रतिमासमीपमागत्य प्रतिमाङ्गस्थितं सत्वं श्रावयेत् ॥ प्रतिमारूपमास्थाय येनादौ समधिष्ठिता । स शीघ्रं प्रतिमां त्यक्त्वा यातु स्थानं समीहितम् ॥ इति एवमुक्त्वा ॐ विसर २ स्वस्थानं गच्छेत्यनेन मन्त्रेणार्घं दत्वा प्रतिमाधिष्ठायकं देवविशेषं विसर्जयेत् । ततो हैमेन खनित्रेणास्त्राभिमन्त्रितेनोत्थाप्य हेमपाशया रज्ज्वा शिखायां प्रतिमां सश्रद्ध गजादिस्कन्धं संयोज्य लोकैः सह शान्तिर्भवत्विति बहिर्देवं नीत्वा शैलमयं बिम्बमगाधेऽम्भसि शिखरिणि वा क्षिपेत् । तथा मृन्मयं

१ पाशाय इति स्यात् । २ म्भसा इति ख. पाठः । ३ विघ्नोद्धाटनं इति पाठान्तरम् । ४ गजादेः स्कन्धमिति पाठान्तरम् ।

रत्नमयं वाअग्न्यादिदग्धमपि रत्नजं स्वतेजःस्थानवियुक्तं पूर्ववत् प्रतिष्ठापयेत् । सुवर्णादिलोहमयं तदेव समं विधाय तत्रैव स्थापयेत् । अनेनैव विधिना चूलकध्वजप्रासादादिकं वा दोषयुक्तं विसर्जयेत् ॥ प्रासादे चायं विशेषः ॥ प्रासादे मन्त्रानङ्गे समायोज्य बिम्बं संरक्ष्य प्रासादनिष्पत्तिपर्यन्तं षडङ्गं संपूजयेत् । निष्पन्ने च प्रासादे षडङ्गमन्त्रान् संहृत्य समुदायेन यथास्थानं मन्त्रन्यासः कार्य इति जीर्णोद्धारं विधाय प्रायश्चित्तजपं कुर्यात् । तदनु आचार्याणां दक्षिणां दत्वा क्षमस्वेति विसर्जयेत् । एवं जीर्णबिम्बादिकमुद्धृत्य तन्मयं तत्प्रमाणं तदाकारं अन्यत् बिम्बादिकं यथोक्तविधिना प्रतिष्ठापयेत् ॥ इति जीर्णोद्धारविधिः ॥

॥ अथ मुद्राविधिः ॥

तत्र दक्षिणाङ्गुष्ठेन तर्जनीमध्यमे समाक्रम्य पुनर्मध्यमामोक्षणेन नाराचमुद्रा ॥ १ ॥ किञ्चिदाकुञ्चिताङ्गुलीकस्य वामहस्तोपरि शिथिलमुष्टिदक्षिणकरस्थापनेन कुम्भमुद्रा ॥ २ ॥ इति शुद्धिमुद्राद्वयं ॥ बद्धमुष्ट्योः करयोः संलग्नसन्मुखाङ्गुष्ठयोः हृदयमुद्रा ॥१॥ तावेव मुष्टी समीकृतोर्ध्वाङ्गुष्ठौ शिरसि विन्यसेदिति शिरोमुद्रा ॥ २ ॥ पूर्ववत् मुष्टी बध्वा तर्जन्यौ प्रसारयेदिति शिखामुद्रा ॥ ३ ॥ पुनर्मुष्टिबन्धं विधाय कनीयस्यङ्गुष्ठौ प्रसारयेदिति कवचमुद्रा ॥ ४ ॥ कनिष्ठिकामङ्गुष्ठेन संपीड्य शेषाङ्गुलीः प्रसारयेदिति क्षुरप्रमुद्रा ॥ ५ ॥ दक्षिणकरेण मुष्टिं बध्वा तर्जनीमध्यमे प्रसारयेदिति अस्त्रमुद्रा ॥ ६ ॥ एता हृदयादीनां विन्यसनमुद्राः ॥ प्रसारिताधोमुखाभ्यां हस्ताभ्यां पादाङ्गुलीतलामस्तकस्पर्शान्महामुद्रा ॥ १ ॥ अन्योन्यग्रन्थिताङ्गुलीषु कनिष्ठिकानामिकयो-

मध्यमातर्जन्योश्च संयोजनेन गोस्तनाकारा धेनुमुद्रा ॥ २ ॥ हस्ताभ्यामञ्जलिं कृत्वा प्रकाममूलपर्वाङ्गुष्ठसंयोजनेनावाहनीमुद्रा ॥ ३ ॥ इयमेवाधोमुखी स्थापनी ॥ ४ ॥ संलग्नमष्युच्छ्रिताङ्गुष्ठौ करौ संनिधानी ॥ ५ ॥ तावेव गर्भगाङ्गुष्ठौ निष्ठुरा ॥ ६ ॥ एता आवाहनादिमुद्राः ॥ बद्धमुष्टेर्दक्षिणहस्तस्य मध्यमातर्जन्योर्विस्फारितप्रसारणेन गोवृषमुद्रा ॥१॥ बद्धमुष्टेर्दक्षिणहस्तस्य प्रसारिततर्जन्या वामहस्ततलताडनेन त्रासनीमुद्रा ॥२॥ एते नेत्रास्त्रयोः पूजामुद्रे ॥ अङ्गुष्ठे तर्जनीं संयोज्य शेषाङ्गुलीप्रसारणेन पाशमुद्रा ॥१॥ बद्धमुष्टेर्वामहस्तस्य तर्जनीं प्रसार्य किंचिदाकुञ्चयेदित्यङ्कुशमुद्रा ॥ २ ॥ संहतोर्ध्वाङ्गुलिवामहस्तमूले चाङ्गुष्ठं तिर्यग्विधाय तर्जनीचालनेन ध्वजमुद्रा ॥३॥ दक्षिणहस्तमुत्तानं विधायाधःकरशाखां प्रसारयेदिति वरदमुद्रा ॥४॥ एता जयादिदेवतानां पूजामुद्राः ॥ वामहस्तेन मुष्टिं बध्वा कनिष्ठिकां प्रसार्य शेषाङ्गुली कराङ्गुष्ठेन पीडयेदिति शङ्खमुद्रा ॥ १ ॥ परस्पराभिमुखहस्ताभ्यां वेणीबन्धं विधाय मध्यमे प्रसार्य संयोज्य च शेषाङ्गुलीभिर्मुष्टी बन्धयेदिति शक्तिमुद्रा ॥२॥ हस्तद्वयेनाङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां वलके विधाय परस्परान्तःप्रवेशनेन शृङ्खलामुद्रा ॥ ३ ॥ वामहस्तस्योपरि दक्षिणकरं कृत्वा कनिष्ठिकाङ्गुष्ठाभ्यां मणिबन्धं संवेष्ट्य शेषाङ्गुलीनां विस्फारितप्रसारणेन वज्रमुद्रा ॥ ४ ॥ वामहस्ततले दक्षिणहस्तमूलं संनिवेश्य करशाखा विरलीकृत्य प्रसारयेदिति चक्रमुद्रा ॥ ५ ॥ पद्माकारौ करौ कृत्वा मध्येऽङ्गुष्ठौ कर्णिकाकारौ विन्यसेदिति पद्ममुद्रा ॥६॥ वामहस्तमुष्टेरुपरि दक्षिणमुष्टिं कृत्वा गात्रेण सह किञ्चि-

१ संनिधापनी इति स्यात्। २ शुंष्टि इति स. ड. पाठः। ३ शङ्खलमुद्रा इति पाठः।

दुन्नामयेदिति गदामुद्रा ॥ ७ ॥ अधोमुखवामहस्ताङ्गुलीर्घण्टाकाराः प्रसार्य दक्षिणेन मुष्टिं बध्वा तर्जनीमूर्ध्वां कृत्वा वामहस्ततले नियोज्य घण्टावच्चालनेन घण्टामुद्रा ॥ ८ ॥ उन्नतपृष्ठहस्ताभ्यां संपुटं कृत्वा कनिष्ठिके निष्कास्य योजयेदिति कमण्डलुमुद्रा ॥ ९ ॥ पताकावत् हस्तं प्रसार्य अङ्गुष्ठयोजनेन परशुमुद्रा ॥ १० ॥ यद्वा पताकाकारं दक्षिणकरं संहताङ्गुलिं कृत्वा तर्जन्यङ्गुष्ठाक्रमणेन परशुमुद्रा द्वितीया ॥ ११ ॥ ऊर्ध्वदण्डौ करौ कृत्वा पद्मवत् करशाखाः प्रसारयेदिति वृक्षमुद्रा ॥ १२॥ दक्षिणहस्तं संहताङ्गुलिमुन्नमय्य सर्पफणावत् किञ्चिदाकुञ्चयेदिति सर्पमुद्रा ॥ १३ ॥ दक्षिणकरेण मुष्टिं बद्ध्वा तर्जनीमध्यमे प्रसारयेदिति खड्गमुद्रा ॥ १४ ॥ हस्ताभ्यां संपुटं विधायाङ्गुलीः पद्मवद्विकास्य मध्यमे परस्परं संयोज्य तन्मूललग्नाङ्गुष्ठौ कारयेदिति ज्वलनमुद्रा ॥१५॥ बद्धमुष्टेर्दक्षिणकरस्य मध्यमाङ्गुष्ठतर्जन्योस्तलान्मूलाक्रमेण प्रसारयेदिति श्रीमणिमुद्रा ॥ १६ ॥ एताः षोडशविद्यादेवीनां मुद्राः ॥ ॥ दक्षिणहस्तेन मुष्टिं बद्ध्वा तर्जनीं प्रसारयेदिति दण्डमुद्रा ॥ १ ॥ परस्परोन्मुखौ मणिबन्धाभिमुखकरशाखौ करौ कृत्वा ततो दक्षिणाङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां वाममध्यमानामिके तर्जनीं च तथा वामाङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यामितरस्य मध्यमानामिके तर्जनीं समाक्रमयेदिति पाशमुद्रा ॥२॥ परस्पराभिमुखमूर्ध्वाङ्गुल्यौ करौ कृत्वा तर्जनीमध्यमानामिका विरलीकृत्य परस्परं संयोज्य कनिष्ठिकाङ्गुष्ठौ पातयेदिति शूलमुद्रा ॥३॥ यद्वा पताकाकारं करं कृत्वा कनिष्ठिकामङ्गुष्ठेनाक्रम्य शेषाङ्गुलीः प्रसारयेदिति शूलमुद्रा द्वितीया ॥ ४ ॥ एताः

१ दक्षिणमुष्टिं इति पाठः ।

पूर्वोक्ताभिः सह दिक्पालानां मुद्राः ॥ ॥ ग्रासस्योपरि हस्तं प्रसार्य कनिष्ठिकादितर्जन्यन्तानामङ्गुलीनां क्रमसङ्कोचनेनाङ्गुष्ठमूलानयनात् संहारमुद्रा विसर्जनमुद्रेयम् ॥ उत्तानहस्तद्वयेन वेणीबन्धं विधायाङ्गुष्ठाभ्यां कनिष्ठिके तर्जनीभ्यां च मध्यमे संगृह्यानामिके समीकुर्यादिति परमेष्ठिमुद्रा ॥१॥ यद्वा वामकराङ्गुलीरूर्ध्वीकृत्य मध्यमां मध्यमे कुर्यादिति द्वितीया ॥ २ ॥ पराङ्मुखहस्ताभ्यां वेणीबन्धं विधायाभिमुखीकृत्य तर्जन्यौ संश्लेष्य शेषाङ्गुलिमध्ये अङ्गुष्ठद्वयं विन्यसेदिति पार्श्वमुद्रा ॥३॥ एता देवदर्शनमुद्राः ॥ ॥ इदानीं प्रतिष्ठोपयोगिमुद्राः । उत्तानौ किञ्चिदाकुञ्चितकरशाखौ पाणी विधारयेदिति अञ्जलिमुद्रा ॥ १ ॥ अभयाकारौ समश्रेणिस्थिताङ्गुलीकौ करौ विधायाङ्गुष्ठयोः परस्परग्रथनेन कपाटमुद्रा ॥ २ ॥ चतुरङ्गुलमग्रतः पादयोरन्तरं किञ्चिन्न्यूनं च पृष्ठतः कृत्वा समपादकायोत्सर्गेण जिनमुद्रा ॥३॥ परस्पराभिमुखौ ग्रथिताङ्गुलीकौ करौ कृत्वा तर्जनीभ्यामनामिके गृहीत्वा मध्यमे प्रसार्य तन्मध्येऽङ्गुष्ठद्वयं निक्षिपेदिति सौभाग्यमुद्रा ॥ ४ ॥ वामहस्ताङ्गुलितर्जन्या कनिष्ठिकामाक्रम्य तर्जन्यग्रं मध्यमया कनिष्ठिकाग्रं पुनरनामिकया आकुञ्च्य मध्येऽङ्गुष्ठं निक्षिपेदिति योनिमुद्रा ॥ ५ ॥ आत्मनोऽभिमुखदक्षिणहस्तकनिष्ठिकया वामकनिष्ठिकां संगृह्याधःपरावर्तितहस्ताभ्यां गरुडमुद्रा ॥ ६ ॥ संलग्नौ दक्षिणाङ्गुष्ठाक्रान्तवामाङ्गुष्ठपाणीति नमस्कृतिमुद्रा ॥ ७ ॥ किञ्चित् गर्भितौ हस्तौ समौ विधाय ललाटदेशयोजनेन मुक्ताशुक्तिमुद्रा ॥ ८ ॥ जानुहस्तोत्तमाङ्गादिसंप्रणिपातेन प्रणिपातमुद्रा ॥ ९ ॥ संमुखहस्ताभ्यां वेणीबन्धं विधाय मध्यमाङ्गुष्ठकनिष्ठिकानां परस्परयोजनेन त्रिशिखमुद्रा ॥ १० ॥ पराङ्मुखहस्ताभ्यामङ्गुलीर्वि-

दर्भ्यं मुष्टिं बध्वा तर्जन्यौ समीकृत्य प्रसारयेदिति भृङ्गारमुद्रा ॥ ११ ॥ वामहस्तमणिबन्धोपरि पराङ्मुखं दक्षिणकरं कृत्वा करशाखा विदर्भ्य किञ्चिद्वामवलनेनाधोमुखाङ्गुष्ठाभ्यां मुष्टिं बध्वा समुत्क्षिपेदिति योगिनीमुद्रा ॥ १२॥ ऊर्ध्वशाखं वामपाणिं कृत्वाऽङ्गुष्ठेन कनिष्ठिकामाक्रमयेदिति क्षेत्रपालमुद्रा ॥ १३ ॥ दक्षिणकरेण मुष्टिं बध्वा कनिष्ठिकाङ्गुष्ठौ प्रसार्य डमरुकवच्चालयेदिति डमरुकमुद्रा ॥ १४ ॥ दक्षिणहस्तेनोर्ध्वाङ्गुलिना पताकाकारेणाभयमुद्रा ॥ १५ ॥ तेनैवाधोमुखेन वरदा ॥ १६ ॥ वामहस्तस्य मध्यमाङ्गुष्ठयोजनेन अक्षसूत्रमुद्रा ॥ १७ ॥ बद्धमुष्टेर्दक्षिणहस्तस्य प्रसारिततर्जन्या वामहस्ततलताडनेन त्रासनी ॥१८॥ पद्ममुद्रेव प्रसारिताङ्गुष्ठसंलग्नमध्यमाङ्गुल्यग्रा बिम्बमुद्रा[1] ॥ १९ ॥ एताः सामान्यमुद्राः ॥ इति मुद्राविधिः ॥

॥ अथ प्रायश्चित्तविधिः ॥

तत्र श्रेष्ठबिम्बे नष्टे दग्धे तस्करादिहृते मूलमन्त्रस्य लक्षं जपित्वा बिम्बान्तरप्रतिष्ठापनेन शुद्ध्यति । हस्तात्पतिते व्यङ्गे दशसहस्रं जपित्वा पुनः पूजां कुर्यात् । द्विहस्तात्पतिते व्यङ्गे लक्षमेकं जपित्वा पुनः संस्कारेण शुद्ध्यति । पुरुषमात्रात्पतिते प्रयत्नपूर्वं सशलाके सर्वतो विशीर्णे प्रायश्चित्तं नास्तीति । अस्यायमर्थः—शलाकाभेदघातस्यातिगुरुत्वान्न प्रतिमादिना भवितव्यम् । स्थण्डिलेऽर्घ्यावाहनादिषु[2] समासे पूजाकर्मण्यविसर्जित एव देवेशे[3] प्रमादादुपघाते जाते अर्चापुष्पादिभ्यो मन्त्रान् संहृत्य सहस्रपञ्चकं जपित्वा साधून् भोजयेत् । देवो-

१ विश्वमुद्रा इत्यन्यत्र । २ अथावाहनादिषु इति ख. ग. पाठः । ३ दैवेन इति ग. पाठः ।

पकरणं पाठेन शुद्धा शतपञ्चकं जपेत्। सन्ध्यालोपे नीरुजः सोपवासं शतं जपेत्। सरुजः शतं जपेदेव। एकाहं देवस्यानर्चने त्रिरात्रमुपोषितः प्रत्यहं त्रिशतं जपेत्। निर्माल्यभक्षणे त्वकामान्नमस्कारायुतं (दशसहस्रं) जपेत्। ततो विशेषपूजया तपस्विदानेन शुद्ध्यति। कामतो लक्षं नमस्कारस्यावर्त्योपवासपञ्चकं कुर्यात्। निर्माल्यभेदाः कथ्यन्ते॥ देवस्वं देवद्रव्यं नैवेद्यं निवेदितं निर्माल्यं वेति। देवसम्बन्धिग्रामादि देवस्वं। अलंकारादि देवद्रव्यम्। देवार्थमुपकल्पितं नैवेद्यम्। तदेवोत्सृष्टं निवेदितं। बहिर्निक्षिप्तं निर्माल्यम्। पञ्चविधमपि निर्माल्यं न जिघ्रेन्नावलङ्घयेत् न च दद्यान्न विक्रीणीत। दत्वा क्रव्यादो भवति भुक्त्वा मातङ्गो लङ्घने सिद्धिहानिः आघ्राणे वृक्षः स्पर्शने स्त्रीत्वं विक्रये शबरः। पूजायां दीपालोकनधूपान्नादिगन्धे न दोषः। नदीप्रवाहनिर्माल्येऽपि च। सूतकशावाशौचयोः परकीययोर्न भोक्तव्यम्। भुक्त्वा वा अकामतः समुपोष्य मन्त्रसहस्रं जपेत्। कामतस्तूपवासत्रयं कृत्वा मूलमन्त्रं सहस्रत्रयमावर्तयेत्। आत्मसम्बन्धिनोः सूतकशावाशौचयोः सूतकिजनसंस्पर्शं विहाय पृथक्पाकेन भोक्तव्यमन्यथा नित्यहानिर्भवति। अथ सूतके शावाशौचे च सुधर्मस्थेन क्रियानुष्ठानपरेण ज्ञानवता वृत्तावता च न नित्यक्षतिः कार्या। यदि च नित्यानुष्ठानं न भवति प्रमादात् सूतकिसंसृष्टासाधारणपाकभोजनं वा तदा स उपोष्य सहस्रं जपेत्। कामतस्त्रिगुणं तदेव। आह्निकदेवतार्चनादिलोपे मूलमन्त्रस्यायुतं जपेत्। समुपोष्य शतं वा जपेत्॥ इति प्रायश्चित्तविधिः॥

॥ अथार्हदादीनां वर्णादिक्रमविधिः ॥

तत्राद्यं कनकावदातवृषलाञ्छनमुत्तराषाढाजातं धनूराशिं चेति । तथा तत्तीर्थोत्पन्नगोमुखयक्षं हेमवर्णगजवाहनं चतुर्भुजं वरदाक्षसूत्रयुतदक्षिणपाणिं मातुलिङ्गपाशान्वितवामपाणिं चेति । तथा तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नामप्रतिचक्राभिधानां यक्षिणीं हेमवर्णां गरुडवाहनामष्टभुजां वरदबाणचक्रपाशयुक्तदक्षिणकरां धनुर्वज्रचक्राङ्कुशवामहस्तां चेति ॥ १ ॥ ॥ द्वितीयमजितस्वामिनं हेमाभं गजलाञ्छनं रोहिणीजातं वृषराशिं चेति । तथा तत्तीर्थोत्पन्नं महायक्षाभिधानं यक्षेश्वरं चतुर्मुखं श्यामवर्णं मातङ्गवाहनमष्टपाणिं वरदमुद्गराक्षसूत्रपाशान्वितदक्षिणपाणिं बीजपूरकाभयाङ्कुशशक्तियुक्तवामपाणिपल्लवं चेति । तथा तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नामजिताभिधानां यक्षिणीं गौरवर्णां लोहासनाधिरूढां चतुर्भुजां वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरां बीजपूरकाङ्कुशयुक्तवामकरां चेति॥२॥ ॥ तथा तृतीयं सम्भवनाथं हेमाभं अश्वलाञ्छनं मृगशिरजातं मिथुनराशिं चेति । तस्मिंस्तीर्थे समुत्पन्नं त्रिमुखयक्षेश्वरं त्रिमुखं त्रिनेत्रं श्यामवर्णं मयूरवाहनं षड्भुजं नकुलगदाभययुक्तदक्षिणपाणिं मातुलिङ्गनागाक्षसूत्रान्वितवामहस्तं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां दुरितारिदेवीं गौरवर्णां मेषवाहनां चतुर्भुजां वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरां फलाभयान्वितवामकरां चेति ॥३॥ ॥ तथा चतुर्थमभिनन्दनजिनं कनकद्युतिं कपिलाञ्छनं श्रवणोत्पन्नं मकरराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नमीश्वरयक्षं श्यामवर्णं गजवाहनं चतुर्भुजं मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुतदक्षिणपाणिं नकुलाङ्कुशान्वितवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां कालिकादेवीं श्यामवर्णां

पद्मासनां चतुर्भुजां वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणभुजां नागाङ्कुशान्वितवामकरां चेति ॥ ४ ॥ ॥ तथा पञ्चमं सुमति-
जिनं हेमवर्णं क्रौञ्चलाञ्छनं मघोत्पन्नं सिंहराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं तुम्बरुयक्षं गरुडवाहनं चतुर्भुजं वरदश-
क्तियुतदक्षिणपाणिं नागपाशयुक्तवामहस्तं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां महाकालीं देवीं सुवर्णवर्णां पद्म-
वाहनां चतुर्भुजां वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरां मातुलिङ्गाङ्कुशयुक्तवामभुजां चेति ॥ ५ ॥ ॥ तथा षष्ठं पद्मप्रभं
रक्तवर्णं कमललाञ्छनं चित्रानक्षत्रजातं कन्याराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं कुसुमं यक्षं नीलवर्णं कुरङ्गवाहनं चतु-
र्भुजं फलाभययुक्तदक्षिणपाणिं नकुलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नामच्युतां देवीं
श्यामवर्णां नरवाहनां चतुर्भुजां वरदवीणान्वितदक्षिणकरां कार्मुकाभययुतवामहस्तां चेति ॥ ६ ॥ ॥ तथा
सप्तमं सुपार्श्वं हेमवर्णं स्वस्तिकलाञ्छनं विशाखोत्पन्नं तुलाराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं मातङ्गयक्षं नीलवर्णं गज-
वाहनं चतुर्भुजं बिल्वपाशयुक्तदक्षिणपाणिं नकुलकाङ्कुशान्वितवामपाणिं चेति। तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां शान्ता-
देवीं सुवर्णवर्णां गजवाहनां चतुर्भुजां वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरां शूलाभययुतवामहस्तां चेति ॥७॥ ॥ तथा-
ष्टमं चन्द्रप्रभजिनं धवलवर्णं चन्द्रलाञ्छनं अनुराधोत्पन्नं वृश्चिकराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं विजययक्षं हरित-
वर्णं त्रिनेत्रं हंसवाहनं द्विभुजं दक्षिणहस्ते चक्रं वामे मुद्गरमिति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां भृकुटिदेवीं पीत-
वर्णां वराह(बिडाल)वाहनां चतुर्भुजां खड्गमुद्गरान्वितदक्षिणभुजां फलकपरशुयुतवामहस्तां चेति ॥ ८ ॥

१ याग इति पाठान्तरम् । २ विराल इति पाठान्तरम् ।

॥ तथा नवमं सुविधिजिनं धवलवर्णं मकरलाञ्छनं मूलनक्षत्रजातं धनूराशिं चेति। तत्तीर्थोत्पन्नमजितयक्षं श्वेतवर्णं कूर्मवाहनं चतुर्भुजं मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिं नकुलकुन्तान्वितवामपाणिं चेति। तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां सुतारादेवीं गौरवर्णां वृषवाहनां चतुर्भुजां वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणभुजां कलशाङ्कुशान्वितवामपाणिं चेति ॥९॥

॥ तथा दशमं शीतलनाथं हेमाभं श्रीवत्सलाञ्छनं पूर्वाषाढोत्पन्नं धनूराशिं चेति। तस्मिंस्तीर्थे समुत्पन्नं ब्रह्मयक्षं चतुर्मुखं त्रिनेत्रं धवलवर्णं पद्मासनमष्टभुजं मातुलिङ्गमुद्गरपाशाभययुक्तदक्षिपाणिं नकुलकगदाङ्कुशाक्षसूत्रान्वितवामपाणिं चेति। तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां अशोकां देवीं मुद्गवर्णां पद्मवाहनां चतुर्भुजां वरदपाशयुक्तदक्षिणकरां फलाङ्कुशयुक्तवामकरां चेति ॥१०॥

॥ तथैकादशं श्रेयांसं हेमवर्णं गण्डकलाञ्छनं श्रवणोत्पन्नं मकरराशिं चेति। तत्तीर्थोत्पन्नमीश्वरयक्षं धवलवर्णं त्रिनेत्रं वृषभवाहनं चतुर्भुजं मातुलिङ्गगदान्वितदक्षिणपाणिं नकुलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिं चेति। तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां मानवीं देवीं गौरवर्णां सिंहवाहनां चतुर्भुजां वरदमुद्गरान्वितदक्षिणपाणिं कलशाङ्कुशयुक्तवामकरां चेति ॥ ११ ॥

॥ तथा द्वादशं वासुपूज्यं रक्तवर्णं महिषलाञ्छनं शतभिषजि जातं कुम्भराशिं चेति। तत्तीर्थोत्पन्नं कुमारयक्षं श्वेतवर्णं हंसवाहनं चतुर्भुजं मातुलिङ्गबाणान्वितदक्षिणपाणिं नकुलकधनुर्युक्तवामपाणिं चेति। तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां प्रचण्डादेवीं श्यामवर्णां अश्वारूढां चतुर्भुजां वरदशक्तियुक्तदक्षिणकरां पुष्पगदायुक्तवामपाणिं चेति ॥ १२ ॥

॥ तथा त्रयोदशं विमलनाथं कनकवर्णं वराहलाञ्छनं उत्तरभाद्रपदाजातं मीनराशिं चेति। तत्तीर्थोत्पन्नं षण्मुखं यक्षं श्वेतवर्णं

॥ ३५ ॥

शिखिवाहनं द्वादशभुजं फलचक्रबाणखड्गपाशाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिं नकुलचक्रधनुःफलकाङ्कुशाभययुक्तवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां विदितां देवीं हरितालवर्णां पद्मारूढां चतुर्भुजां बाणपाशयुक्तदक्षिणपाणिं धनुर्नागयुक्तवामपाणिं चेति ॥ १३ ॥ ॥ तथा चतुर्दशं अनन्तं जिनं हेमवर्णं श्येनलाञ्छनं स्वातिनक्षत्रोत्पन्नं तुलाराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं पातालयक्षं त्रिमुखं रक्तवर्णं मकरवाहनं षड्भुजं पद्मखड्गपाशयुक्तदक्षिणपाणिं नकुलफलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां अङ्कुशां देवीं गौरवर्णां पद्मवाहनां चतुर्भुजां खड्गपाशयुक्तदक्षिणकरां चर्मफलकाङ्कुशयुतवामहस्तां चेति ॥ १४ ॥ ॥ तथा पञ्चदशं धर्मं जिनं कनकवर्णं वज्रलाञ्छनं पुष्योत्पन्नं कर्कराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं किंनरयक्षं त्रिमुखं रक्तवर्णं कूर्मवाहनं षड्भुजं बीजपूरकगदाभययुक्तदक्षिणपाणिं नकुलपद्माक्षमालायुक्तवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां कन्दर्पां देवीं गौरवर्णां मत्स्यवाहनां चतुर्भुजां उत्पलाङ्कुशयुक्तदक्षिणकरां पद्माभययुक्तवामहस्तां चेति ॥ १५॥ ॥ तथा षोडशं शान्तिनाथं हेमवर्णं मृगलाञ्छनं भरण्यां जातं मेषराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं गरुडयक्षं वराहवाहनं क्रोडवदनं श्यामवर्णं चतुर्भुजं बीजपूरकपद्मयुक्तदक्षिणपाणिं नकुलकाक्षसूत्रवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां निर्वाणां देवीं गौरवर्णां पद्मासनां चतुर्भुजां पुस्तकोत्पलयुक्तदक्षिणकरां कमण्डलुकमलयुतवामहस्तां चेति ॥ १६ ॥ ॥ तथा सप्तदशं कुन्थुनाथं कनकवर्णं छागलाञ्छनं कृत्तिकाजातं वृषभराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं गन्धर्वयक्षं श्यामवर्णं हंसवाहनं चतुर्भुजं वरदपाशान्वितदक्षिणभुजं मातुलिङ्गाङ्कुशाधिष्ठितवा-

मभुजं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां बलां देवीं गौरवर्णां मयूरवाहनां चतुर्भुजां बीजपूरकशूलान्वितदक्षिणभुजां भुषुण्ढिपद्मान्वितवामभुजां चेति ॥ १७ ॥ ॥ तथा अष्टादशमं अरनाथं हेमाभं नन्दावर्त[1]लाञ्छनं रेवतीनक्षत्रजातं मीनराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं यक्षेन्द्रयक्षं षण्मुखं त्रिनेत्रं श्यामवर्णं शम्बरवाहनं द्वादशभुजं मातुलिङ्गबाणखड्गमुद्गरपाशाभययुक्तदक्षिणपाणिं नकुलधनुश्चर्मफलकशूलाङ्कुशाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां धारणीं देवीं कृष्णवर्णां चतुर्भुजां पद्मासनां मातुलिङ्गोत्पलान्वितदक्षिणभुजां पाशाक्षसूत्रान्वितवामकरां चेति ॥ १८ ॥ ॥ तथैकोनविंशतितमं मल्लिनाथं प्रियङ्गुवर्णं कलशलाञ्छनं अश्विनीनक्षत्रजातं मेषराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं कुवेरयक्षं चतुर्मुखमिन्द्रायुधवर्णं गरुडवदनं गजवाहनं अष्टभुजं वरदपाश[3]चापशूलाभययुक्तदक्षिणपाणिं बीजपूरकशक्तिमुद्गराक्षसूत्रयुक्तवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां वैरोट्यां देवीं कृष्णवर्णां पद्मासनां चतुर्भुजां वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरां मातुलिङ्गशक्तियुक्तवामहस्तां चेति ॥ १९ ॥ ॥ तथा विंशतितमं मुनिसुव्रतं कृष्णवर्णं कूर्मलाञ्छनं श्रवणजातं मकरराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं वरुणयक्षं चतुर्मुखं त्रिनेत्रं धवलवर्णं वृषभवाहनं जटामुकुटमण्डितं अष्टभुजं मातुलिङ्गगदाबाणशक्तियुतदक्षिणपाणिं नकुलकपद्मधनुःपरशुयुतवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां वरदत्तां देवीं गौरवर्णां भद्रासनारूढां चतुर्भुजां वरदाक्षसूत्रयुतदक्षिणकरां बीजपूरक[4]कुम्भयुतवामहस्तां चेति ॥ २० ॥

१ नन्द्यावर्त इति पाठः । २ शङ्ख इति पाठान्तरम् । ३ वरदपरशु इति पाठः । ४ मातुलिङ्गशूल इति पाठः ।

॥ एकविंशतितमं नमिजिनं कनकवर्णं नीलोत्पललाञ्छनं अश्विनीजातं मेषराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं भृकुटियक्षं चतुर्मुखं त्रिनेत्रं हेमवर्णं वृषभवाहनं अष्टभुजं मातुलिङ्गशक्तिमुद्गराभययुक्तदक्षिणपाणिं नकुलपरशुवज्राक्षसूत्रवामपाणिं चेति । नमेर्गान्धारीदेवीं श्वेतां हंसवाहनां चतुर्भुजां वरदखड्गयुक्तदक्षिणभुजद्वयां बीजपूरकुम्भयुतवामपाणिद्वयां चेति ॥ २१ ॥ ॥ तथा द्वाविंशतितमं नेमिनाथं कृष्णवर्णं शङ्खलाञ्छनं चित्राजातं कन्याराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं गोमेधयक्षं त्रिमुखं श्यामवर्णं पुरुषवाहनं षड्भुजं मातुलिङ्गपरशुचक्रान्वितदक्षिणपाणिं नकुलकशूलशक्तियुतवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां कूष्माण्डीं देवीं कनकवर्णां सिंहवाहनां चतुर्भुजां मातुलिङ्गपाशयुक्तदक्षिणकरां पुत्राङ्कुशान्वितवामकरां चेति ॥ २२ ॥ ॥ तथा त्रयोविंशतितमं पार्श्वनाथं प्रियङ्गुवर्णं फणिलाञ्छनं विशाखाजातं तुलाराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं पार्श्वयक्षं गजमुखमुरगफणामण्डितशिरसं श्यामवर्णं कूर्मवाहनं चतुर्भुजं बीजपूरकोरगयुतदक्षिणपाणिं नकुलकाहियुतवामपाणिं चेति । तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां पद्मावतीं देवीं कनकवर्णां कुर्कुटवाहनां चतुर्भुजां पद्मपाशान्वितदक्षिणकरां फलाङ्कुशाधिष्ठितवामकरां चेति ॥ २३ ॥ ॥ तथा चतुर्विंशतितमं वर्धमानस्वामिनं कनकप्रभं सिंहलाञ्छनं उत्तराफाल्गुन्यां जातं कन्याराशिं चेति । तत्तीर्थोत्पन्नं मातङ्गयक्षं श्यामवर्णं गजवाहनं द्विभुजं दक्षिणे नकुलं वामे बीजपूरकमिति । तत्तीर्थोत्पन्नां सिद्धायिकां हरितवर्णां सिंहवाहनां चतुर्भुजां पुस्तकाभययुक्तदक्षिणकरां

१ कुक्कुट इति पाठान्तरम् ।

मातुलिङ्गबाणान्वितवामहस्तां चेति ॥ २४ ॥ तथा श्रुतदेवतां शुक्लवर्णां हंसवाहनां चतुर्भुजां वरदकमलान्वितदक्षिणकरां पुस्तकाक्षमालान्वितवामकरां चेति । तथा शान्तिदेवतां धवलवर्णां कमलासनां चतुर्भुजां वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरां कुण्डिकाकमण्डलवन्वितवामकरां चेति ॥ इति अर्हदादीनां वर्णादिक्रमकथनम् ॥

॥ अथ विद्यादेवीनां षोडशकम् ॥

तत्राद्यां रोहिणीं धवलवर्णां सुरभिवाहनां चतुर्भुजामक्षसूत्रबाणान्वितदक्षिणपाणिं शङ्खधनुर्युक्तवामपाणिं चेति ॥ १ ॥ तथा प्रज्ञप्तिं श्वेतवर्णां मयूरवाहनां चतुर्भुजां वरदशक्तियुक्तदक्षिणकरां मातुलिङ्गशक्तियुक्तवामहस्तां चेति ॥ २ ॥ तथा वज्रशृङ्खलां शङ्खावदातां पद्मवाहनां चतुर्भुजां वरदशृङ्खलान्वितदक्षिणकरां पद्मशृङ्खलाधिष्ठितवामकरां चेति ॥ ३ ॥ तथा वज्राङ्कुशां कनकवर्णां गजवाहनां चतुर्भुजां वरदवज्रयुतदक्षिणकरां मातुलिङ्गाङ्कुशयुक्तवामहस्तां चेति ॥ ४ ॥ तथा अप्रतिचक्रां तडिद्वर्णां गरुडवाहनां चतुर्भुजां चक्रचतुष्टयभूषितकरां चेति ॥ ५ ॥ तथा पुरुषदत्तां कनकावदातां महिषीवाहनां चतुर्भुजां वरदासियुक्तदक्षिणकरां मातुलिङ्गखेटकयुतवामहस्तां चेति ॥ ६ ॥ तथा कालीं देवीं कृष्णवर्णां पद्मासनां चतुर्भुजां अक्षसूत्रगदालङ्कृतदक्षिणकरां वज्राभययुतवामहस्तां चेति ॥ ७ ॥ तथा महाकालीं देवीं तमालवर्णां पुरुषवाहनां चतुर्भुजां अक्षसूत्रवज्रान्वितदक्षिणकरामभयघण्टालङ्कृतवामभुजां चेति ॥८॥ तथा गौरींदेवीं कनकगौरीं गोधावाहनां चतुर्भुजां वरदमुसलयुतदक्षिणकरामक्षमालाकुवलयालङ्कृतवामहस्तां चेति ॥ ९ ॥ तथा गान्धारींदेवीं नीलवर्णां कम-

विद्यादेवीनां षोडशकम्

॥ ३७ ॥

लासनां चतुर्भुजां वरदमुसलयुतदक्षिणकरां अभयकुलिशयुतवामहस्तां चेति ॥ १० ॥ सर्वास्त्रमहाज्वालां धवलवर्णां वराहवाहनां असंख्यप्रहरणयुतहस्तां चेति ॥ ११ ॥ तथा मानवीं श्यामवर्णां कमलासनां चतुर्भुजां वरदपाशालङ्कृतदक्षिणकरां अक्षसूत्रविटपालङ्कृतवामहस्तां चेति ॥ १२ ॥ तथा वैरोट्यां श्यामवर्णां अजगरवाहनां चतुर्भुजां खड्गोरगालङ्कृतदक्षिणकरां खेटकाहियुतवामकरां चेति ॥ १३ ॥ तथा अच्छुप्तां तडिद्वर्णां तुरगवाहनां चतुर्भुजां खड्गबाणयुतदक्षिणकरां खेटकाहियुतवामकरां चेति ॥ १४ ॥ तथा मानसीं धवलवर्णां हंसवाहनां चतुर्भुजां वरदवज्रालङ्कृतदक्षिणकरां अक्षवलयाशनियुक्तवामकरां चेति ॥ १५ ॥ तथा महामानसीं धवलवर्णां सिंहवाहनां चतुर्भुजां वरदासियुक्तदक्षिणकरां कुण्डिकाफलकयुतवामहस्तां चेति ॥ १६ ॥ इति विद्यादेवीषोडशकम् ॥

॥ अथ लोकपालाः ॥

तत्र शक्रं पीतवर्णं ऐरावतवाहनं वज्रपाणिं चेति ॥ १ ॥ तथा अग्निं अग्निवर्णं मेषवाहनं ससशिखं शक्तिपाणिं चेति ॥ २ ॥ तथा यमराजं कृष्णवर्णं महिषवाहनं दण्डपाणिं चेति ॥ ३ ॥ तथा नैर्ऋतिं हरितवर्णं शववाहनं खड्गपाणिं चेति ॥ ४ ॥ तथा वरुणं धवलवर्णं मकरवाहनं पाशपाणिं चेति ॥ ५ ॥ तथा वायुं सितवर्णं मृगवाहनं वज्रा(ध्वजा)लङ्कृतपाणिं चेति ॥ ६ ॥ तथा कुबेरमनेकवर्णं निधिनवकाधिरूढं निचुलकहस्तं तुन्दिलं गदापाणिं चेति ॥ ७ ॥ तथेशानं धवलवर्णं वृषभवाहनं त्रिनेत्रं शूलपाणिं चेति ॥ ८ ॥ तथा नागं

श्यामवर्णं पद्मवाहनमुरगपाणिं चेति ॥ ९ ॥ तथा ब्रह्माणं धवलवर्णं हंसवाहनं कमण्डलुपाणिं चेति ॥ १० ॥
इति दिक्पालदशकम् ॥

॥ अथ ग्रहाः ॥

तत्रादित्यं हिङ्गुलवर्णमूर्ध्वस्थितं द्विभुजं कमलपाणिं चेति ॥ १ ॥ तथा सोमं श्वेतवर्णं द्विभुजं दक्षिणे अक्षसूत्रं वामे कुण्डिकां चेति ॥ २ ॥ तथाङ्गारकं रक्तवर्णं द्विभुजं दक्षिणेऽक्षसूत्रं वामे कुण्डिकां चेति ॥ ३ ॥ तथा बुधं पीतवर्णं द्विभुजं अक्षसूत्रकुण्डिकापाणिं चेति ॥ ४ ॥ तथा सुरगुरुं पीतवर्णं द्विभुजं अक्षसूत्रकुण्डिकापाणिं चेति ॥ ५ ॥ तथा शुक्रं श्वेतवर्णं द्विभुजं अक्षसूत्रकमण्डलुपाणिं चेति ॥ ६ ॥ तथा शनैश्चरमीषत्कृष्णं द्विभुजं लम्बकूर्चं किञ्चित्पीतं द्विभुजमक्षमालाकमण्डलुयुक्तपाणिं चेति ॥ ७ ॥ तथा राहुमतिकृष्णवर्णं अर्धकायरहितं द्विभुजमर्धमुद्रान्वितपाणिं चेति ॥ ८ ॥ तथा केतुं धूम्रवर्णं द्विभुजमक्षसूत्रकुण्डिकान्वितपाणिं चेति ॥९॥ इति ग्रहनवकम् ॥ तथा ब्रह्मशान्तिं पिङ्गवर्णं दंष्ट्राकरालं जटामुकुटमण्डितं पादुकारूढं भद्रासनस्थितमुपवीतालङ्कृतस्कन्धं चतुर्भुजं अक्षसूत्रदण्डकान्वितदक्षिणपाणिं कुण्डिकाछत्रालङ्कृतवामपाणिं चेति ॥ १ ॥ तथा क्षेत्रपालं क्षेत्रानुरूपनामानं श्यामवर्णं बर्बरकेशमावृत्तपिङ्गनयनं विकृतदंष्ट्रं पादुकाधिरूढं नग्नं कामचारिणं षड्भुजं मुद्गरपाशडमरुकान्वितदक्षिणपाणिं श्वानाङ्कुशगेडिकायुक्तवामपाणिं श्रीमद्भगवतो

दक्षिणपार्श्वे ईशानाश्रितं दक्षिणाशामुखमेव प्रतिष्ठाप्यमिति ॥ २ ॥ इति श्रीनिर्वाणकलिकाभिधानायां प्रतिष्ठापद्धतौ श्रीमज्जिनादीनां वर्णादिविधिः ॥

॥ अथ प्रशस्तिः ॥

श्रीविद्याधरवंशभूषणमणिः प्रख्यातनामा भुवि । श्रीमत्सङ्गमसिंह इत्यधिपतिः श्वेताम्बराणामभूत् ॥ शिष्यस्तस्य बभूव मण्डनगणिर्योवाचनाचार्य इत्युच्चैः पूज्यपदं गुणैर्गुणवतामग्रेसरः प्रासवान् ॥ १ ॥ क्षान्तेः क्षेत्रं गुणमणिनिधिस्तस्य पादलिप्तसूरिर्जातः शिष्यो निरुपमयशःपूरिताशावकाशः ॥ विन्यस्तेयं निपुणमनसा तेन सिद्धान्तमस्राण्यालोच्यैषा विधिमविदुषां पद्धतिर्बोधिहेतोः ॥ २ ॥ शुभमस्तु ॥ सं० १८५२ मिति कार्तिकशुक्लपूर्णिमायां लिखितमिदम् ॥

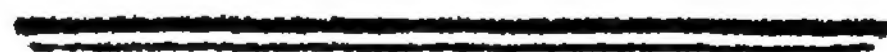


निर्वाणकलिकाशुद्धिपत्रम् ।

पत्रं	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२—१	६	क्ष्वीं क्ष्वीं	इर्वीं क्ष्वीं
२—१	१२	ऊध्वदन्तपङ्क्तौ	ऊर्ध्वदन्तपङ्क्तौ
४—१	९	उ॰ शनैश्चराय	ॐ शनैश्चराय
४—२	६	०रादावमुखेनापि	०रादावन्यमुखेनापि
६—१	९	तत्समं तत्र	तत्समसूत्रं
६—२	१	अङ्गुलानि	त्र्यङ्गुलानि
६—२	६	अघराग्रं	मंथराग्रं
६—२	७	वीथीषु त्रीन्	वीथीसूत्रीन्
७—२	१	नाश्नीयात् ७ मद्यमांसादिकं न भक्षयेत् ८। गुरोराज्ञां न लङ्घयेत् ८ ।	नाश्नीयात् ७ मद्यमांसादिकं न भक्षयेत् ७। गुरोराज्ञां न लङ्घयेत् ८ ।
८—२	१३	०मिमयातुय—	०मिमक्रयातु—
१०—२	७	कचटतपयसहयजै०	०कचटतपसहयजै०
११—१	३	सज्य	सत्य
११—१	१०	विलिपिच्छा	पिलिपिच्छा
११—१	१२	पूर्ववादसरक्षादिकं	पूर्ववत्संरक्षादिकं
१५—१	१४	७ अः पाठान्तरं	७ क्षः पाठान्तरम्

पत्रं	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१५–२	७	आङ्गजलं	आ ४ जलं
१६–२	१२	इच्छायाः ॥ १ ॥	इच्छया ॥ १ ॥
१७–१	४	पूर्वोत्तराई (सु) रोहिंणी	पूर्वोत्तराइ (सु) रोहिणी
१७–१	९	नामरूपापि	नामरूपाणि
१७–२	१४	कुबेरत्रा	कुबेरश्च
१८–२	११	०गन्धार्ये	०गन्धार्यै
२१–२	१२	०वस्तुता	वस्तृता
२२–१	४	द्रमासि	द्रमार्सि
२२–१	७	संघसहिता	संघसहित

पत्रं	पंक्ति.	अशुद्धम्	शुद्धम्
२३–१	८	रत्नगर्भा	रत्नगर्भ
२४–१	६	परिवट्टमाण	परिवड्ढमाण
२४–१	७	नन्दंन्ति	नन्दन्ति
२५–२	१	वटइ	वट्टइ
३२–१	२	संलग्नमस्तु	संलग्नमुस्तु
३२–१	८	शेपाङ्गुला	शेषाङ्गुलीः
३२–२	८	०तर्जन्योस्तलान्मूलाक्रमेण	०तर्जन्यो मूलात्क्रमेण
३६–१	२	पाणि चेति	पाणिं चेति



॥ इति निर्वाणकलिका समाप्ता ॥